श्रीभागवतर्कमरीचिमाला
गौड़ीय वेदान्त प्रकाशन

श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः

कलियुग पावनावतारी भगवान् श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु द्वारा
प्रदर्शित सम्बन्ध-अभिधेय-प्रयोजनात्मक निर्देशिका

श्रीभागवतार्कमरीचिमाला

सच्चिदानन्द श्रील भक्तिविनोद ठाकुर द्वारा

संगृहीत तथा उन्हींके द्वारा रचित 'मरीचिप्रभा' नामक
गौड़ीय भाष्यसे सुसज्जित

श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति एवं तदन्तर्गत भारतव्यापी श्रीगौड़ीय मठोंके
प्रतिष्ठाता, श्रीकृष्णचैतन्याम्नाय दशमाधस्तनवर
श्रीगौड़ीयाचार्य केशरी नित्यलीलाप्रविष्ट
ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशत श्री

श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजके
अनुगृहीत

त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराज

द्वारा हिन्दी भाषामें अनुवादित एवं सम्पादित

गौड़ीय वेदान्त प्रकाशन

प्रकाशक— श्रीभक्तिवेदान्त माधव महाराज

प्रथम संस्करण— ५००० प्रतियाँ
श्रीगौर जयन्ती
श्रीचैतन्याब्द ५२१
२१ मार्च, २००८

मुख्यपृष्ठके चित्रका विवरण—श्रीस्वरूप दामोदर गोस्वामी द्वारा श्रील भक्तिविनोद ठाकुरके हृदयमें प्रेरणा-शक्तिका सञ्चार।

प्राप्तिस्थान

श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ
मथुरा (उ.प्र.)
०५६५-२५०२३३४

श्रीरूप-सनातन गौड़ीय मठ
दानगली, वृन्दावन (उ.प्र.)
०५६५-२४४३२७०

श्रीगिरिधारी गौड़ीय मठ
दसविसा, राधाकुण्ड रोड
गोवर्धन (उ.प्र.)
०५६५-२८१५६६८

श्रीश्रीकेशवजी गौड़ीय मठ
कोलेरडाङ्गा लेन
नवद्वीप, नदीया (प.बं.)
०९३३३२२२७७५

श्रीरमणबिहारी गौड़ीय मठ
बी-३, जनकपुरी, नई दिल्ली
०११-२५५३३५६८

खण्डेलवाल एण्ड संस
अठखम्बा बाजार, वृन्दावन
०५६५-२४४३१०१

प्रपूज्यचरण, ज्येष्ठ सतीर्थ अष्टोत्तरशतश्री
श्रीमद्भक्ति वेदान्त वामन गोस्वामी महाराजके
श्रीकरकमलोंमें

ग्रन्थसमर्पण

प्रपूज्यचरण मदीय ज्येष्ठ गुरुभ्राता!

परमाराध्य, मुकुन्द प्रेष्ठ अस्मदीय गुरुपादपद्म अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामीके प्रिय परिकर! मैं नितान्त अयोग्य हूँ, फिर भी यह दृढ़ विश्वास है कि जो वस्तु आपके करकमलोंमें समर्पित होती है, उसे श्रीगुरुपादपद्म और श्रीहरि अवश्य ही प्रेमसे ग्रहण करते हैं। मैं आशा करता हूँ कि आपके करकमलोंमें समर्पित श्रीलभक्तिविनोद ठाकुर द्वारा संगृहीत श्रीभागवतार्कमरीचिमाला नामक यह भागवतीय मुक्तामाला श्रीकृष्णके गलेकी शोभा वर्धित करेगी—जिसे देखकर श्रील गुरुपादपद्म और श्रील भक्तिविनोद ठाकुर अत्यन्त प्रसन्न होंगे।

श्रीहरि-गुरु-वैष्णवसेवाभिलाषी
श्रीभक्तिवेदान्त नारायण

विषय-सूची

श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गौ-जयतः

भूमिका

श्रीमद्भागवत विश्वमें सर्वत्र ही आदरणीय है। सभी लोग इसे जानते हैं। किन्तु अन्याभिलाषी, कर्मी, ज्ञानी और कपटी भक्त श्रीमद्भागवतका जिस रूपमें दर्शन करते हैं, श्रीमद्भागवत वैसा ग्रन्थ नहीं है। केवलमात्र उच्च कोटिके भक्त-भागवत ही ग्रन्थ-भागवतका आस्वादन कर सकते हैं, दूसरे लोगोंका वैसा सामर्थ्य नहीं है। साधारणतः श्रीमद्भागवत स्कन्ध, अध्याय और श्लोकसे युक्त है, किन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ श्रीभागवतार्कमरीचिमालामें किरण और श्लोक दिये गये हैं। इसमें बीस किरणें हैं। प्रत्येक किरणमें अपूर्व रूपसे एक-एक तत्त्वका वर्णन किया गया है। श्रील भक्तिविनोद ठाकुरने श्रीमद्भागवतके संगृहीत श्लोकोंकी बँगला भाषामें जो व्याख्या की है, उसका नाम 'मरीचिप्रभा' गौड़ीय भाष्य है। गौड़ीय भाष्य लिखनेके समय प्रत्येक किरणमें जिन विषयोंका वर्णन किया गया है, उन विषयोंका अपने जीवनमें आचार-प्रचार एवं आस्वादन करनेवाले भक्तोंके नाम और गुणोंका कीर्त्तन करके श्रील भक्तिविनोद ठाकुरने प्रत्येक अध्यायके आरम्भमें उन्हें प्रणाम किया है।

यह श्रीभागवतार्कमरीचिमाला कलियुग पावनावतारी श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु द्वारा प्रदर्शित सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजनको निर्दिष्ट करती है। सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजनके अनुसार श्रीमद्भागवतके इन श्लोकोंका संकलन और अनुवाद, श्रीचैतन्य महाप्रभुके कृपापात्र परिकरोंके अतिरिक्त और कोई भी नहीं कर सकता। श्रील भक्तिविनोद ठाकुर श्रीचैतन्य महाप्रभुके अन्तरङ्ग पार्षद हैं और इसीलिए उन्होंने इन श्लोकोंका इस प्रकार सुन्दर और आश्चर्य रूपमें गुम्फन किया है तथा इसकी व्याख्या करनेमें भी समर्थ हुए हैं।

श्रीमद्भागवत समस्त वेदोंका सार, ब्रह्मसूत्रका अर्थ, गायत्रीका भाष्य और श्रीकृष्णका शाब्दिक अवतार है। जब तक जीवोंके मङ्गल उदित होनेमें विलम्ब रहता है, तब तक वे श्रीमद्भागवतके सम्बन्धमें नाना प्रकारके सन्देह और तर्क-वितर्क करते हैं। कोई-कोई श्रीमद्भागवतको, सीमित बुद्धिवाले द्विज बोपदेव द्वारा रचित और कोई-कोई इसे आधुनिक ग्रन्थ कहते हैं। उनका कहना है कि बोपदेवने ही व्यासदेवके नामसे इस ग्रन्थकी रचना की है। यह सम्पूर्ण मिथ्या और कपोल कल्पित बात है। इसके सम्बन्धमें गौड़ीय वेदान्ताचार्य श्रील बलदेव विद्याभूषणने स्वरचित सिद्धान्त-दर्पण नामक ग्रन्थमें इन सब प्राचीन और आधुनिक विचारोंका सम्पूर्ण रूपसे खण्डन किया है।

उपसंहारमें यह कहना पर्याप्त होगा कि जो लोग कलियुग-पावनावतारी श्रीराधा-भावद्युतिसुवलित श्रीकृष्णस्वरूप श्रीशचीनन्दन गौरहरिके आनुगत्यमें श्रीश्रीराधागोविन्दका भजन करना चाहते हैं, उनके लिए गोपियोंका नाम जानना नितान्त आवश्यक है, किन्तु श्रीमद्भागवतमें श्रील शुकदेव गोस्वामीने दो कारणों अर्थात् अनधिकारियोंको दूर रखनेके लिए और श्रीमती राधिकाजीके नाम उच्चारण करनेमात्रसे ही होनेवाली मूर्च्छासे अपने आपको बचानेके लिए गोपियोंके नाम और भावको गुप्त रखा है। यद्यपि जो लोग भावुक और रसिक हैं, वे केवल इङ्गितमात्रसे ही उनके नाम और भावोंको समझकर श्रीमद्भागवतरसका पान कर सकते हैं। किन्तु श्रील भक्तिविनोद ठाकुरने अन्यान्य अधिकारी साधकोंके मङ्गलके लिए कृपा करके प्रधान-प्रधान गोपियोंके नाम और भावोंको अपने इस ग्रन्थमें प्रकट किया है। यह किसी शक्तिशाली आचार्यका ही कार्य है। हम श्रील भक्तिविनोद ठाकुरके आशीर्वादको अपने सिरपर धारण करते हैं।

संग्राहक श्रील भक्तिविनोद ठाकुरने बड़े विनीत भावसे कहा है—उन श्रीगौर-गदाधरके प्रेम-उद्दीपनमें तत्पर, भक्तिविनोद द्वारा गुम्फित श्रीमद्भागवती माला उपस्थित हुई है। जो भक्त आनन्दोत्फुल्ल

चित्तसे नित्य इसका आस्वादन करेंगे, वे शीघ्र ही श्रीराधा-माधवकी कृपा प्राप्त करेंगे। श्रीराधा-माधव अपने व्रजके साथ इस गौड़भूमि श्रीनवद्वीपधाममें श्रीगदाधर-गौराङ्गके रूपमें आविर्भूत होकर प्रकारान्तर रूपमें नित्यलीला करते हैं। यही सूचित हुआ।

श्रील भक्तिविनोद ठाकुरने अत्यन्त उल्लसित होकर गोपन रखनेमें असमर्थ होनेके कारण इस ग्रन्थके उपसंहारमें और भी एक रहस्यपूर्ण बात प्रकट की है। वे कहते हैं—"एक दिन जब मैं श्रीमद्भागवतरूपी अमृतके आस्वादनमें संलग्न था, श्रीस्वरूप दामोदर मेरी अनुभूतिमें स्फूर्त हुए और मुझे निर्देश दिया कि महाप्रभुकी आज्ञासे श्रीमद्भागवतके श्लोकोंको सम्बन्ध, अभिधेय तथा प्रयोजन क्रमसे सजाओ। श्रीमन् महाप्रभुकी कृपासे भागवतीय श्लोकोंके द्वारा बनी हुई यह माला (श्रीभागवतार्कमरीचिमाला) रूपी ग्रन्थ वैष्णवोंकी सभामें 'नित्य पाठ्य' के रूपमें स्वीकृत होगा। उसी समय श्रीस्वरूपदामोदर गोस्वामीने श्रीमद्भागवतके प्रथम श्लोक "जन्माद्यस्य यतः" के तात्पर्यकी व्याख्या सुनायी और साथ ही गौड़ीय सिद्धान्तके अनुरूप व्याख्याका क्रम भी दिखलाया। उन्हींकी प्रेरणासे इस अधम दास भक्तिविनोदने इस ग्रन्थको प्रकाशित किया है।"

अतः इस ग्रन्थका महत्व बहुत बढ़ जाता है। विशेषकर श्रीचैतन्य महाप्रभुके अन्तरङ्ग परिकर श्रील स्वरूपदामोदरने श्रीमद्भागवतके प्रथम श्लोककी जितनी मार्मिक, सुन्दर और बोधगम्य व्याख्या की है, वैसी आज तक किसी भी आचार्यने नहीं की।

श्रील भक्तिविनोद ठाकुरका संक्षिप्त परिचय

मेरे परमाराध्य गुरुपादपद्म नित्यलीला प्रविष्ट ॐ विष्णुपाद श्रीश्रीलभक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजने हिन्दी भाषामें प्रकाशित श्रीजैवधर्म नामक ग्रन्थकी भूमिकामें सच्चिदानन्द श्रील भक्तिविनोद ठाकुरके जीवन-चरित्रके विषयमें जो उल्लेख किया है, मैं उसीके कुछ एक अंशोंको यहाँपर उद्धृत कर रहा हूँ—

भाषा-विद्वेषियोंके विचारोंकी उपेक्षा करके श्रीलभक्तिविनोद ठाकुरने भाषाओंके माध्यमसे श्रीमन् महाप्रभुकी अप्राकृत भावमयी शिक्षाका प्रकाश किया है। अप्राकृत दैव-संस्कृत-भाषा तथा तदनुगत बँगलाके अतिरिक्त उड़िया, हिन्दी, उर्दू और अँग्रेजी आदि विभिन्न भाषाओंमें उनके द्वारा रचित लगभग १०० ग्रन्थोंका परिचय पाया जाता है। उनमेंसे कतिपय विशेष ग्रन्थोंके नाम उनके रचनाकालके साथ नीचे दिये जा रहे हैं—

(क) संस्कृत—(१) वेदान्ताधिकरण—बंगाब्द १२७९[१], (२) दत्तकौस्तुभम् १२८१, (३) दत्तवंशमाला १२८३, (४) बौद्धविजय काव्यम् १२८५, (५) श्रीकृष्णसंहिता १२८७, (६) (शिक्षाष्टक का) 'सन्मोदन भाष्य' १२९३, (७) दशोपनिषद्-चूर्णिका १२९३, (८) भावावली (श्लोक और भाष्य) १२९३, (९) (श्रीचैतन्य-उपनिषद्का) 'श्रीचैतन्यचरणामृत'-भाष्य १२९४, (१०) श्रीमदाम्नाय सूत्रम् १२९७, (११) तत्त्वविवेकः या श्रीसच्चिदानन्दानुभूतिः १३००, (१२) तत्त्वसूत्रम् १३०१, (१३) (ईशोपनिषद्की) 'वेदार्क-दीधिति' व्याख्या १३०१, (१४) श्रीगौराङ्ग-स्मरणमङ्गल-स्तोत्रम् १३०३, (१५) श्रीसनातनगोस्वामीके (श्रीबृहद्भागवतामृतम् ग्रन्थके आधारपर रचित) 'श्रीभगवद्धामामृतम्' ग्रन्थका भाष्य १३०५, (१६) श्रीभागवतार्कमरीचिमाला १३०८, (१७) श्रीभजनरहस्यम् १३०९, (१८) स्वनियम-द्वादशकम् १३०४, (१९) ब्रह्मसूत्र या वेदान्त-दर्शनका भाष्य, (२०) शिक्षा-दशमूलम् इत्यादि।

(ख) बंगला (गद्य)—(१) गर्भस्तोत्र-व्याख्या या सम्बन्ध-तत्त्व-चन्द्रिका बंगाब्द १२७७, (२) श्रीसज्जनतोषिणी (मासिक पत्रिका, १-१७ खण्ड) आरम्भ १२८८, (३) 'रसिकरञ्जन भाषाभाष्य' (गीताकी श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर रचित टीकासहित) १२९३, (४) श्रीचैतन्य-शिक्षामृत १२९३, (५) प्रेम-प्रदीप (पारमार्थिक

[१] ग्रन्थकारने अपने ग्रन्थोंके रचनाकालमें 'बंगाब्द' का प्रयोग किया है। जो विक्रमी सम्वत्से ६५० वर्ष पीछे प्रचलित हुआ है। अर्थात् बंगाब्दमें ६५० का योग करनेसे वह विक्रमी सम्वत् होगा।

उपन्यास) १२९३, (६) 'श्रीविष्णुसहस्रनाम' का बंगानुवाद (बलदेवभाष्य) १२९३, (७) वैष्णवसिद्धान्तमाला १२९५, (८) सिद्धान्त-दर्पणानुवाद १२९७, (९) 'विद्वदरंजन' भाषा-भाष्य (श्रीगीताके श्रीबलदेव-भाष्य सहित) १२९८), (१०) श्रीहरिनाम, श्रीनाम, श्रीनाम-तत्त्व, श्रीनाम-महिमा, श्रीनाम-प्रचार (वैष्णव-सिद्धान्तमालाके गुच्छ सहित) १२९९, (११) श्रीमन् महाप्रभुकी शिक्षा १२९९, (१२) तत्त्व मुक्तावली या मायावादशतदूषणी १३०१, (१३) 'अमृतप्रवाह-भाष्य' (श्रीचैतन्यचरितामृतका) १३०२, (१४) श्रीरामानुज-उपदेश १३०३, (१५) जैवधर्म १३०३, (१६) 'प्रकाशिनी' वृत्ति सहित ब्रह्मसंहिताका बंगानुवाद १३०४, (१७) 'श्रीकृष्णकर्णामृतम्' ग्रन्थकी व्याख्या १३०५, (१८) 'पीयूषवर्षिणी' वृत्ति (श्रीउपदेशामृतम्की) १३०५, (१९) श्रीनरहरि ठाकुर कृत 'श्रीभजनामृतम्'—ग्रन्थका भाष्य १३०६, (२०) 'श्रीसंकल्पकल्पद्रुमः' ग्रन्थका बंगानुवाद १३०८ इत्यादि।

(ग) बँगला (पद्य)—(१) हरिकथा—बंगाब्द १२५७, (२) शुंभ-निशुंभ-युद्ध १२५८, (३) विजन ग्राम १२७०, (४) संन्यासी १२७०, (५) कल्याण-कल्पतरु १२८८, (६) मनःशिक्षा १२९३, (७) श्रीकृष्णविजय १२९४, (८) श्रीनवद्वीपधाम माहात्म्य १२९७, (९) शरणागति १३००, (१०) शोकशातन १३००, (११) श्रीनवद्वीपभावतरङ्ग १३०६, (१२) श्रीहरिनाम-चिन्तामणि १३०७, (१४) गीतावली, १४ गीतमाला, (१५) श्रीप्रेमविवर्त्त (सम्पादन) १३१३ इत्यादि।

(घ) उर्दू—वालिदे रेजिष्ट्री—सन् १८६६ ई.

(ङ) अंग्रेजी—(1) Peried (1st & 2nd volume) 1857-1858, (2) Maths of Orissa 1860, (3) Our wants 1863, (4) Speech on Goutam 1866, (5) Speech on Bhagavatam 1869, (6) Reflection 1871, (7) Thakur Haridas 1871, (8) Temple of Jagannath 1871, (9) Monasteries of Puri 1871, (10) Review (Personality of Godhead) 1883, (11) Shri Chaitanya Mahaprabhu, His life and Precepts 1996, (12) A Beacon Light etc.

उपरोक्त ग्रन्थ—तालिकाको देखकर यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि ग्रन्थकार विभिन्न भाषाओंके पारदर्शी सुपण्डित थे। यहाँ लेखकके जीवनके एक वैशिष्ट्यपर प्रकाश डालना आवश्यक समझता हूँ। वे पाश्चात्य शिक्षाके धुरन्धर विद्वान होनेपर भी पाश्चात्य प्रभावसे सर्वथा मुक्त थे। पाश्चात्य शिक्षाविदोंका कहना है—"Do not follow me but follow my words", अर्थात् "मैं जैसा करता हूँ वैसा न करो; मैं जैसा कहता हूँ वैसा करो।" परन्तु श्रील भक्तिविनोद ठाकुरका जीवन-चरित्र इस कथनका प्रतिवाद है। उन्होंने स्वलिखित विविध ग्रन्थोंमें जिन शिक्षाओंका उल्लेख किया है, उनमेंसे प्रत्येक शिक्षाका आचरण उन्होंने स्वयं अपने जीवनमें करके दिखलाया है। इसीलिए उनकी शिक्षा और भजन रीतिको 'भक्तिविनोद धारा' कहते हैं। उनके ग्रन्थोंमें एक भी ऐसी बात नहीं है, जिसका उन्होंने स्वयं पालन न किया हो। अतएव उनकी लेखनी और जीवनी—करनी और कथनी एक ही है।

जिस महापुरुषका ऐसा महान वैशिष्ट्य है, पाठकोंको उनका परिचय जाननेके लिए कौतूहल होना स्वाभाविक है। विशेषतः आधुनिक पाठकोंको कोई भी विषय अवगत होनेके लिए उसके लेखकके सम्बन्धमें अपरिचित रहनेसे उसके द्वारा लिखित विषयोंके प्रति श्रद्धा नहीं होती। इसीलिए संक्षेपमें लेखकके सम्बन्धमें दो-एक बातें निवेदन कर रहा हूँ।

अतिमर्त्य महापुरुषोंके सम्बन्धमें आलोचना करते समय साधारण मनुष्योंके जन्म, मृत्यु और स्थितिकालकी भाँति विचार करना भूल होगी, क्योंकि महापुरुषगण जन्म और मृत्युसे परे होते हैं। वे नित्यकाल विद्यमान रहनेपर भी लोकमें उनका आविर्भाव और तिरोभाव ही केवलमात्र लक्ष्य किया जाता है। श्रील भक्तिविनोद ठाकुरने १८ चैत्र, १२४५ बंगाब्द (२ सितम्बर १८३८ ई.) रविवारको पश्चिम बंगालके नदिया जिलेके अन्तर्गत श्रीगौराविर्भाव-स्थली श्रीधाममायापुरके सन्निकट 'वीरनगर' नामक ग्राममें अति

उच्चकुलमें आविर्भूत होकर गौड़ीयगगनको प्रोद्भाषित किया था और ९ आषाढ़, १३२१ बंगाब्द (२३ जून, १९१४ ई.) को कलकत्ता महानगरीमें तिरोहित होकर श्रीगौड़ीय वैष्णवोंके परमाराध्य श्रीश्रीगान्धर्विका-गिरिधारीकी मध्याह्न-लीलामें प्रवेश किया।

इन ७६ वर्षोंके अल्पकालमें उन्होंने स्वयं चारों आश्रमोंका आचरण करके जगत्को शिक्षा दी है। सर्वप्रथम उन्होंने ब्रह्मचर्यका पालन करके बहुमुखी उच्च शिक्षाएँ प्राप्त कीं। तदनन्तर गार्हस्थ्य-जीवनमें सदुपायसे अर्थोपार्जन करके कुटुम्बका भरण-पोषण करनेका जो आदर्श दिखलाया है, वह प्रत्येक गृहस्थके लिए अनुसरणीय है। इसी समय उन्होंने अंग्रेजी राजत्वमें शासन एवं विचार विभागके एक विशिष्ट उच्च पदस्थ कर्मचारी (गजटेड आफिसर) के रूपमें सारे भारतवर्षका भ्रमण किया था। यहाँ तक कि जो प्रदेशसमूह उच्छृंखल (Unregulated Provinces) के नामसे कुख्यात थे, वहाँपर भी इन महापुरुषने अपने प्रौढ़ सुविचारों तथा शासन-सुकौशलसे शान्ति और सुश‍ृङ्खलाकी स्थापना की। उन्होंने गृहस्थ जीवनमें भी अपने धार्मिक आदर्शसे तत्कालीन सभी लोगोंको आश्चर्यचकित कर दिया था। इस प्रकार गुरुदायित्वपूर्ण कार्योंमें नियुक्त रहकर भी उन्होंने अनेकानेक भाषाओंमें अनेक ग्रन्थोंकी रचनायें कीं। उनके द्वारा रचित ग्रन्थोंकी तालिकामें हमने उन-उन ग्रन्थोंके रचनाकालका भी उल्लेख किया है। उस तालिकाको मिलाकर देखनेसे पाठकवर्ग उनकी आश्चर्यजनक सृजन-शक्तिका अनुमान लगा सकेंगे। तत्पश्चात् राजकीय शासन-विभागसे सेवा निवृत्त होकर वानप्रस्थ आश्रय ग्रहणकर उन्होंने नवद्वीपके नौ-द्वीपोंके अन्तर्गत कीर्त्तनाख्या गोद्रुमद्वीपमें सुरभिकुञ्जकी स्थापना की तथा वहींपर बहुत समय तक भजन किया। तत्पश्चात् संन्यास ग्रहण करके उसीके समीप स्वानन्द-सुखदकुञ्जमें रहकर उन्होंने ठीक श्रीचैतन्यमहाप्रभुजीने जिस प्रकारसे स्वयं और अपने अनुगत छह गोस्वामियों द्वारा श्रीकृष्णकी आविर्भाव और अन्यान्य लीला-स्थलियोंका प्रकाश किया था, उसी प्रकारसे

श्रीचैतन्यदेवकी आविर्भाव-स्थली तथा अन्यान्य गौरलीला-स्थलियोंका प्रकाश किया। यदि ये जगत्में आविर्भूत न होते तो श्रीगौराङ्ग महाप्रभुकी लीलास्थलियाँ तथा उनकी शिक्षाएँ विश्वसे विलुप्त हो जातीं। इसीलिए समग्र गौड़ीय वैष्णव जगत् इनका चिरऋणी है और रहेगा। यही कारण है कि समग्र वैष्णव जगत्में इन्हें 'सप्तम' गोस्वामीका अत्युच्च सम्मान प्रदान किया गया है।

इन महापुरुषने अपने जीवनके उच्च आदर्श द्वारा जिस प्रकार लोकशिक्षाका प्रचार-प्रसार किया है, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न भाषाओंमें ग्रन्थादि प्रणयन करके प्रचुर शिक्षा दी है। इसके अतिरिक्त इनके दानके और भी एक वैशिष्ट्यका उल्लेख न करनेसे मादृश जीवकी घोर अकृतज्ञता ही प्रकाशित होगी। श्रील ठाकुर भक्तिविनोदने समग्र विश्वमें श्रीचैतन्यमहाप्रभुद्वारा प्रकटित धर्म-प्रचारकके मूल सेनापतिके रूपमें जिस महापुरुषको इस जगतीतलपर आविर्भूत कराया है, वे मदीय **गुरुपादपद्म जगद्गुरु ॐ विष्णुपाद परमहंसकुल-चूड़ामणि अष्टोत्तरशत श्रीश्रीमद्भक्ति सिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी ठाकुरके** रूपमें समग्र विश्वमें सुपरिचित हैं। इन महापुरुषको जगत्में आविर्भूत कराना—श्रीमद्भक्तिविनोद ठाकुरकी एक अतुलनीय अभिनव कीर्त्ति है। साधु-वैष्णव समाज उन्हें संक्षेपमें **'श्रील प्रभुपाद'** कहकर ही गौरव ज्ञापन करता है।

पाठकोंसे निवेदन

प्रस्तुत ग्रन्थमें श्रील भक्तिविनोद ठाकुर द्वारा रचित 'मरीचिप्रभा' नामक गौड़ीय भाष्यका भावानुवाद प्रस्तुत करनेका प्रयास किया गया है। यद्यपि ग्रन्थको स्थान-स्थानपर कोष्टक () तथा पादटीका आदि द्वारा यथासम्भव सरल सहज बोधगम्य बनानेकी चेष्टा की गयी है, तथापि कुछेक स्थानोंपर ऐसा कर पाना सम्भवपर नहीं हुआ। किन्तु मुझे दृढ़ विश्वास है कि श्रीभक्तिविनोद धारामें निष्णात तत्वज्ञ एवं रसिक भक्तोंके आनुगत्यमें इस ग्रन्थका पठन-पाठन करनेवाले भक्त प्रारम्भसे लेकर अन्त तक वर्णित सम्पूर्ण विषय-वस्तुको भली-भाँति समझकर अपने जीवनमें

उसका पालन करते हुए परम श्रेयको प्राप्त करेंगे।

यद्यपि इस ग्रन्थके बँगला भाषामें लगभग दस–बारह बड़े–बड़े संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं, तथापि हिन्दी भाषामें यही इसका प्रथम संस्करण है। श्रीमान् उत्तम कृष्ण ब्रह्मचारी तथा श्रीमान् दयानिधि ब्रह्मचारीने संस्कृतके मूल श्लोकोंको प्रस्तुत किया है। श्रीमान् भक्तिवेदान्त माधव महाराज, बेटी मधु खण्डेलवाल तथा बेटी सविताने इस ग्रन्थके अनुवादमें बहुत सहायता की हैं। श्रीमान् विजय कृष्ण ब्रह्मचारीने सम्पादनमें बहुत सहायता करनेके साथ–साथ प्रूफ–संशोधन आदि कार्य भी किये हैं। श्रीमान् सुन्दर गोपाल ब्रह्मचारी, श्रीमती वृन्दा दासी तथा बेटी शान्ति दासीने कम्पोजिंग तथा ले–आउट आदि सेवा कार्य किये हैं।

मुख पृष्ठका चित्र श्रीमती श्यामरानी दासीने प्रस्तुत किया है तथा प्रत्येक अध्यायके प्रथम पृष्ठपर अङ्कित चित्रोंको श्रीमान् कृष्ण कारुण्य ब्रह्मचारी, श्रीमान् राधा मोहन दास, श्रीमान् ईश्वर पुरी दास तथा बेटी मञ्जरी दासीने प्रस्तुत किया है। श्रीमान् बनवारी लाल सिंहानिया तथा श्रीमान् हरिकान्त ब्रह्मचारीने प्रकाशन सम्बन्धीय सेवाओंमें योगदान दिया है।

श्रीमती मीना खण्डेलवाल, श्रीमती किरण डारोलिया, श्रीमान् अचिन्त्य गौर दास तथा श्रीमान् सुन्दर गोपाल दासने मिलकर इस ग्रन्थके प्रकाशनमें आर्थिक सहायता की है। इन सबकी सेवा–प्रचेष्टाके लिए मैं गौरशक्ति श्रील भक्तिविनोद ठाकुरके श्रीचरणकमलोंमें प्रार्थना करता हूँ कि वे इनपर अपनी कृपा–वृष्टि करें।

अन्तमें मैं भक्तोंसे करबद्ध प्रार्थना करता हूँ कि इस ग्रन्थका नित्य पाठ करें। प्रकाशनमें क्षिप्रताके कारण कुछ त्रुटियोंका रहना स्वाभाविक हैं। सहृदय पाठकगण उनका संशोधनकर पाठ करेंगे। अलमतिविस्तरेण।

परमगुरुपादपद्म श्रीलप्रभुपादकी शुभ आविर्भाव तिथि
२६ फरवरी, २००८ ई.
५२१ श्रीचैतन्याब्द

श्रीहरि–गुरु–वैष्णव–कृपालेश प्रार्थी
त्रिदण्डिभिक्षु
श्रीभक्तिवेदान्त नारायण
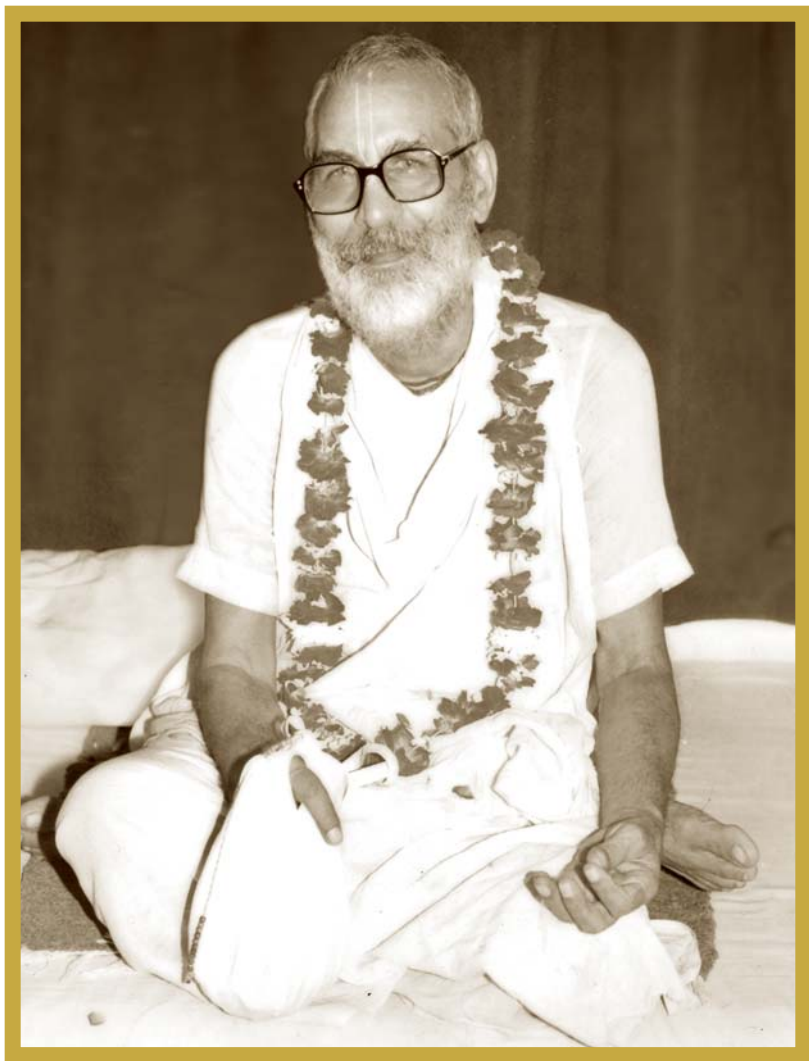
ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री
श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराज

ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री
श्रीमद्भक्तिवेदान्त वामन गोस्वामी महाराज
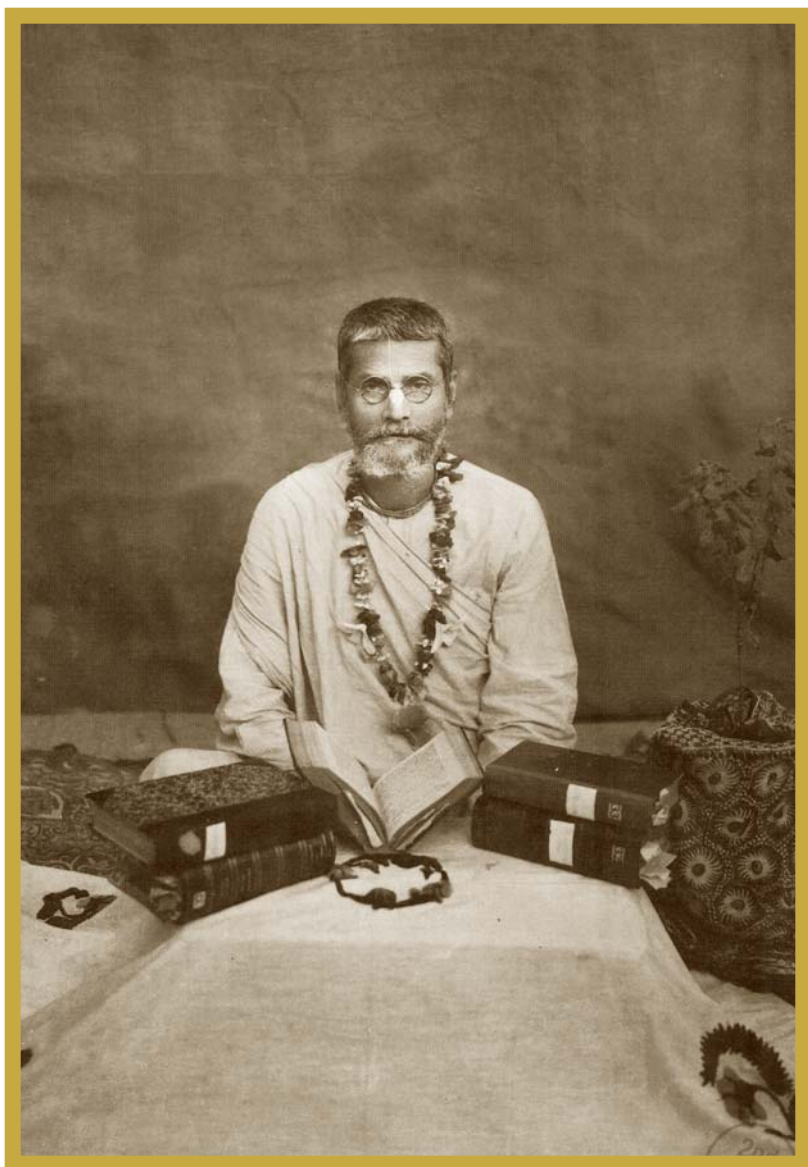
ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री
श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराज
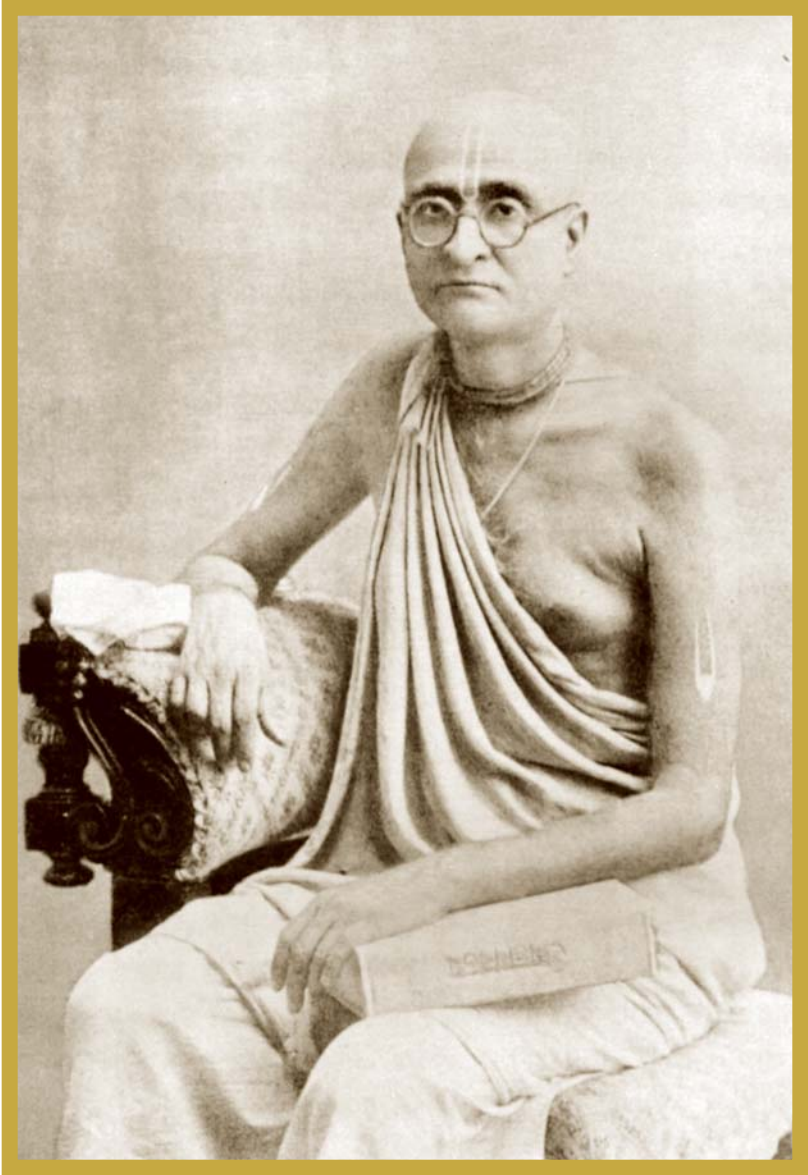
ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री
श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी ठाकुर 'प्रभुपाद'
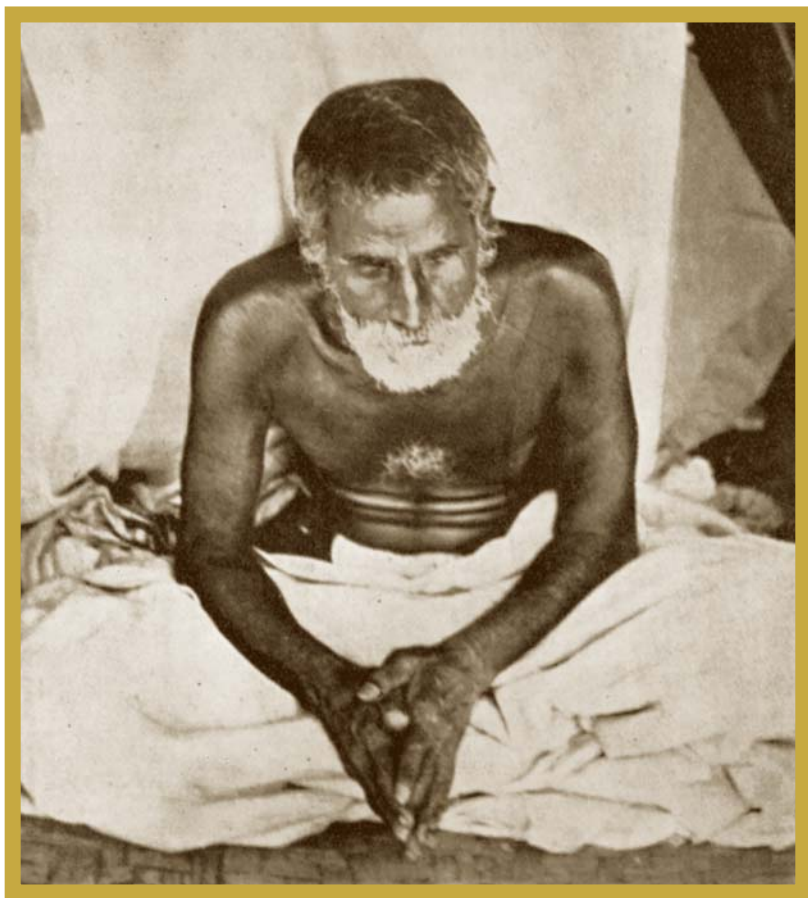
परमहंस श्रील गौरकिशोर दास बाबाजी महाराज
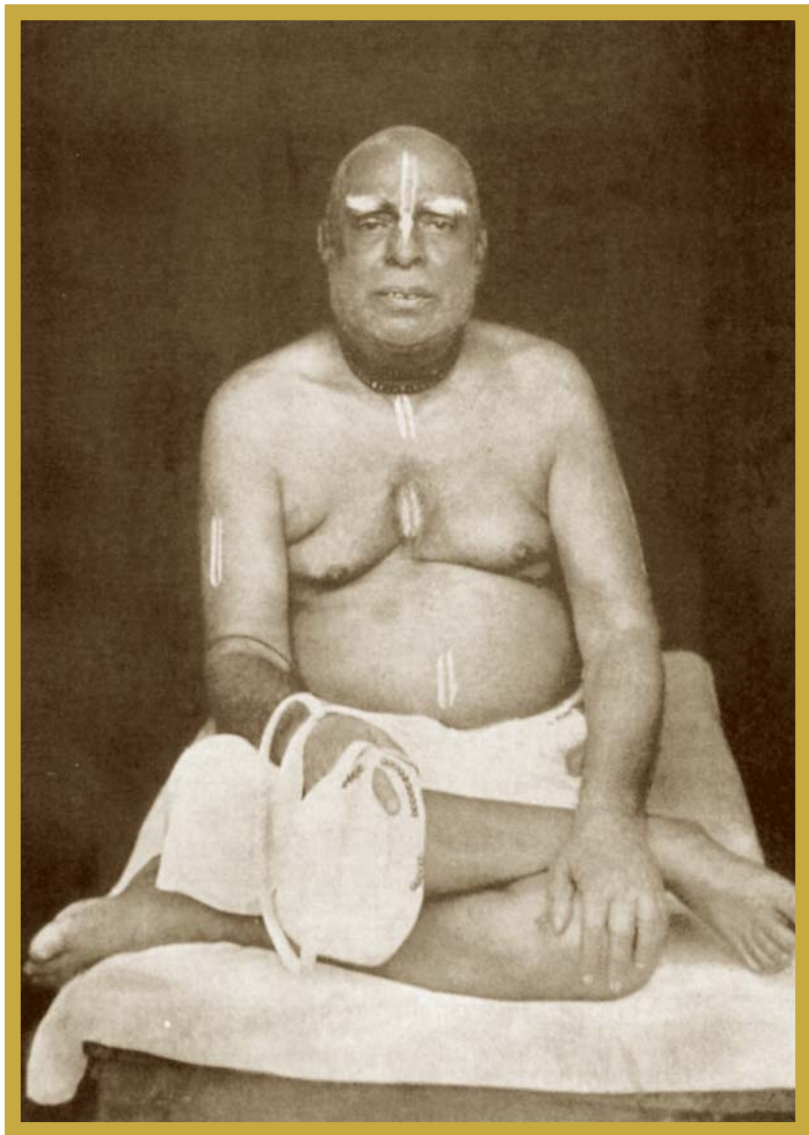
ॐ विष्णुपाद श्रील सच्चिदानन्द भक्तिविनोद ठाकुर

श्रीकृष्णद्वैपायन वेदव्यासजी

चम्पकहट्टमें सेवित श्रीश्रीगौर–गदाधर

श्रीभागवतार्कमरीचिमाला

प्रथम किरण

प्रमाण-निर्देश

सूचना

श्रीकृष्णचैतन्यचन्द्राय नमः

यत्कृपया प्रवृत्तोऽहमेतस्मिन् ग्रन्थसंग्रहे।
तं गौरपार्षदं वन्दे दामोदरस्वरूपकम्॥

मैं (श्रीभक्तिविनोद ठाकुर) सर्वप्रथम उन गौरपार्षद श्रीस्वरूप दामोदरकी वन्दना करता हूँ, जिनकी कृपासे मैं इस ग्रन्थके संकलनमें प्रवृत्त हो रहा हूँ।

श्रीकलियुगपावनावताराय नमः

(सम्बन्धज्ञान प्रकरण)

(श्रीमद्भा. १/१/१)

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः।
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि॥१॥

श्रील भक्तिविनोद ठाकुर कृत 'मरीचिप्रभा' नामक गौड़ीय व्याख्याका हिन्दी भाषामें भावानुवाद

भगवान्की अन्तरङ्गा स्वरूपशक्तिके अणुप्रकाशको तटस्था जीवशक्ति तथा छायाप्रकाशको बहिरङ्गा मायाशक्ति कहा जाता है।

भगवान्की जीवशक्ति (तटस्थाशक्ति) के अन्वय अर्थात् सम्बन्धसे जैवजगत् और उनकी मायाशक्तिके अन्वय अर्थात् सम्बन्धसे जड़जगत् प्रकाशित हुआ है। जीव अपनी व्यतिरेक बुद्धि (अनादि बहिर्मुखता) अथवा मिथ्याभिमान रूप विवर्त्त (शरीरको आत्मतत्त्व समझने) के कारण ही जगत्के सम्पर्कमें रहता है। अतएव निष्कर्ष यह है कि अन्वय और व्यतिरेक रूपमें भगवान्से ही यह चराचर विश्व प्रकाशित हुआ है।

पुरुष, प्रकृति और महतत्त्व आदि कुल मिलाकर अठाईस तत्त्व (प्रस्तुत ग्रन्थकी श्लोक संख्या १०/१७ में द्रष्टव्य) हैं। इन अठाईस तत्त्वरूप अर्थसमूहों अर्थात् चराचरको प्रकाशित करनेवाले तत्त्वोंमेंसे जिन पुरुषको ज्ञ-तत्त्व स्वरूप अभिज्ञ (ज्ञाता) अर्थात् सर्वज्ञकी उपमा[१] दी गयी है। वे भगवान् पूर्ण शक्ति द्वारा

---

[१] अर्थालङ्कारका एक भेद जिसमें दो वस्तुओंमें भेद होते हुए भी धर्मगत समता दिखलायी जाती है अर्थात् यद्यपि इन अठाईस तत्त्वोंमें पुरुष अर्थात् चैतन्य दो प्रकारके हैं—पूर्ण पुरुष ईश्वर मायाका अधीश्वर और अणु पुरुष जीव मायाके वशीभूत होने योग्य, तथापि सृज्य और असृज्य सभी वस्तुओंमें सर्वज्ञ केवल पूर्णपुरुष भगवान् ही हैं।

परिसेवित अपनी स्वरूपशक्तिके बलसे पूर्ण और स्वराट अर्थात् सृष्टिसे पूर्व स्वयं अपने स्वरूपमें ही विराजित रहनेवाले हैं।

उन्होंने कृपा करके आदि कवि ब्रह्माके हृदयमें उन वेदोंके वास्तविक अर्थको प्रकाशित किया, जो पण्डितोंके लिए भी दुर्बोध्य होनेके कारण मोह उत्पन्न करनेवाले है।

सर्ग अर्थात् सृष्टि तीन प्रकारकी है—चित्सर्ग, जीवसर्ग एवं जड़सर्ग। चित्सर्गका कुछ-कुछ दृष्टान्त-स्थल अग्नि अर्थात् तेजपदार्थ है। जैसे अग्नि अलक्षित रूपसे रहती है और घर्षणादि किसी क्रियाके द्वारा प्रादुर्भूत होती है, उसी प्रकार सारा चित् व्यापार यथायथ रूपमें नित्य वर्त्तमान रहनेपर भी भगवान्‌की इच्छासे ही उदित होता है।

जीवसर्गका कुछ-कुछ दृष्टान्त-स्थल जल है। जैसे जल अत्यधिक ठण्डसे पत्थरकी भाँति कठोर एवं अत्यधिक गर्मीसे तरल हो जाता है। उसी प्रकार भगवान्‌रूपी सूर्यकी किरणोंमें स्थित कणस्वरूप जीव भगवान्‌से बहिर्मुख होनेपर विवर्त्तधर्मके आश्रयमें पड़कर मायाबद्ध हो जाते हैं तथा भगवान्‌के प्रति उन्मुख होनेपर उनका हृदय भगवत् प्रेम विकारसे तरल एवं स्निग्ध हो उठता है, जिसके फलस्वरूप वे उनकी सेवा करनेमें तत्पर हो जाते हैं।

जड़सर्गका कुछ-कुछ दृष्टान्त-स्थल मिट्टी है। जिस प्रकार मिट्टीके परिणाम द्वारा मटका, कसोरा इत्यादि बनता है, उसी प्रकार मायाशक्तिके प्रधान (अर्थात् जड़ प्रकृति) के परिणाम द्वारा यह विश्व सृष्ट होता है। ये तीनों सर्ग भगवान्‌की अचिन्त्यशक्ति द्वारा परिणत होकर किसी-किसी स्थानपर (अर्थात् तीन सर्गोंमेंसे जड़सर्ग) विनश्वर अर्थात् अस्थायी होनेपर भी सत्यस्वरूप भगवान्‌से उदित होनेके कारण सत्य है (मिथ्या नहीं)।

भक्तोंके प्रेमास्पद भगवान् कृपापूर्वक (माया और जीव) शक्तिके द्वारा सब प्रकारकी क्रियाएँ करते हुए भी अपने धाम

अर्थात् स्वरूपमें सदैव उन सब क्रियाओंसे पृथक्, अपरिणत और पूर्ण शक्ति सम्पन्न रूपसे विराजमान रहते हैं।

ऐसे (जिनसे अन्वय-व्यतिरेक रूपसे यह चराचर विश्व प्रकाशित होता है, जो सर्वज्ञ, पूर्ण, स्वराट, अपरिणत और पूर्ण शक्ति सम्पन्न हैं, जिन्होंने कृपा करके ब्रह्माके हृदयमें वेदोंके वास्तविक अर्थको प्रकाशित किया तथा जिनकी अचिन्त्यशक्तिके द्वारा परिणत होकर चित्सर्ग, जीवसर्ग एवं जड़सर्गकी उत्पत्ति होती है, उन) परम सत्यस्वरूप गोलोक-व्रजधामपति श्रीकृष्णके चिदानन्दमय नामके स्मरण और कीर्त्तन एवं रूप, गुण तथा लीलाके ध्यान साधनके द्वारा हमलोग उनकी उपासना करते हैं।

श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुके द्वारा प्रचारित अचिन्त्य-भेदाभेदस्वरूप परम तत्त्वके व्याख्यान द्वारा यह मङ्गलाचरण सम्पादित हुआ॥१॥

सर्वप्रथम वेदप्रमाणके सम्बन्धमें श्रीमद्भा. ११/१४/३-१४ में भगवान् श्रीकृष्णने उद्धवसे कहा—

कालेन नष्टा प्रलये वाणीयं वेदसंज्ञिता।
मयादौ ब्रह्मणे प्रोक्ता धर्मो यस्यां मदात्मकः॥२॥

हे उद्धव! प्रलयके समय वेदवाणी कालके प्रभावसे लुप्त प्रायः हो गयी थी। उन वेदोंमें आत्मरति धर्म (स्वरूपगत प्रेमधर्म अथवा भागवत धर्म) का वर्णन था। कल्पके प्रारम्भमें मैंने इस वेदवाणीका उपदेश ब्रह्माको दिया था॥२॥

तेन प्रोक्ता स्वपुत्राय मनवे पूर्वजाय सा।
ततो भृग्वादयोऽगृह्णन् सप्त ब्रह्ममहर्षयः॥३॥

ब्रह्माने सर्वप्रथम अपने ज्येष्ठ पुत्र (स्वायम्भुव) मनुको इस वेदवाणीका उपदेश दिया था और मनुसे भृगु आदि सप्त महर्षियों (भृगु, अङ्गिरा, मरीचि, पुलह, अत्रि, पुलस्त्य और क्रतु) ने ग्रहण किया था॥३॥

तेभ्यः पितृभ्यस्तत्पुत्रा देवदानवगुह्यकाः।
मनुष्याः सिद्धगन्धर्वाः सविद्याधरचारणाः॥४क॥

किंदेवाः किन्नरा नागा रक्षः किम्पुरुषादयः।
बह्व्यस्तेषां प्रकृतयो रजःसत्त्वतमोभुवः॥४ख॥

इन महर्षियोंसे इनके समस्त पुत्रों—देव, दानव, गुह्यक, मनुष्य, सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर, चारण, किंदेव, किन्नर, नाग, राक्षस और किम्पुरुष आदिने इस वेदवाणीको प्राप्त किया। रज, सत्त्व तथा तमोगुणसे उत्पन्न अनेक प्रकारकी प्रकृतियोंने इन सब जीवोंका आश्रय लिया॥४॥

याभिर्भूतानि भिद्यन्ते भूतानां पतयस्तथा।
यथाप्रकृति सर्वेषां चित्रा वाचः स्रवन्ति हि॥५॥

इन्हीं बहुत प्रकारकी प्रकृतियोंके द्वारा प्राणियों और उनके पालन करनेवालोंमें परस्पर वैचारिक भेद लक्षित होने लगे। जिनकी जैसी प्रकृति थी, वे वैसे ही उस वेदवाणीका भिन्न-भिन्न अर्थ ग्रहण करके व्याख्या करने लगे॥५॥

एवं प्रकृतिवैचित्र्याद् भिद्यन्ते मतयो नृणाम्।
पारम्पर्येण केषाञ्चित् पाषण्डमतयोऽपरे॥६॥

इस प्रकार स्वभाव भेदके कारण मनुष्योंके मतोंमें भी बहुत प्रकारके भेद हो गये। किसी-किसीका मत गुरु-परम्पराके माध्यमसे चलने लगा, तो कुछ-कुछ लोग पाखण्ड (वेदविरुद्ध अधार्मिक) मतोंका विस्तार करने लगे॥६॥

यहाँ भगवान्‌के कहनेका तात्पर्य यह है कि वेदशास्त्रमें विशुद्ध भक्तिका ही उपदेश है। वेदवादियोंके स्वभावके दोषोंके कारण ही नाना प्रकारके मत-मतान्तर तथा बहुत प्रकारके कर्म और ज्ञानकी विविध व्यवस्थाएँ विद्यमान हैं। वस्तुतः वेद ही मनुष्यमात्रके लिए एकमात्र प्रमाण और शिक्षागुरु हैं। इन वेदोंमें अनेक प्रकारके

मतवादोंका प्रवेश कराके शुद्धभक्तिके विपरीत पृथक्-पृथक् कल्पित मतोंका प्रचार हुआ है। (श्रील भक्तिविनोद ठाकुर)

मन्मायामोहितधियः पुरुषाः पुरुषर्षभ।
श्रेयो वदन्त्यनेकान्तं यथाकर्म यथारुचि॥७॥

हे पुरुषश्रेष्ठ। मेरी मायासे मोहित बुद्धिवाले लोग अपने-अपने कर्म और रुचिके अनुसार जीवोंके परम श्रेय[१] को विभिन्न प्रकारके नाम देकर व्याख्या किया करते हैं॥७॥

धर्ममेके यशश्चान्ये कामं सत्यं दमं शमम्।
अन्ये वदन्ति स्वार्थं वै ऐश्वर्यं त्यागभोजनम्।
केचिद् यज्ञं तपोदानं व्रतानि नियमान् यमान्॥८॥

कोई कहते हैं, धर्म ही एकमात्र श्रेय है, कोई-कोई यशको ही जीवोंका परम श्रेय बतलाते हैं, कोई कामको श्रेय बतलाते हैं, कोई सत्यको श्रेय बतलाते हैं, कोई शम-दमको ही श्रेय बतलाते हैं, कोई स्वार्थको ही श्रेय बतलाते हैं, कोई ऐश्वर्यको ही श्रेय मानते हैं, कोई त्याग अर्थात् संन्यासको ही श्रेय बतलाते हैं, कोई भोजन अर्थात् विषय भोगोंको ही श्रेय बतलाते हैं, कोई यज्ञको श्रेय बतलाते हैं, कोई तपस्याको श्रेय बतलाते हैं, कोई दानको ही श्रेय बतलाते हैं, कोई-कोई व्रत और यम-नियम इत्यादिका श्रेयके रूपमें वर्णन करते हैं॥८॥

आद्यन्तवन्त एवैषां लोकाः कर्मविनिर्मिताः।
दुःखोदर्कास्तमोनिष्ठाः क्षुद्रा मन्दाः शुचार्पिताः॥९॥

इन समस्त लोगोंका कर्म-विनिर्मित लोक अर्थात् इन सभी कर्मोंके फलस्वरूप इन्हें जो लोक प्राप्त होते हैं, वे अन्त-विशिष्ट

---

[१] श्रेय अर्थात् वास्तवमें कल्याण उत्पन्न करानेवाला। भले ही प्रारम्भमें कष्टकारी प्रतीत हो, किन्तु फल प्राप्ति अर्थात् परिणामके समय परम सुखदायी होता है।

अर्थात् अनित्य, परिणाममें परम दुःखमय, तमोनिष्ठ, क्षुद्र, जड़मय और शोक आदि दोषोंसे युक्त हैं॥९॥

मय्यर्पितात्मनः सभ्य निरपेक्षस्य सर्वतः।
मयात्मना सुखं यत्तत् कुतः स्याद् विषयात्मनाम्॥१०॥

हे सौम्य उद्धव! वेदोंके मूल तात्पर्य भक्तिको प्राप्त करनेवाले लोग परम नित्य स्वरूप मुझमें अपनी आत्माको समर्पण करते हैं, इसलिए वे जड़सुखसे सम्पूर्ण रूपमें निरपेक्ष रहते हैं। मेरी सेवाके फलस्वरूप उनके चित्तमें जिस प्रकारके सुखका उदय होता है, क्या वह जड़विषय-पिपासुओंको किसी भी प्रकारसे प्राप्त हो सकता है?॥१०॥

अकिञ्चनस्य दान्तस्य शान्तस्य समचेतसः।
मया सन्तुष्टमनसः सर्वाः सुखमया दिशः॥११॥

मेरे सभी भक्त अकिञ्चन होते हैं अर्थात् वे जड़विषयोंको विषय ही नहीं मानते। वे दान्त अर्थात् जितेन्द्रिय होते हैं। वे शान्त होते हैं अर्थात् उनका मन उनके वशीभूत रहता है। वे समचेता होते हैं अर्थात् उनकी चिन्मात्र वस्तुके प्रति समबुद्धि और जड़मात्रके प्रति तुच्छ बुद्धि रहती है। वे मुझे पाकर सन्तुष्ट रहते हैं और उनके लिए चारों दिशाएँ सुखमय होती हैं॥११॥

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥१२॥

जिनका चित्त मुझमें अर्पित है, वे परमेष्ठी ब्रह्माका पद, इन्द्रपद, जगत्का सार्वभौमपद, रसातलका आधिपत्य एवं जितनी भी प्रकारकी जड़ीय योग-सिद्धि, यहाँ तक कि आत्म-निर्वाणरूप मुक्ति इत्यादिकी भी इच्छा नहीं करते। वे केवल मेरी दिव्य सेवाकी ही प्रार्थना करते हैं॥१२॥

अपने बलसे अद्वय परम ज्ञानके विषयमें प्रमाणका अनुसन्धान करना असम्भवपर है। इसका श्रीमद्भा. ११/१९/१७ में इस प्रकार वर्णन है—

श्रुतिः प्रत्यक्षमैतिह्यमनुमानं चतुष्टयम्।
प्रमाणेष्वनवस्थानाद्विकल्पात् स विरज्यते॥१३॥

युक्तिको ही प्रधान माननेवाले व्यक्ति शब्द प्रमाण अर्थात् श्रुति, प्रत्यक्ष प्रमाण अर्थात् इन्द्रिय साक्षात्कार जनित ज्ञान, ऐतिह्य प्रमाण अर्थात् इतिहासमें पाये जानेवाले परम्परागत संवाद और अनुमान प्रमाण अर्थात् प्रत्यक्ष द्वारा प्राप्त ज्ञानसे अप्रत्यक्ष ज्ञान (जैसे इस जगत्के आदि और अन्तको देखकर इसके असार्वकालिक अर्थात् अस्थायी होने) का अनुमान लगाने इत्यादि प्रमाणोंका अनुसन्धान कर जब इन प्रमाणोंमें भी मतभेद देखकर सन्देह ग्रस्त हो जाते हैं, तब प्रमाण मात्रको ही अस्थिर जानकर उसका परित्याग कर देते हैं॥१३॥

श्रीमद्भा. ६/९/३६ में देवता भगवान्से कह रहे हैं—

न हि विरोध उभयं भगवत्यपरिमित गुणगणे ईश्वरेऽनवगाह्य-माहात्म्येऽर्वाचीन विकल्प वितर्कविचार प्रमाणाभास कुतर्कशास्त्रकलिलान्तः-करणाशय दुरवग्रह वादिनां विवादानवसर उपरतसमस्तमायामये केवल एवात्ममायामन्तर्धाय को न्वर्थो दुर्घट इव भवति स्वरूपद्वयाभावात्॥१४॥

हे भगवन्! आपमें आत्मारामत्व एवं अप्राकृत-गुण-विशिष्टत्व—ये दोनों गुण परस्पर विरुद्धधर्मी होते हुए भी विरोध नहीं करते। आप स्वयं ईश्वर हैं, आपके माहात्म्यको साधारण व्यक्ति समझ नहीं सकते। अर्वाचीन, विकल्प, वितर्क, विचार, प्रमाणाभास, कुतर्कपूर्ण शास्त्रोंका अध्ययनकर व्याकुल अन्तःकरणवाले दुराग्रह-वादियोंका विवाद जहाँपर समाप्त होता है, उसी स्थलपर छलनामयी समस्त माया उदासीन हो जाती है। प्राकृत चक्षुओंसे अगोचर अपनी आत्ममाया अर्थात् अपनी अचिन्त्य चित्-शक्तिके माध्यमसे आप जो कुछ भी करनेकी इच्छा करते हैं, वह आपके लिए

असम्भव नहीं है, क्योंकि आपका स्वरूप अद्वय है। बद्ध जीवोंके मायिक स्थूल-लिङ्ग शरीर और आत्मामें जैसा स्वरूपतः भेद होता है, वैसा भेद आपके सच्चिदानन्द स्वरूपमें नहीं है अर्थात् आपके देह-देही, गुण-गुणी, अवयव-अवयवीमें भेद नहीं है; इस सिद्धान्तको तर्कके द्वारा नहीं समझा जा सकता॥१४॥

श्रीमद्भा. १०/८७/३६ में श्रुतियोंने भगवान्से कहा—

सत इदमुत्थितं सदिति चेन्ननु तर्कहतं
व्यभिचरति क्व च क्व च मृषा न तथोभययुक्।
व्यवहृतये विकल्प इषितोऽन्धपरम्परया
भ्रमयति भारती त उरुवृत्तिभिरुक्थजडान्॥१५॥

यह सारा विश्व सच्चिदानन्द तत्त्वसे प्रकट हुआ है, इसलिए सत्य है—ऐसा कहनेसे तर्क द्वारा विफल प्रयास होनेके कारण व्यभिचार (अनुचित विचार) उपस्थित होता है। पुनः इस विश्वको ब्रह्मका विवर्त्त मानकर इसे नितान्त मिथ्या माननेपर तर्क द्वारा पराजित होनेवाली मिथ्या बात हो जाती है। अतः यह विश्व सत्य होते हुए भी नश्वर है—यदि इस रूपमें स्वीकार किया जाये, तभी सत्य प्रतिपादित हो सकता है। जिस प्रकार चिन्तामणि स्वर्ण आदिको प्रसव करती है, उसी प्रकार पारमेश्वरी शक्ति भी इस नश्वर जगत्को प्रसव करती है। ऐसा कहनेसे किसी भी प्रकारका सन्देह या तर्क नहीं रहता। हे प्रभो! उक्त जड़वादियोंको आपकी वेदवाणियाँ अन्धपरम्परामें भ्रमणके समान भ्रमण ही कराती रहती हैं। वाक्य व्यवहार द्वारा इस जगत्को कभी सत्य और कभी मिथ्या कहना केवल व्यवहारमात्र है। वस्तुतः वेदोंके तात्पर्य द्वारा यह जानना उचित है कि यद्यपि यह विश्व सत्य है, तथापि नश्वरतावशतः मिथ्या भी है। अतएव तर्क सत्यका निर्णय करनेमें अक्षम है एवं शास्त्रोंको ठीक प्रकारसे नहीं समझनेके कारण अनेक प्रकारके मिथ्यावाद प्रचारित होते हैं॥१५॥

श्रीमद्भा. ६/४/३१ में प्रजापति भगवान्‌से कहते हैं—

यच्छक्तयो वदतां वादिनां वै विवादसंवादभुवो भवन्ति।
कुर्वन्ति चैषां मुहुरात्ममोहं तस्मै नमोऽनन्तगुणाय भूम्ने॥१६॥

जिनकी अनन्त अचिन्त्यशक्तिके विषयमें परस्पर विचार-विमर्श करनेपर वादीगण वाद-विवादमें पड़कर बारम्बार आत्म मोहको प्राप्त करते हैं। हम उन्हीं अनन्तगुण विशिष्ट भूमापुरुष (सर्वव्यापी) को नमस्कार करते हैं॥१६॥

श्रीमद्भा. ४/११/२२ में मनु ध्रुवसे कहते हैं—

केचित्कर्म वदन्त्येनं स्वभावमपरे नृप।
एके कालं परे दैवं पुंसः काममुतापरे॥१७॥

कोई कर्मको, कोई स्वभावको, कोई कालको तथा कोई कामको ही ईश्वर मानते हैं॥१७॥

श्रीमद्भा. ४/२९/४८ में देवर्षि नारद प्राचीनबर्हि राजासे कहते हैं—

स्वं लोकं न विदुस्ते वै यत्र देवो जनार्दनः।
आहुर्धूम्रधियो वेदं सकर्मकमतद्विदः॥१८॥

ईश्वर तत्त्वसे अनभिज्ञ जीव अपनी गतिके विषयमें कुछ भी नहीं जान पाते। कर्म एवं तर्क आदिसे युक्त मलिन बुद्धिवाले जीव वेदोंको भी कर्मपरक माननेके कारण वैकुण्ठ तत्त्वको नहीं जान पाते॥१८॥

श्रीमद्भा. ४/११/२३ में मनु ध्रुवसे कहते हैं—

अव्यक्तस्याप्रमेयस्य नानाशक्त्युदयस्य च।
न वै चिकीर्षितं तात को वेदाथ स्वसम्भवम्॥१९क॥

हे तात! अव्यक्त, अप्रमेय (इन्द्रिय या प्रमाणके विषय नहीं), नाना शक्तियोंके उदय-स्थल जो ईश्वर हैं उनके कार्यका कौन विचार कर सकता है? इस विश्वके प्राकट्यके कारणको भी कौन समझ सकता है?॥१९क॥

श्रीमद्भा. ६/४/३२ में प्रजापति भगवान्‌से कहते हैं—

अस्तीति नास्तीति च वस्तुनिष्ठयोरेकस्थयोर्भिन्नविरुद्धधर्मणोः।
अवेक्षितं किञ्चन योगसांख्ययोः समं परं ह्यनुकूलं बृहत् तत्॥१९ख॥

अष्टाङ्गयोग और सांख्य—इन दोनों शास्त्रोंमें ईश्वरके (साकार एवं निराकार) रूपके सम्बन्धमें अस्ति-नास्ति इत्यादि जो विरुद्ध मत है—यह विवादमात्र है। परमेश्वर बृहत् तत्त्व है, उनमें परस्पर विरोधी समस्त धर्मोंका सामञ्जस्य है। इसलिए उनकी किसी एक शक्तिका आश्रय लेकर जो दार्शनिक सिद्धान्त बना लिया जाता है, वह नितान्त हेय होता है।

तात्पर्य यह है कि उत्तर-मीमांसा—ब्रह्मसूत्रके अतिरिक्त अन्य समस्त दर्शन-शास्त्र परस्पर विरोधी हैं, परिणामतः वे भी वेद-विरुद्ध ही हैं। वेदवाद जिस प्रकार विरोधी हैं, उसी प्रकार नाना तर्कवाद भी परस्पर विरोधी ही हैं। अतएव ऐसे (वेदविरुद्ध एवं तर्क प्रिय) शास्त्रोंपर विश्वास करना व्यर्थ है॥१९ख॥

तत्त्वसंख्याके सम्बन्धमें विवाद करना व्यर्थ ही है। श्रीमद्भा. ११/२२/४-५ में भगवान् उद्धवसे कहते हैं—

युक्तञ्च सन्ति सर्वत्र भाषन्ते ब्राह्मणा यथा।
मायां मदीयामुद्‌गृह्य वदतां किं नु दुर्घटम्॥२०क॥

नैतदेवं यथाऽऽत्थ त्वं यदहं वच्मि तत्तथा।
एवं विवदतां हेतुं शक्तयो मे दुरत्ययाः॥२०ख॥

ब्राह्मणोंने ज्ञानाभिमानमें मत्त होकर मेरी मायासे मोहित होनेके कारण जो कुछ भी लिखा है, ऐसा प्रतीत होता है कि वह बहुत युक्तियुक्त है। जैसा तुम कहते हो वह ठीक नहीं है, जो मैं कहता हूँ, वही सत्य है—उनकी इसी प्रवृत्तिसे ही नाना मत प्रचलित हो गये। इसका प्रधान कारण मेरी दुरत्यया (दुर्गम) शक्ति ही है॥२०॥

श्रीमद्भा. ११/३/४३-४६ में वेदके तात्पर्यको स्वतन्त्र रूपसे ग्रहण करनेवालोंकी मोहग्रस्त दशाके सम्बन्धमें छठे योगीश्वर श्रीआविर्होत्रने राजा निमिसे कहा—

कर्माकर्मविकर्मेति वेदवादो न लौकिकः।
वेदस्य चेश्वरात्मत्वात् तत्र मुह्यन्ति सूरयः॥२१॥

कर्म, अकर्म और विकर्मके नामपर जो वितर्क होते हैं—वह भी वेदवाद है। वेद स्वयं ईश्वर हैं, अतएव पण्डिताभिमानी व्यक्ति जितना भी अपनी बुद्धिका प्रकाश क्यों न करें, अन्तमें वेदके विषयमें मोहग्रस्त ही होते हैं॥२१॥

परोक्षवादो वेदोऽयं बालानामनुशासनम्।
कर्ममोक्षाय कर्माणि विधत्ते ह्यगदं यथा॥२२॥

वेद स्वयं परोक्षवादात्मक[1] है। उनका परोक्षवादात्मक होना मूढ़ व्यक्तियोंके लिए अनुशासन है। वेद कर्मोंकी निवृत्तिके लिए ही कर्मका उपदेश करते हैं। जिस प्रकार पीड़ित व्यक्तियोंके रोग निवारण हेतु औषधि ही उसका विधान है, उसी प्रकार कर्म-रोगसे पीड़ित व्यक्तियोंके लिए कर्मका विधान है॥२२॥

नाचरेद् यस्तु वेदोक्तं स्वयमज्ञोऽजितेन्द्रियः।
विकर्मणा ह्यधर्मेण मृत्योर्मृत्युमुपैति सः॥२३॥

अज्ञ, अजितेन्द्रिय व्यक्ति यदि वेदोक्त कर्मोंका आचरण न करें, तो वे विकर्मके फलस्वरूप अधर्मरूप मृत्यु द्वारा मृत्युको[2] प्राप्त होते हैं॥२३॥

---

[1] अर्थात् जहाँ यथार्थतत्वको गोपन करनेके लिए उसका अन्य प्रकारसे वर्णन किया जाता है। इनमें शब्दार्थ कुछ और ज्ञात होता है जब कि तात्पर्यार्थ कुछ और ही होता है।

[2] मृत्युके उपरान्त मृत्युको प्राप्त होते है, अपने कर्मोंके द्वारा नरकमें पीड़ित होकर। (श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर)

वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे।
नैष्कर्म्यं लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः॥२४॥

पुनः जो कर्मफलोंमें अनासक्त होकर तथा ईश्वरमें कर्म समर्पित करते हुए वेदोक्त कर्माचरण करते हैं, वे कर्मसे मुक्त होकर नैष्कर्म्य सिद्धिको प्राप्त करते हैं। नैष्कर्म्य सिद्धि ही कर्मोंका वास्तविक फल है, अन्यान्य जो फलश्रुति हैं, वह केवलमात्र नैष्कर्म्यमें रुचि उत्पादन करनेके लिए वर्णित हुई हैं—ऐसा समझना चाहिये॥२४॥

श्रीमद्भा. ११/५/५ में आठवें योगीश्वर चमसने राजा निमिसे कहा—

विप्रो राजन्यवैश्यौ वा हरेः प्राप्ताः पदान्तिकम्।
श्रौतेन जन्मनाथापि मुह्यन्त्याम्नायवादिनः॥२५॥

हे राजन्! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य (उपनयन और वेदाध्ययन आदि द्वारा) श्रौत जन्म प्राप्तकर हरिभजनका अधिकार प्राप्त करते हैं। अधिकार प्राप्त करने अर्थात् श्रीहरिके पादपद्मोंको प्राप्त करने योग्य होनेपर भी यदि वे वेदार्थवादमें ही रत रहते हैं, तो मोहको प्राप्त होते हैं। कर्म मीमांसक इसी श्रेणीमें आते हैं॥२५॥

(श्रीमद्भा. ११/५/११)

लोके व्यवायामिषमद्यसेवा नित्या हि जन्तोर्न हि तत्र चोदना।
व्यवस्थितिस्तेषु विवाहयज्ञसुराग्रहैरासु निवृत्तिरिष्टा॥२६॥

वेदोंके अर्थवादमें निरत होकर वे लोग ऐसा सिद्धान्त स्थापित करते हैं कि स्त्रीसङ्ग, आमिष (मांस) भोजन एवं मद्यपान करनेके लिए वेदोंकी प्रेरणा है अर्थात् इन सभी क्रियाओंको करनेकी प्ररेणा देनेके लिए ही वेदोंमें इस प्रकारके यज्ञोंकी व्यवस्था दी गयी है। किन्तु वे यह नहीं जानते कि ये सभी प्रवृत्तियाँ जीव-जन्तुमात्रके (वास्तविक स्वभावमें नहीं, बल्कि) निसर्गगत स्वभावमें ही हैं—इसलिए वे प्रेरणाकी अपेक्षा नहीं रखती। इन

सभी प्रवृत्तियोंकी निवृत्तिके लिए ही विवाहके द्वारा स्त्रीसङ्ग, (सौत्रामणि आदि) यज्ञके माध्यमसे आमिष भोजन एवं सुरा-ग्रहणकी व्यवस्था वेदोंमें दी गयी है। अतएव निवृत्ति ही वेदोंका गूढ़ तात्पर्य है॥२६॥

(श्रीमद्भा. ११/५/१३-१५)

यद्घ्राणभक्षो विहितः सुरायास्तथा पशोरालभनं न हिंसा।
एवं व्यवायः प्रजया न रत्यै इमं विशुद्धं न विदुः स्वधर्मम्॥२७॥

क्रिया-विशेष अर्थात् किसी विशेष परिस्थितिमें मदके घ्राण (सूँघनेमात्र) को ही भक्षणके रूपमें कहा गया है और पशुओंका आलभन[१] (देवताके उद्देश्यसे पशुके किञ्चित् अङ्गका यज्ञमें छेदन) ही विधान है, पशु वध नहीं। इसी प्रकार स्त्रीसङ्ग भी केवल सन्तानोत्पत्तिके लिए विहित है, रतिक्रीड़ाके लिए नहीं। यह विशुद्ध वेदमत ही स्वधर्म है, परन्तु वेदार्थवादीगण इस निगूढ़ सिद्धान्तको जानते ही नहीं हैं॥२७॥

ये त्वनेवम्विदोऽसन्तः स्तब्धाः सदभिमानिनः।
पशून् द्रुह्यन्ति विश्रब्धाः प्रेत्य खादन्ति ते च तान्॥२८॥

जो व्यक्ति वेदोंके इस तात्पर्यको नहीं जानते, वे असत् (वास्तवमें धर्मके तत्त्वको नहीं जाननेवाले), स्तब्ध (अविनीत)

---

[१] श्रीचैतन्यचरितामृत (आ. १७/१६०-१६४) में श्रीमन् महाप्रभुके वचनोंको उद्धृत करते हुए श्रीलकविराज गोस्वामीने लिखा है कि—"जियाइते पारे यदि, तबे मारे प्राणी। वेद पुराणे आछे हेन आज्ञा वाणी।" अर्थात् वेद और पुराण केवल ऐसे व्यक्तिको ही पशुओंका वध करनेकी आज्ञा देते हैं, जो प्राणियोंको मारनेके उपरान्त पुनः उन्हें जीवित कर सकता हो।

ऐसी आज्ञा भी केवल वृद्ध पशुओंके सम्बन्धमें है, सभीके उद्देश्यसे नहीं। प्राचीन कालमें मुनि लोग वृद्ध पशुओंको मारकर वेदमन्त्रोंके द्वारा उन्हें युवा आकारमें पुनर्जीवित कर देते थे। ऐसा वध वध नहीं, बल्कि वृद्ध गैयाओंका उपकारमात्र है। किन्तु कलियुगके ब्रह्मणोंमें वैसी शक्ति नहीं होनेके कारण उन्हें प्राणी हिंसाका कोई अधिकार नहीं है।

और सदभिमानी (साधु होनेका अभिमान करनेवाले) हैं। ये लोग निर्भीक होकर पशुओंका वध करते हैं और इन लोगोंके मरनेके बाद वे पशु ही इन्हें खाते हैं॥२८॥

द्विषन्तः परकायेषु स्वात्मानं हरिमीश्वरम्।
मृतके सानुबन्धेऽस्मिन् बद्धस्नेहाः पतन्त्यधः॥२९॥

देखो! आत्मास्वरूप ईश्वर श्रीहरि (हमारे एवं अन्यान्य) सभी प्राणियोंके शरीरमें अवस्थान कर रहे हैं, किन्तु मूर्ख लोग (अन्योंके शरीरमें स्थित हरिके प्रति विद्वेष करके) अपने शवतुल्य अनित्य शरीरके पोषणके अभिप्रायसे पशुओंका वध करते हैं, जिसके फलस्वरूप वे देहमें आसक्त होकर अधःपतित हो जाते हैं॥२९॥

श्रीमद्भा. ११/११/१८-१९ में भगवान् श्रीकृष्ण उद्धवसे कहते हैं—

शब्दब्रह्मणि निष्णातो न निष्णायात् परे यदि।
श्रमस्तस्य श्रमफलो ह्यधेनुमिव रक्षतः॥३०॥

यदि कोई शब्द-ब्रह्मरूप वेदवाक्योंमें तो निष्ठा रखता है, परन्तु वेदतात्पर्यरूप परब्रह्ममें अवगाहन नहीं करता अर्थात् भगवान्‌की सेवामें अपने आपको सम्पूर्ण रूपसे नियुक्त नहीं करता, तो वेदवाक्योंमें उसका परिश्रम अर्थात् वेदाध्ययन वत्सहीन गायकी रक्षा करनेवाले व्यक्तिकी भाँति केवल श्रमफलको ही उत्पन्न करता है॥३०॥

गां दुग्धदोहामसतीं च भार्यां देहं पराधीनमसत्प्रजां च।
वित्तं त्वतीर्थीकृतमङ्गवाचं हीनां मया रक्षति दुःखदुःखी॥३१॥

दुग्धहीन गाय, असती (व्यभिचारिणी) पत्नी, पराधीन देह, असत् (दुष्ट) पुत्र, सत्पात्रके प्राप्त होनेपर भी दान न किया गया धन जिस प्रकार (इस जगत्‌में निन्दा तथा परलोकमें) दुःखका कारण होता है, उसी प्रकार जो व्यक्ति मुझे परित्याग करके

वेदाध्ययन करनेका प्रयास करता है, वह बहुत दुःखी होता है॥३१॥

श्रीमद्भा. ११/२१/३५-३६ में भगवान् श्रीकृष्ण उद्धवसे कहते हैं—

वेदा ब्रह्मात्मविषयास्त्रिकाण्डविषया इमे।
परोक्षवादा ऋषयः परोक्षं मम च प्रियम्॥३२॥

साधारण मनुष्यके अनुसार समस्त वेदवाक्य कर्मकाण्ड, देवताकाण्ड और यज्ञकाण्डरूप त्रिकाण्डविषयक हैं, किन्तु सम्यक रूपसे तात्पर्य समझनेपर यह बोध हो जाता है कि समस्त वेदवाक्य ही भगवद्भजनरूप ब्रह्मात्म-विषयक हैं। वेदके समस्त मन्त्र ही परोक्षवाद हैं अर्थात् जिस अर्थके रूपमें वे प्रतीत होते हैं, वास्तवमें वह उनका तात्पर्य नहीं होता। परमार्थ ही वेदोंका गूढ़ तात्पर्य है। मन्त्र-प्रणेता ऋषियोंने परोक्षको मेरा प्रिय जानकर परोक्षवादका ही अवलम्बन किया है॥३२॥

शब्दब्रह्म सुदुर्बोधं प्राणेन्द्रियमनोमयम्।
अनन्तपारं गम्भीरं दुर्विगाह्यं समुद्रवत्॥३३॥

वेदार्थवादीगण वेदार्थको सामान्य समझते हैं, किन्तु वास्तवमें शब्द-ब्रह्म (वेद-वचन स्वरूपतः और अर्थतः) सुदुर्बोध्य (अत्यन्त गूढ़) है। शब्द-ब्रह्मरूप वेद प्राण, इन्द्रिय और मनोमय होते हुए भी समुद्रकी भाँति अनन्तपार (सीमारहित), गम्भीर (गूढ़ार्थयुक्त) और दुर्विगाह्य (अचिन्त्य) हैं॥३३॥

(श्रीमद्भा. ११/२१/४२-४३)

किं विधत्ते किमाचष्टे किमनूद्य विकल्पयेत्।
इत्यस्या हृदयं लोके नान्यो मद् वेद कश्चन॥३४॥

समस्त वेदवाक्य (जीवोंके कर्त्तव्यके विषयमें) क्या कहना चाहते हैं? वेद वाणियोंकी तात्पर्ययुक्त चेष्टाएँ किस दिशा और किस (हृद्‌गत) अभिप्रायसे विकल्पात्मक अर्थात् सन्देहयुक्त वचनोंका

विधान करती हैं—ये सब मेरे अतिरिक्त और कोई नहीं जानता॥३४॥

मां विधत्तेऽभिधत्ते मां विकल्प्यापोह्यते त्वहम्।
एतावान् सर्ववेदार्थः शब्द आस्थाय मां भिदाम्।
मायामात्रमनूद्यान्ते प्रतिषिध्य प्रसीदति॥३५॥

वस्तुतः वेदवाक्य मुझे ही प्रतिपादित करते हैं, मेरी ही शुद्धभक्तिका विधान करते हैं और विकल्पात्मक (सन्देहयुक्त) वाक्यों द्वारा यही निराकरण करके दिखाते हैं कि मूलतः मैं ही सब कुछ हूँ—मुझसे पृथक् कुछ भी नहीं है।

वेद शब्द अर्थात् शब्द-ब्रह्मका अवलम्बन करके सर्वप्रथम भेदमय अर्थात् त्रिगुणात्मक विषय (कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग) जो मायामात्र हैं अर्थात् पारमार्थिक नहीं हैं, उसके द्वारा मुझे इङ्गितकर अर्थात् परोक्ष रूपसे मेरे विषयमें बतलाकर अन्तमें मायाद्वैत (मायावादियोंके अद्वैततत्त्व) का निषेध[१] करके अद्वय चित्स्वरूप मुझे स्थापित करके प्रसन्न होते हैं॥३५॥

श्रीमद्भा. ११/१९/३३-४४ में भगवान् श्रीकृष्णने उद्धवसे कहा—

अहिंसा सत्यमस्तेयमसङ्गो ह्रीरसंचयः।
आस्तिक्यं ब्रह्मचर्यं च मौनं स्थैर्यं क्षमाभयम्॥३६॥

वेदोंका अभिप्राय समझनेके लिए कुछेक शब्दोंके तात्पर्यको जाननेकी प्रयोजनीयता रहती है, अतः हे उद्धव! मैं तुम्हें शब्दार्थ कहता हूँ, तुम श्रवण करो—

अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना) असङ्ग अर्थात् अनासक्ति, लज्जा, असंचय, आस्तिकता, ब्रह्मचर्य, मौन, स्थिरता, क्षमा और (विधिके उल्लंघनमें) भय—ये बारह यम हैं॥३६॥

---

[१] मायाद्वैतका अर्थ मायावादियोंके निर्विशेषवादको निषेध करके भगवान्के चित्-स्वरूपका स्थापन है।

शौचं जपस्तपो होमः श्रद्धातिथ्यं मदर्चनम्।
तीर्थाटनं परार्थेहा तुष्टिराचार्यसेवनम्॥ ३७॥

अन्तःशौच, बहिःशौच, जप, तप, हवन, श्रद्धा, अतिथि-सेवा, भगवत्-अर्चन, तीर्थभ्रमण, परोपकारकी चेष्टा, तुष्टि (सन्तोष) तथा आचार्य-सेवा—ये बारह नियम कहे गये हैं॥ ३७॥

एते यमाः सनियमा उभयोर्द्वादश स्मृताः।
पुंसामुपासितास्तात यथाकामं दुहन्ति हि॥ ३८॥

हे उद्धव! उपरोक्त द्वादश यम और द्वादश नियमका पालन करनेसे मनुष्य अपनी कामनाओंके अनुरूप फल प्राप्त करते हैं॥ ३८॥

शमो मन्निष्ठता बुद्धेर्दम इन्द्रियसंयमः।
तितिक्षा दुःखसम्मर्षो जिह्वोपस्थजयो धृतिः॥ ३९॥

भगवत्-निष्ठिता बुद्धिका नाम ही 'शम' है, इन्द्रियोंके संयमका नाम 'दम' है, दुःखको सहन करनेका नाम 'तितिक्षा' है, जिह्वा तथा उपस्थ (जननेन्द्रिय) पर विजय प्राप्त करना ही 'धैर्य' है॥ ३९॥

दण्डन्यासः परं दानं कामत्यागस्तपः स्मृतम्।
स्वभावविजयः शौर्यं सत्यं च समदर्शनम्॥ ४०॥

दूसरोंके प्रति दण्ड-परित्यागका नाम 'दान' है, कामनाओंके त्यागका नाम 'तपस्या' है, स्वभावपर विजय प्राप्त करना 'शौर्य' है और समदर्शन ही 'सत्य' है॥ ४०॥

अन्यच्च सूनृता वाणी कविभिः परिकीर्तिता।
कर्मस्वसंगमः शौचं त्यागः संन्यास उच्यते॥ ४१॥

कवि सुनृत (कठोर होनेपर भी सत्यपर आधारित) वाणीको भी 'सत्य' कहते हैं। कर्ममें अनासक्तिका नाम 'शौच' है। संन्यासको ही 'त्याग' कहते हैं॥ ४१॥

धर्म इष्टं धनं नृणां यज्ञोऽहं भगवत्तमः।
दक्षिणा ज्ञानसंदेशः प्राणायामः परं बलम्॥४२॥

धर्म ही मनुष्यमात्रका अभीष्ट 'धन' है, मैं भगवान् ही 'यज्ञ' हूँ। ज्ञान (भगवत्-विषयक अनुभवको सन्देशके रूपमें किसीको) बताना ही 'दक्षिणा' है। प्राणायाम ही परम 'बल' है॥४२॥

भगो म ऐश्वरो भावो लाभो मद्भक्तिरुत्तमः।
विद्याऽऽत्मनि भिदा बाधो जुगुप्सा ह्रीरकर्मसु॥४३॥

मेरी ईश्वरता अर्थात् मेरे ऐश्वर्य आदि षड्गुण ही 'भग' है। मेरी भक्ति ही उत्तम 'लाभ' है। आत्म-वस्तु-भेदके त्यागका[१] नाम 'विद्या' है। अकर्मके प्रति घृणाको 'लज्जा' कहते हैं॥४३॥

श्रीर्गुणा नैरपेक्ष्याद्याः सुखं दुःखसुखात्ययः।
दुःखं कामसुखापेक्षा पण्डितो बन्धमोक्षवित्॥४४॥

निरपेक्षता आदि गुणोंका नाम 'श्री' (सौन्दर्य) है। सुख एवं दुःखके विनाश (अर्थात् सुख-दुःखमें एक समान रहने) का नाम ही 'सुख' है, काम-सुखकी अपेक्षाका नाम 'दुःख' है। बन्धन तथा मोक्षतत्त्वके विज्ञानको जाननेवाला ही 'पण्डित' है॥४४॥

मूर्खो देहाद्यहंबुद्धिः पन्था मन्निगमः स्मृतः।
उत्पथश्चित्तविक्षेपः स्वर्गः सत्त्वगुणोदयः॥४५॥

देह आदिमें अहं बुद्धि रखनेवाला ही 'मूर्ख' है। मेरे निगम अर्थात् मुझे सम्पूर्ण रूपसे प्राप्त करानेमें समर्थ निवृत्तिमार्ग अथवा मेरी आज्ञाका पालन करना एकमात्र 'सच्चामार्ग' है, चित्तविक्षेप (बहिर्मुखता) 'उत्पथ' अर्थात् कुमार्ग है। सत्त्वगुणका उदय ही 'स्वर्ग' है (न कि इन्द्रलोक)॥४५॥

---

[१] आत्मवस्तुमें जिस भाव (मैं और मेरा) तथा जिस वस्तु (जड़वस्तु) की प्रतीति नहीं है, उनके प्रति आसक्तिके त्यागका नाम ही 'विद्या' है।

नरकस्तम उन्नाहो बन्धुर्गुरुरहं सखे।
गृहं शरीरं मानुष्यं गुणाढ्यो ह्याढ्य उच्यते॥४६॥

तमोगुणकी वृद्धि 'नरक' है। हे सखे! मैं ही एकमात्र 'बन्धु' तथा 'गुरु' हूँ। मनुष्यका शरीर 'घर' है। गुणोंसे युक्त व्यक्ति ही वास्तवमें 'धनवान' है॥४६॥

दरिद्रो यस्त्वसंतुष्टः कृपणो योऽजितेन्द्रियः।
गुणेष्वसक्तधीरीशो गुणसङ्गो विपर्ययः॥४७॥

असन्तुष्ट व्यक्ति 'दरिद्र' है। अजितेन्द्रिय व्यक्ति 'कृपण' है। प्राकृत गुणों अर्थात् विषयोंमें अनासक्त व्यक्ति 'ईश' (स्वाधीन अथवा सब कुछ करनेमें समर्थ) है। इसके विपरीत प्राकृत गुणों अर्थात् विषयोंमें आसक्त व्यक्ति ही 'अनीश' (पराधीन अथवा असमर्थ) है॥४७॥

वेद अति दुर्गम हैं, इसलिए जीवोंके उपकारके उद्देश्यसे उनके अर्थके सारका संग्रह करनेकी आवश्यकता उत्पन्न होनेपर सभी पुराणोंके भी सार श्रीमद्भागवतका जगत्‌में प्रादुर्भाव हुआ। इसका श्रीमद्भा. १२/४/४१-४३ में इस प्रकार वर्णन है—

पुराणसंहितामेतामृषिर्नारायणोऽव्ययः।
नारदाय पुरा प्राह कृष्णद्वैपायनाय सः॥४८क॥

स वै मह्यं महाराज भगवान् बादरायणः।
इमां भागवतीं प्रीतः संहितां वेदसम्मिताम्॥४८ख॥

इस पुराण संहिताको[१] श्रीनारायण ऋषिने पूर्वकालमें नारदको स्वयं सुनाया। श्रीनारदने कृष्णद्वैपायन श्रीवेदव्यासको इसका उपदेश किया। श्रीशुकदेव गोस्वामी परीक्षित् महाराजको इसका इतिहास बतलाते हुए कहने लगे—हे महाराज! उन्हीं बादरायण ऋषि (श्रील वेदव्यास) ने सर्व वेद-सम्मत इसी भागवती संहिताको प्रसन्न होकर मुझे प्रदान किया था॥४८॥

---

[१] श्रीमद्भागवत महापुराणरूपी संहिता।

इमां वक्ष्यत्यसौ सूत ऋषिभ्यो नैमिषालये।
दीर्घसत्रे कुरुश्रेष्ठ सम्पृष्टः शौनकादिभिः ॥४९॥

हे कुरुश्रेष्ठ! शौनकादि ऋषियोंके पूछे जानेपर नैमिषारण्य नामक पवित्र स्थानपर (श्रीलशुकदेव गोस्वामी आगे बैठे हुए सूत गोस्वामीका अङ्गुलि द्वारा निर्देश करते हुए कहने लगे कि) यह सूत दीर्घसत्र (दीर्घकालव्यापी यज्ञके समय) में श्रीमद्भागवत पुराणकी व्याख्या करेगा॥४९॥

श्रीमद्भा. १२/५/१ में श्रीशुकदेव गोस्वामी कहते हैं—

अत्रानुवर्ण्यतेऽभीक्ष्णं विश्वात्मा भगवान् हरिः।
यस्य प्रसादजो ब्रह्मा रुद्रः क्रोधसमुद्भवः ॥५०॥

जिनकी कृपासे श्रीब्रह्मा एवं जिनके क्रोधसे श्रीरुद्र उत्पन्न हुए, उन्हीं विश्वात्मा भगवान्‌का इस श्रीमद्भागवतमें निरन्तर वर्णन किया गया है॥५०॥

श्रीमद्भागवत सर्वपुराण-सूर्य हैं। श्रीमद्भा. १/३/४१ में इसीका वर्णन करते हुए श्रीसूत गोस्वामी कहते हैं—

तदिदं ग्राहयामास सुतमात्मवतां वरम्।
सर्ववेदेतिहासानां सारं सारं समुद्धृतम्॥५१॥

समस्त वेद तथा रामायण-महाभारत आदि इतिहासकी सार कथाओंका संग्रह करके श्रीमद्भागवत उदित हुआ है। श्रीवेदव्यासने इस ग्रन्थका संग्रह करके आत्मविद्-शिरोमणि अपने पुत्र श्रीशुकदेवको इसकी शिक्षा प्रदान की थी॥५१॥

(श्रीमद्भा. १/३/४३)

कृष्णे स्वधामोपगते धर्मज्ञानादिभिः सह।
कलौ नष्टदृशामेषः पुराणार्कोऽधुनोदितः ॥५२॥

श्रीगोलोक-वृन्दावनपति श्रीकृष्णचन्द्रने जब अपनी प्रपञ्चगत लीलाको अप्रकट कर लिया, तब जीवोंके कल्याणके लिए

श्रीकृष्णके प्रतिनिधि स्वरूप यह पुराण-भास्कर श्रीमद्भागवत धर्म, ज्ञान आदि सहित कलिकालके (तत्त्वके दर्शनमें अक्षम) नष्ट-दृष्टि-पुरुषोंकी प्रयोजन-सिद्धिके अभिप्रायसे सम्प्रति उदित हुए हैं॥५२॥

श्रीमद्भा. १२/१३/१४ में श्रीसूतने कहा—

राजन्ते तावदन्यानि पुराणानि सतां गणे।
यावद् भागवतं नैव श्रूयतेऽमृतसागरम्॥५३॥

इति श्रीमद्भागवतार्कमरीचिमालायां प्रमाणनिर्देशे ग्रन्थसूचनानाम प्रथमः किरणः॥

साधु समाजमें अन्यान्य पुराणोंकी तभी तक प्रधानता रहती है, जब तक इस भागवत पुराणका शुद्ध साधुओंके मुखसे श्रवण नहीं होता। सचमुचमें श्रीमद्भागवत अमृतका सागरस्वरूप है।

तात्पर्य यह है कि परमार्थ निरूपणमें वेद ही एकमात्र प्रमाण हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान इत्यादि प्राकृत प्रमाण अप्राकृत विषयमें कार्य नहीं कर सकते। प्रत्यक्ष, अनुमान इत्यादिको अवलम्बन करके जो पारमार्थिक शास्त्र प्रकट हुए हैं, उनसे जीवका मङ्गल विधान नहीं हो सकता। अप्राकृत ज्ञानका निरूपण एकमात्र अपौरुषेय वेद ही कर सकते हैं, परन्तु वेद भी दुर्बोध्य हैं, विशेषतः कलियुगमें। इसलिए परम कारुणिक भगवान् नारायणने (इस श्रीमद्भागवत पुराणमें समस्त वेद और वेदान्तका अर्थ संग्रहकर) जीवोंके मङ्गलके लिए सर्वप्रमाणसार श्रीमद्भागवतको अर्पित किया है। एकमात्र पारमहंसी संहितारूप इस श्रीमद्भागवत पुराणको सौभाग्यवान जीव पारमार्थिक विषयोंके प्रमाणस्वरूप स्वीकार करें (श्रील भक्तिविनोद ठाकुर)॥५३॥

प्रथम किरणकी 'मरीचिप्रभा' नामक गौड़ीय व्याख्याका भावानुवाद समाप्त॥

द्वितीय किरण

भागवतार्कोदय

(श्रीमद्भागवतरूपी सूर्यका उदय)

गौराङ्गकृपया यस्य तत्त्वं भागवतोदितम्।
सम्प्राप्तं हृदये वन्दे सार्वभौम महाशयम्॥
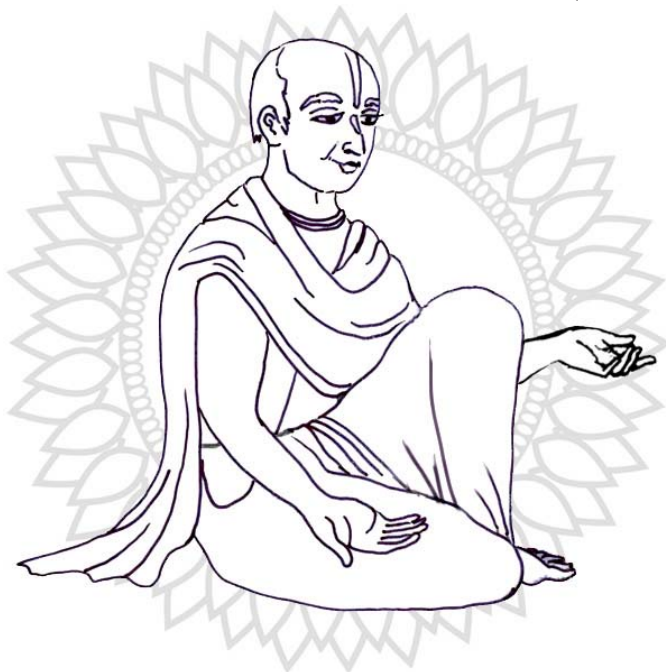
मैं उन श्रीसार्वभौम महाशयकी वन्दना करता हूँ, जिनके हृदयमें श्रीगौराङ्ग महाप्रभुकी कृपासे प्राप्त श्रीमद्भागवतका तत्त्व सम्पूर्ण रूपमें उदित हुआ था।

श्रीकृष्णचैतन्यचन्द्राय नमः

(श्रीमद्भा. १/१/२)

धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सतां
वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम्।
श्रीमद् भागवते महामुनिकृते किं वा परैरीश्वरः
सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात्॥१॥

महामुनि नारायणकृत इस श्रीमद्भागवतमें निर्मत्सर अर्थात् सर्वभूतदया-मण्डित साधु-भक्तोंके लिए प्राप्य सम्पूर्ण कपटतारहित वेदाभिधेयरूप परम धर्म (शुद्धभक्ति) का उपदेश दिया गया है। जीवोंके त्रितापको नष्ट करनेवाले, शिवद (कल्याणप्रद) यथार्थवस्तुका ज्ञानरूप सम्बन्धज्ञान भी इससे जाना जाता है। त्रिगुणमयी मायावृत्ति अविद्यामें अभिनिवेशका होना ही त्रिताप है। स्वरूपभ्रम एक प्रकारका ताप है, कृष्ण-बहिर्मुखता दूसरे प्रकारका ताप है, जड़देहमें आत्माभिमान तीसरे प्रकारका ताप है। श्रीकृष्ण ही अद्वयवस्तु हैं—यही यथार्थवस्तुका ज्ञान है। कृष्णकी चित्-शक्ति, जीवशक्ति और मायाशक्ति ही यथार्थ अथवा यथार्थवस्तु-सम्बन्धी तत्त्व है, इसे सुष्ठु रूपसे जान लेनेपर ही सम्बन्धज्ञान होता है। इसमें जीव नित्य सेवक और श्रीकृष्ण नित्यसेव्य हैं। प्राचीन भक्ति-सुकृतिजनित सेवा-भावनाके उदय होनेपर इस ग्रन्थके (अनुशीलनके द्वारा) अतिशीघ्र (अन्य जन्मादिकी अपेक्षा न कर) तत्क्षणात् (ज्ञान, कर्म आदि) अन्य उपायोंकी अपेक्षा न करके, जीवोंके हृदयमें प्रयोजनरूप प्रेम-रज्जुसे श्रीकृष्ण आबद्ध हो जाते हैं। अतएव श्रीमद्भागवतके अतिरिक्त अन्य शास्त्रोंसे क्या प्रयोजन है? ॥१॥

श्रीमद्भा. १/४/१४-१५ में श्रीसूत गोस्वामीने कहा—

द्वापरे समनुप्राप्ते तृतीयेयुगपर्यये।
जातः पराशराद्योगी वासव्यां कलया हरेः॥२॥

चार युगोंमेंसे यथाक्रम तृतीय युग द्वापरकी अन्तिम सन्ध्याके भी अन्तिम भागमें श्रीकृष्णकी शक्तिकला प्राप्त योगी वेदव्यासने पराशर ऋषि द्वारा वासवी (उपरिचर वसुके औरससे उत्पन्न कन्या सत्यवती) के गर्भसे जन्म ग्रहण किया था॥२॥

स कदाचित् सरस्वत्या उपस्पृश्य जलं शुचिः।
विविक्त एक आसीन उदिते रविमण्डले॥३॥

किसी एक दिन वे (श्रीव्यासदेव) सरस्वतीके जलमें स्नान करके पवित्र हुए तथा सूर्योदयके समय किसी एक एकान्त स्थानपर बैठे॥३॥

(श्रीमद्भा. १/४/१६, १८, १९)

परावरज्ञः स ऋषिः कालेनाव्यक्तरंहसा।
युगधर्मव्यतिकरं प्राप्तं भुवि युगे युगे॥४॥

दुर्भगांश्च जनान् वीक्ष्य मुनिर्दिव्येन चक्षुषा॥५क॥
व्यदधाद् यज्ञसन्तत्यै वेदमेकं चतुर्विधम्॥५ख॥

त्रिकालदर्शी ऋषि श्रीव्यासदेवने दिव्य चक्षुओं द्वारा कालके अव्यक्तवेगके कारण युग-युगमें युगधर्मका ह्रास तथा जन-साधारणको अपने दिव्य चक्षुओं द्वारा दुर्भागा देखकर कृपापूर्वक उनके उपकारके लिए वैदिक यज्ञका विस्तार करनेकी भावनासे एक वेदको चार भागोंमें विभाजित किया॥४-५॥

(श्रीमद्भा. १/४/२०-२२)

ऋग्यजुः सामाथर्वाख्या वेदाश्चत्वार उद्धृताः।
इतिहासपुराणञ्च पञ्चमो वेद उच्यते॥६॥

उन्होंने ऋक, यजु, साम एवं अथर्व—इन चार वेदोंका उद्धार (विभाग) किया तथा इतिहास एवं पुराणको पञ्चम वेदका नाम प्रदान किया॥६॥

तत्रर्ग्वेदधरः पैलः सामगो जैमिनिः कविः।
वैशम्पायन एवैको निष्णातो यजुषामुतः॥७॥

उनमेंसे पैल ऋग्वेदमें, कवि जैमिनी सामवेदमें और वैशम्पायन यजुर्वेदमें पारङ्गत हुए॥७॥

अथर्वाङ्गिरसामासीत् सुमन्तुर्दारुणो मुनिः।
इतिहासपुराणानां पिता मे रोमहर्षणः॥८॥

अथर्ववेदमें दारुण[१] सुमन्तमुनि और इतिहास-पुराणमें मेरे पिता रोमहर्षण पारङ्गत हुए॥८॥

(श्रीमद्भा. १/४/२५)

स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।
कर्मश्रेयसी मूढानां श्रेयः एवं भवेदिह।
इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम्॥९॥

ऋक, साम एवं यजु—ये तीन वेद स्त्रियों, शूद्रों एवं विप्रकुलमें उत्पन्न मूढ़ द्विजबन्धुओंके गोचर नहीं हैं, अतएव कर्म ही जिन सभी मूढ़ व्यक्तियोंके लिए श्रेयस्कर है, उनके उपकारके लिए कृपापूर्वक श्रीव्यास मुनिने महाभारत नामक ग्रन्थकी रचना की॥९॥

(श्रीमद्भा. १/४/२७)

नातिप्रसीदद्धृदयः सरस्वत्यास्तटे शुचौ।
वितर्कयन् विविक्तस्थ इदञ्चोवाच धर्मवित्॥१०॥

इतना सब (वेदविभाग और महाभारतकी रचना) करनेपर भी श्रीव्यासजीका हृदय प्रसन्न नहीं था, इसलिए श्रीसरस्वती नदीके तटपर निर्जनमें बैठकर धर्मज्ञ व्यासदेव मन-ही-मन विचार करते हुए अपने आपसे कहने लगे—॥१०॥

---

[१] अथर्ववेदमें बताये गये अभिचार कर्म अर्थात् तन्त्रोक्त मारण, मोहन, उच्चाटन आदि अनुष्ठानमें प्रवृत्त होनेके कारण सुमन्तमुनिको दारुण अर्थात् निष्ठुर कहा जाने लगा था।

(श्रीमद्भा. १/४/३०)

तथापि बत मे दैह्यो ह्यात्मा चैवात्मना विभुः।
असम्पन्न इवाभाति ब्रह्मवर्चस्यसत्तमः ॥११॥

अहो! मैं ब्रह्मतेजसे सम्पन्न होनेके कारण अतिश्रेष्ठ हूँ तथा मैंने स्वतःसिद्ध ज्ञान भी प्राप्त कर लिया है; तथापि मेरा जीवात्मा परमात्माके कृपा-प्रसादके अभावमें असम्पन्नप्राय अर्थात् अपूर्णकाम अनुभव क्यों कर रहा है?॥११॥

(श्रीमद्भा. १/४/३२)

तस्यैवं खिलमात्मानं मन्यमानस्य खिद्यतः।
कृष्णस्य नारदोऽभ्यागादाश्रमं प्रागुदाहृतम्॥१२॥

इस प्रकारसे वेदव्यास अपने आपमें खेद कर ही रहे थे कि उसी समय उनके आश्रममें श्रीनारद उपस्थित हुए॥१२॥

श्रीमद्भा. १/५/४ में श्रीनारदने कहा—

जिज्ञासितमधीतं च ब्रह्म यत्तत् सनातनम्।
तथापि शोचस्यात्मानमकृतार्थ इव प्रभो॥१३॥

आपने सनातन वेदधर्मका विचारपूर्वक अध्ययन किया है, तथापि हे प्रभो! अकृतार्थके समान किसलिए इतना शोकयुक्त हो रहे हो?॥१३॥

श्रीमद्भा. १/५/५ में श्रीव्यासने कहा—

अस्त्येव मे सर्वमिदं त्वयोक्तं तथापि नात्मा परितुष्यते मे।
तन्मूलमव्यक्तमगाधबोधं पृच्छामहे त्वात्मभवात्मभूतम्॥१४॥

हे प्रभो! यद्यपि आपके द्वारा कथित यह सब ज्ञान मुझे निश्चित रूपसे प्राप्त हुआ है, तथापि मेरी आत्मा सन्तुष्ट नहीं हो रही है। हे ब्रह्मनन्दन! इस अवस्थामें जो मूल दुर्बोध्य अव्यक्त (अर्थात् मेरी आत्माकी अप्रसन्नताका गूढ़) कारण क्या है, मैं

नहीं जानता, अतएव आप कृपया उसे बताइये। मैं आपसे जिज्ञासा कर रहा हूँ॥१४॥

श्रीमद्भा. १/५/८-९ में श्रीनारदने कहा—

भवतानुदितप्रायं यशो भगवतोऽमलम्।
येनैवासौ न तुष्येत मन्ये तद्दर्शनं खिलम्॥१५॥

हे बादरायण! आपने भगवान्‌के अमल यशका स्पष्ट रूपसे वर्णन नहीं किया है। मैं निश्चित रूपसे समझ रहा हूँ, इसी न्यूनताके कारण आपकी आत्मा सन्तुष्ट नहीं हो रही है॥१५॥

यथा धर्मादयश्चार्था मुनिवर्यानुकीर्तिताः।
न तथा वासुदेवस्य महिमा ह्यनुवर्णितः॥१६॥

हे मुनिवर्य! आपने पुराणों और महाभारतादिमें धर्मादि चारों पुरुषार्थोंका जिस प्रकार विस्तारसे वर्णन किया है, उस प्रकारसे आपने भगवान् श्रीवासुदेवकी महिमाका वर्णन नहीं किया है॥१६॥

(श्रीमद्भा. १/५/१२-१४)

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम्॥१७॥

नैष्कर्म्यरूप ब्रह्मज्ञान अच्युत भाव (अर्थात् कृष्णभक्ति) से रहित होनेपर निर्मल होनेपर भी शोभायमान नहीं होता, क्योंकि इसमें चित्-विलास-वैचित्र्य नहीं रहता। तो फिर स्वभावसे ही जो कर्म अभद्र है, वह निष्काम (अहैतुक) होनेपर भी भगवान्‌को अर्पित न होनेसे किस प्रकार सुशोभित हो सकते हैं? तात्पर्य यह है कि कर्म जड़देहाश्रित है तथा कर्मका फल भी जड़मय है। अतः ऐसे कर्म चिन्मय जीवोंके लिए नितान्त अभद्र (अमङ्गलकारी) ही हैं। यदि वह कर्म अकाम भी क्यों न हो, तो भी उससे साक्षात् कोई चिन्मय फल प्राप्त नहीं होता। यदि कर्म भक्तिका फल हो, तभी वह कर्म ईश्वरार्पित होकर निर्दोष तथा गौण रूपमें

सुफल प्रदान करनेवाला होता है। कर्मरहित चिन्मात्राश्रित ज्ञान भी सम्पूर्ण नहीं होता, बल्कि कभी-कभी सम्पूर्ण रूपसे भक्तिका विरोधी बन जाता है। ज्ञान जब चित्-विलासमयी भक्तिका सेवक होता है, तब भक्तिके साथ उसकी तन्मयता सिद्ध होती है॥१७॥

अथो महाभाग भवानमोघदृक् शुचिश्रवाः सत्यरतो धृतव्रतः।
उरुक्रमस्याखिलबन्धमुक्तये समाधिनानुस्मर तद्विचेष्टितम्॥१८॥

हे महाभाग (व्यासदेव)! आपकी दृष्टि अमोघ है, आपका यश निर्मल है, आप सत्यपरायण एवं दृढ़व्रत हैं। अतएव आप अपनी चित्-सत्ताको जड़ाभिमान सत्तासे भक्तिसमाधिके द्वारा पृथक् करनेपर चिन्मय कृष्णलीलाका दर्शन कर पायेंगे। अखिल जीवोंको भव-बन्धनसे मुक्त करानेके लिए उरुक्रम (महापराक्रमशाली) भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाओंका अनुसन्धान करें॥१८॥

ततोऽन्यथा किञ्चन यद्विवक्षतः पृथग्दृशस्तत्कृतरूपनामभिः।
न कर्हिचित्क्वापि च दुःस्थिता मतिर्लभेत वाताहतनौरिवास्पदम्॥१९॥

आपने यह सब न करके कृष्णलीला आदिका पुराणों एवं महाभारतमें जो वर्णन किया है, उसमें (वर्णित श्रीकृष्णको कुछ-कुछ मायाच्छन्नकर) शुद्ध सच्चिदानन्द आत्मस्वरूप श्रीकृष्णसे पृथक् रूपमें दर्शन कराया है। इस पृथक्-दृष्टिजनित जो श्रीकृष्णके नाम, रूपादिका वर्णन किया है, वह भी विशुद्ध एवं चिन्मय रूपमें प्रकाशित नहीं हुआ है। अतएव उसका अध्ययनकर जड़बुद्धिसम्पन्न लोगोंका चित्त चित्-वस्तुका आश्रय उस प्रकार ग्रहण नहीं कर सकता, जिस प्रकार वायुके झोंकेसे डगमगाती हुई नौका स्थिर नहीं रह सकती॥१९॥

(श्रीमद्भा. १/५/१६-२०)

विचक्षणोऽस्यार्हति वेदितुं विभोरनन्तपारस्य निवृत्तितः सुखम्।
प्रवर्तमानस्य गुणैरनात्मनस्ततो भवान् दर्शय चेष्टितं विभो॥२०क॥

यदि आप कहते हैं कि सम्पूर्ण चिन्मयी लीलाका वर्णन करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि जो लोग चित्-अचित् विचारके विषयमें विचक्षण हैं, वे देहात्माभिमानसे निवृत्त होकर क्रमशः गुरुकृपासे चित्-विलासका दर्शन कर सकेंगे। फिर भी मैं कहता हूँ कि अनन्तपारस्वरूप श्रीकृष्णके भक्तिपथके निवृत्ति सुखसे अभिज्ञ व्यक्ति किसी समय गुरुकृपासे दर्शन कर सकते हैं, यह सत्य है, किन्तु जो अनात्मगुणमें स्थित हैं (जिन्हें आत्मतत्त्वकी उपलब्धि नहीं है) उनके लिए इस मार्गके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। अतः जैसे मैंने बतलाया है, आप तदनुसार कृष्णलीलाका वर्णन करें—इससे (आत्मतत्त्ववित् एवं देहात्माभिमानी) दोनोंका ही कल्याण होगा॥२०क॥

त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरेर्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि।
यत्र क्व वाभद्रमभूदमुष्य किं को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः॥२०ख॥

स्वधर्म (वर्णाश्रमधर्म) पर आश्रित रहना नितान्त अकिञ्चित्कर (हेय) है, क्योंकि स्वधर्म परित्याग करके श्रीहरिके चरणकमलोंका भजन करते-करते यदि किसी व्यक्तिका अपरिपक्व अवस्थामें पतन भी हो जाये, तब भी क्या कोई अमङ्गल होता है? नहीं, भगवत्कृपासे वह पुनः अपनी उसी अवस्थासे साधन करना आरम्भ कर देता है, जहाँपर उसने छोड़ा था और क्रमशः उन्नत होता जाता है। दूसरी ओर, स्वधर्मका पालन करनेवालेको यदि जड़जगत्का सुख प्राप्त हो भी जाये, तो भी उससे क्या लाभ? क्योंकि वह तो अनित्य है, उसमें आत्म कल्याण नहीं है॥२०ख॥

तस्यैव हेतोः प्रयतेत कोविदो न लभ्यते यद्भ्रमतामुपर्यधः।
तल्लभ्यते दुःखवदन्यतः सुखं कालेन सर्वत्र गभीररंहसा॥२१॥

ब्रह्मलोक पर्यन्त ऊपरके सात लोक एवं सुतलादि नीचेके सात लोक भ्रमण करनेसे भी जो चित्-सुख प्राप्त नहीं हो सकता, बुद्धिमान व्यक्ति केवल उसी नित्य-सुखकी प्राप्तिके लिए ही यत्न

करते हैं। ऐसे व्यक्ति जड़ीय सुखकी प्राप्तिके लिए किसी भी प्रकारका प्रयत्न नहीं करते, क्योंकि भीषण वेग-विशिष्ट काल ही सब समय दुःखकी भाँति कर्मियोंको प्राप्य जड़सुख भी प्रदान करता है। इसलिए उस जड़ीय सुखको प्राप्त करने हेतु प्रयत्न करनेकी क्या आवश्यकता है?॥२१॥

न वै जनो जातु कथञ्चनाव्रजेन्मुकुन्दसेव्यन्यवयदङ्ग संसृतिम्।
स्मरन्मुकुन्दाङ्घ्र्युपगूहनं पुनर्विहातुमिच्छेन्न रसग्रहो जनः॥२२॥

मुकुन्दसेवी पुरुष कभी भी कर्मियों और ज्ञानियोंके समान संसार दशा (आवागमन) को प्राप्त नहीं करते, क्योंकि वे भगवान् मुकुन्दके श्रीचरणकमलोंका वरण करके—उनका आश्रय करके नित्य निरन्तर उनका स्मरण करते हैं। वे रस ग्राही अर्थात् भगवत्-रस पान करनेवाले हैं, भगवत्-रस मिल जानेपर क्या वे इसका त्याग कर सकते हैं?॥२२॥

इदं हि विश्वं भगवानिवेतरो यतो जगत्स्थाननिरोधसम्भवाः।
तद्धि स्वयं वेद भवांस्तथापि ते प्रादेशमात्रं भवतः प्रदर्शितम्॥२३॥

यदि ऐसा कहो कि श्रीकृष्णलीला वर्णन करनेसे ही जड़मयी हो जायेगी, तो सुनिये—जिन श्रीकृष्णसे ही इस जगत्की सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय होता है, वे भगवान् ही इस सृष्ट जगत्के रूपमें प्रतिफलित हैं (अर्थात् श्रीकृष्णकी स्वरूपशक्तिसे अप्राकृत जगत्का विस्तार तथा उस स्वरूपशक्तिकी छाया मायाशक्ति द्वारा इस जड़जगत्का विस्तार होता है। इसलिए यह विश्व उस वास्तविक अप्राकृत जगत्का जो श्रीकृष्णसे अभिन्न है, उसका प्रतिबिम्ब है)। प्रतिफलन हेय होनेपर भी प्रतिबिम्बित भगवान् स्वरूपमें ही विराजमान रहता हैं। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं मधुर—ये रस चित्-जगत्में विचित्र रूपमें उपादेय हैं। इन्हीं रसोंका प्रतिफलन ही इस जगत्में जड़ीय जीव संसार है। इस प्रकारके प्रादेशिक (बिम्ब और प्रतिबिम्ब स्वरूप) तत्त्वका अवलम्बन करके आप

जो कुछ भी वर्णन करेंगे, वह समस्त भगवत्-लीला ही होगी। आप भगवान्‌के अंश हैं। आपकी आत्मामें उन-उन प्रतिफलित विषयोंका जो मूल ज्ञान है—उसीका अवलम्बन करें॥२३॥

(श्रीमद्भा. १/५/२२-२३)

इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य वास्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धदत्तयोः।
अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो यदुत्तमःश्लोकगुणानुवर्णनम्॥२४॥

हे व्यास! कवियों अर्थात् महाजनोंने यह निर्णय किया है कि बद्धजीवकी तपस्या, वेदाध्ययन, उत्तम-इष्ट अर्थात् सुष्ठु भावसे अनुष्ठित यज्ञ, वेदपाठ (स्पष्ट रूपसे वेद मन्त्रोंका उच्चारण), (ब्रह्म) ज्ञान एवं दान इत्यादि समस्त शुभ कार्योंका एकमात्र अविच्युत (नित्य) फल श्रीकृष्णका गुणानुवर्णन ही है॥२४॥

अहं पुरातीतभवेऽभवं मुने दास्याश्च कस्याश्चन वेदवादिनाम्।
निरूपितो बालक एव योगिनाम् शुश्रूषणे प्रावृषि निर्विविक्षताम्॥२५॥

पूर्व कल्पमें मैं दासीपुत्र था। चातुर्मास्यके समय बहुत-से भक्त योगी एक स्थानपर वास कर रहे थे। मेरी माँ उनके यहाँ दासीका काम करती थी। मैं उस समय बालक था। मेरी माँ ने मुझे भी उनकी सेवामें नियुक्त कर दिया॥२५॥

(श्रीमद्भा. १/५/२५-२६)

उच्छिष्टलेपाननुमोदितो द्विजैः सकृत्स्म भुञ्जे तदपास्तकिल्बिषः।
एवं प्रवृत्तस्य विशुद्धचेतसस्तद्धर्म एवात्मरुचिः प्रजायते॥२६॥

मैं उन वैष्णवोंके जूठे बर्तनोंको साफ कर दिया करता था, एक दिन मैंने उन भक्तोंकी कृपा (अनुमति) से उनके भिक्षापात्रसे संलग्न वैष्णव-उच्छिष्ठ (जूँठन) को केवलमात्र एक बार भोजन किया था। इस प्रकारके कार्यमें लगे रहनेसे मेरे समस्त पाप विनष्ट हो गये। मैंने विशुद्ध चित्त होकर उनके द्वारा आचरित धर्ममें रुचि प्राप्त की॥२६॥

तत्रान्वहं कृष्णकथाः प्रगायतामनुग्रहेणाश्रृणवं मनोहराः।
ताः श्रद्धया मेऽनुपदं विश्रृण्वतः प्रियश्रवस्यङ्ग ममाभवद्रतिः॥२७॥

वहींपर वे भक्त कृष्णकथाका गान करते थे। उनकी कृपासे मैं भी प्रतिदिन उन मनोहारी कथाओंका श्रवण करता था। श्रद्धापूर्वक श्रवण करनेसे प्रियकीर्त्ति श्रीकृष्णमें मेरी रुचि उत्पन्न हो गयी॥२७॥

(श्रीमद्भा. १/५/३०)

ज्ञानं गुह्यतमं यत्तत् साक्षाद्भगवतोदितम्।
अन्ववोचन् गमिष्यन्तः कृपया दीनवत्सलाः॥२८॥

वर्षा समाप्त होनेपर जब वे उस स्थानसे जाने लगे, तब वे दीनवत्सल वैष्णवगण मेरे द्वारा जिज्ञासा न किये जानेपर भी मुझे साक्षात् भगवत्-उदित (जो उपदेश स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने अपने मुखसे किया है, उस) गुह्यतम ज्ञानका उपदेश दे गये॥२८॥

(श्रीमद्भा. १/५/३२)

एतत्संसूचितं ब्रह्मंस्तापत्रयचिकित्सितम्।
यदीश्वरे भगवति कर्म ब्रह्मणि भावितम्॥२९॥

हे ब्रह्मन्! आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक नामक तापत्रय-विनाशक ईश्वर भगवान् ब्रह्ममें कर्मार्पण-विषयक[१] तत्त्व मैंने आपको बतलाया॥२९॥

(श्रीमद्भा. १/५/३४-३६)

एवं नृणां क्रियायोगाः सर्वे संसृतिहेतवः।
त एवात्मविनाशाय कल्पन्ते कल्पिताः परे॥३०॥

मनुष्योंके सभी कर्म संसार-बन्धनके कारण होते हैं। परन्तु यदि कोई उन समस्त कर्मोंको परतत्त्व भगवान्के उद्देश्यसे अनुष्ठित

---

[१] अपने-अपने भावानुसार योगियोंके ईश्वर अर्थात् परमात्मामें, भक्तोंके षड्विध ऐश्वर्ययुक्त श्रीभगवान्में और ज्ञानियोंके उनके निर्विशेष-स्वरूप ब्रह्मके प्रति जो कर्म समर्पित होते हैं, मैंने आपको उसके विषयमें बतलाया है।

करता है, तब तो कर्मयोगका कर्मसत्ता स्वरूप कर्मपना ही जड़से नष्ट हो जाता है॥३०॥

यदत्र क्रियते कर्म भगवत्परितोषणम्।
ज्ञानं यत्तदधीनं हि भक्तियोगसमन्वितम्॥३१॥

श्रीहरिको प्रसन्न करनेवाले कर्म एवं भगवत्–अधीन भक्तियोग समन्वित ज्ञान ही अनुष्ठेय अर्थात् पालन करने योग्य हैं। इससे कर्म और ज्ञानके प्रतिकूल भाव दूर हो जाते हैं और भक्तिके अनुकूल भाव उदित होते है॥३१॥

कुर्वाणाः यत्र कर्माणि भगवच्छिक्षयाऽसकृत्।
गृणन्ति गुणनामानि कृष्णस्यानुस्मरन्ति च॥३२॥

भगवान् श्रीकृष्णने उद्धव और अर्जुनको जैसी शिक्षाएँ दी हैं, उन शिक्षाओंके अनुसार समस्त कर्मोंका निरन्तर आचरण करके जीवन निर्वाह करते हुए भगवान् श्रीकृष्णके नाम, गुण आदिका कीर्त्तन एवं अनुस्मरण करना ही प्रयोजन है (इस विचारको भलीभाँति समझनेके लिए एकादश किरणका अनुशीलन करना आवश्यक है।)॥३२॥

(श्रीमद्भा. १/६/३५–३६)

एतद्ध्यातुरचित्तानां मात्रास्पर्शेच्छया मुहुः।
भवसिन्धुप्लवो दृष्टो हरिचर्यानुवर्णनम्॥३३॥

पुनः–पुनः विषय–मात्रा (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) को पानेकी इच्छासे जीवका चित्त आतुर रहता है, ऐसी अवस्थामें श्रीकृष्णलीलाकथाका वर्णन (कीर्त्तन) ही भवसिन्धुसे पार करानेकी एकमात्र नौका है॥३३॥

यमादिभिर्योगपथैः कामलोभहतो मुहुः।
मुकुन्दसेवया यद्वत्तथाऽऽद्धात्मा न शाम्यति॥३४॥

यदि कहो कि अष्टाङ्गयोगका पथ ग्रहण करनेसे भी वही फल मिलता है अर्थात् भवसागरसे पार हुआ जा सकता है, तो सुनो— यम-नियमादि योगपथावलम्बी पुरुष बारम्बार काम, लोभ आदिके द्वारा चालित होकर अपने पथसे भ्रष्ट हो जाते हैं, किन्तु मुकुन्दसेवामें इतना सुख है कि कोई भी इसे छोड़कर विपथमें नहीं जाता। इससे आत्मा साक्षात् शाम्य (शान्ति) प्राप्त करती है। भगवन्निष्ठ बुद्धिका नाम 'शम' (शान्त) और उसका धर्म जो 'शाम्य' अर्थात् शान्ति प्रदान करना है, आत्मा उसे प्राप्त करता है॥३४॥

श्रीमद्भा. १/७/२-८ में श्रीसूत गोस्वामी कहा—

ब्रह्मनद्यां सरस्वत्यामाश्रमः पश्चिमे तटे।
शम्याप्रास इति प्रोक्त ऋषीणां सत्रवर्धनः॥३५॥

ब्रह्मनदी[1] रूप सरस्वतीके पश्चिम तटपर ऋषि-महर्षियोंके सत्र अर्थात् यज्ञविशेषकी उन्नतिको साधित करनेवाला शम्याप्रास नामक श्रीव्यासदेवका आश्रम है॥३५॥

तस्मिन् स्व आश्रमे व्यासो बदरीषण्डमण्डिते।
आसीनोऽप उपस्पृश्य प्रणिदध्यौ मनः स्वयम्॥३६॥

बेरके हरेभरे वृक्षोंसे मण्डित अपने उस आश्रममें व्यासजी स्नान करके आसनपर बैठे और उन्होंने अपने मनका प्रणिधान किया अर्थात् भक्तिभावसे चित्तको एकाग्र कर लिया॥३६॥

भक्तियोगेन मनसि सम्यक् प्रणिहितेऽमले।
अपश्यत् पुरुषं पूर्णं मायां च तदपाश्रयाम्॥३७॥

उनके निर्मल चित्तके भक्तियोगके द्वारा समाधिस्थ हो जानेपर उन्होंने पूर्णपुरुष भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन किया। श्रीकृष्णके दूरसे आश्रित अर्थात् दूरमें स्थित होनेपर भी जो भगवान्के अधीन है,

---

[1] वेद, ब्राह्मण, तपस्या और परमेश्वरसे सम्बन्धित होनेके कारण सरस्वतीको ब्रह्मनदी कहते है। (श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर)

स्वतन्त्र नहीं है, उस मायातत्त्वका भी दर्शन किया। परिपूर्ण कृष्णस्वरूपमें जो चित्-शक्ति नित्य विराजमान है, उसकी छायास्वरूप मायाको दूरमें स्थित देखा॥३७॥

यया सम्मोहितो जीव आत्मानं त्रिगुणात्मकम्।
परोऽपि मनुतेऽनर्थं तत्कृतञ्चाभिपद्यते॥३८॥

चित्-शक्तिके अणु-प्रकाशरूप जीवशक्ति अर्थात् तटस्थाशक्तिसे उत्पन्न चित्-कणस्वरूप जीवतत्त्वको देखा, जो मायाकी अपेक्षा श्रेष्ठ है। वे जीव माया द्वारा मोहित होकर अपनेको मायिक त्रिगुणात्मक तत्त्व मानते हैं॥३८॥

अनर्थोपशमं साक्षाद्भक्तियोगमधोक्षजे।
लोकस्याजानतो विद्वांश्चक्रे सात्त्वतसंहिताम्॥३९॥

उन्होंने यह भी देखा कि अधोक्षज कृष्णका भक्तियोग ही जीवके अनर्थोंके नाशका एकमात्र उपाय है। विद्वत्-प्रवर व्यासजीने अज्ञ लोगोंपर उपकार करनेके लिए इस सात्त्वत-संहिताको लिखा॥३९॥

यस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपूरुषे।
भक्तिरुत्पद्यते पुंसः शोकमोहभयापहा॥४०॥

श्रीमद्भागवत् रूप इस सात्त्वत-संहिताका श्रवण करनेसे जीवोंके हृदयमें परमपुरुष श्रीकृष्णकी ऐसी भक्तिका उदय होता है, जिससे शोक, मोह एवं भय अपने आप नष्ट हो जाते हैं॥४०॥

स संहितां भागवतीं कृत्वानुक्रम्य चात्मजम्।
शुकमध्यापयामास निवृत्तिनिरतं मुनिः॥४१॥

श्रीव्यासदेवने इस भागवती संहिताको क्रम विधान[१] पूर्वक

[१] श्रीव्यासदेवने श्रीनारदसे श्रीकृष्ण द्वारा प्रदान की गयी श्रीमद्भागवतको प्राप्त करके उसका प्रणयन किया अर्थात् उसे लिपिबद्ध किया तथा एकमात्र भगवद्भक्तिकी ही प्रधानता प्रस्तुत करनेहेतु क्रम विधान किया, न कि उसकी रचना की।

प्रस्तुत करके निवृत्तिपरायण (भोग-तृष्णारहित ब्रह्मानुभूति सम्पन्न) अपने पुत्र शुकदेवको अध्ययन कराया॥४१॥

(श्रीमद्भा. १/७/१०-११)

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥४२॥

भगवान् श्रीकृष्णमें एक ऐसी आकर्षणशक्ति है, जिसके द्वारा आकृष्ट होकर अविद्या-ग्रन्थिरहित आत्माराम मुनि भी उरुक्रम श्रीकृष्णकी अहैतुकी भक्ति करते हैं। तब जड़ाकृष्ट जीवोंके आकर्षणकी तो बात ही क्या?॥४२॥

हरेर्गुणाक्षिप्तमतिर्भगवान् बादरायणिः।
अध्यगान्महदाख्यानं नित्यं विष्णुजनप्रियः॥४३॥

ऐसे श्रीहरिके गुणोंके श्रवणसे आकर्षित होकर नित्य वैष्णवजनप्रिय अर्थात् वैष्णव ही जिन्हें अत्यन्त प्रिय लगते हैं अथवा जो वैष्णवोंके अत्यधिक प्रिय पात्र हैं, ऐसे व्यासनन्दन भगवान् श्रीशुकदेवने इस बृहदाख्यानका अध्ययन किया था॥४३॥

(श्रीमद्भा. १/२/३)

यः स्वानुभावमखिलश्रुतिसारमेकमध्यात्मदीपमतितितीर्षतां तमोऽन्धम्।
संसारिणां करुणयाह पुराणगुह्यं तं व्याससूनुमुपयामि गुरुं मुनीनाम्॥४४॥

इति श्रीमद्भागवतार्कमरीचिमालायां प्रमाणनिर्देशे
श्रीमद्भागवदार्कोदयो नाम द्वितीयः किरणः॥

संसारी होनेपर भी मायातमोअन्ध (घोर अज्ञानान्धकार) से उद्धार पानेकी इच्छा रखनेवाले व्यक्तियोंके लिए जिन्होंने इस आत्मसमाधिलब्ध, समस्त वेदोंके सार, आध्यात्मिक तत्त्वोंको प्रकाशित करनेवाले दीपकस्वरूप श्रीमद्भागवतका करुणापूर्वक

कीर्त्तन किया था, उन्हीं मुनियोंके गुरु व्यासपुत्र श्रीशुकदेवका हम अनुगमन करते है॥४४॥

इस अध्यायमें भागवतका मूल-तात्पर्य तथा उसके आविर्भावका इतिहास वर्णित हुआ है। इसमें कपटतारहित निर्मल भक्तिधर्मके विषयमें भी सूचना दी गयी है। कैतव (कपटता) क्षुद्र एवं बृहत् भेदसे दो प्रकारका होता है। यद्यपि लौकिक (धर्म, अर्थ और काम प्राप्ति) आदि तीन प्रकारकी इच्छाएँ भी क्षुद्र कपटताएँ हैं, किन्तु केवल सायुज्यरूप एकात्मता-सिद्धिके लिए प्रयास ही प्रधान कपट कहलाता है। शुद्ध भक्तियोगमें न तो (सायुज्यरूप एकात्मता-सिद्धिके लिए) कपटता रहती है और न ही किसी प्रकारकी सुखभोगकी इच्छा। (श्रील भक्तिविनोद ठाकुर)

द्वितीय किरणकी 'मरीचिप्रभा' नामक गौड़ीय व्याख्याका भावानुवाद समाप्त॥

तृतीय किरण

भागवत-विवृति

(श्रीमद्भागवतका विवरण)

वराहनगरानन्दं श्रीरघुनाथसंज्ञकम्।
श्रीमद्भागवताचार्यं वन्दे चैतन्य पार्षदम्॥

श्रीमद्भागवतास्वादो व्रजे यस्य सतां मुदे।
भट्टगोस्वामिनं वन्दे रघुनाथाभिधं हि तम्॥

श्रीमद्भागवताचार्य श्रीरघुनाथ

श्रीरघुनाथभट्ट गोस्वामी

मैं वराहनगरके आनन्दस्वरूप श्रीचैतन्य महाप्रभुके प्रिय पार्षद श्रीमद्भागवताचार्य श्रीरघुनाथकी वन्दना करता हूँ।

व्रजमें जिनके श्रीमद्भागवतके अर्थोंका आस्वादन सन्तोंके हृदयमें आनन्द उत्पन्न करता था, मैं उन्हीं श्रीरघुनाथभट्ट गोस्वामीकी भी वन्दना करता हूँ।

श्रीकृष्णचैतन्यचन्द्राय नमः

(श्रीमद्भा. १/१/३)

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्।
पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः॥१॥

निखिल निगम[१] अर्थात् वेद—कल्पवृक्ष हैं। ब्रह्मसूत्र इस कल्पवृक्षका फूल है। श्रीमद्भागवत इस वृक्षका फल है। चित्-जगत्में इस फलके परिपक्व होनेपर शुकदेव पक्षी बनकर इसे पृथ्वीपर ले आये। इसलिए यह फल शुकदेवके मुखामृत-द्रव अर्थात् अमृतरूपी लीलारसके सारसे संयुक्त है। कृष्णलीला ही इस भागवतरूप फलका रस है। हे भावुको! परमानन्द-निवृत्तिरूप रस अर्थात् परमानन्दके अन्तिम सीमारूप इस रसका लय[२] उपस्थित होने तक पुनः-पुनः पान करो। रसिक होनेपर अर्थात् इस रसको पान करनेका व्यसन लग जानेपर वह कभी भी क्षय नहीं होगा, बल्कि उत्तरोत्तर बढ़ता ही जायेगा। तब आप स्वयं ही बारम्बार दूसरे साधनोंको छोड़कर इसी भागवत रसका निरन्तर पान करोगे। साधन करनेपर भाव उदित होता है। स्थायीभावमें[३] सामग्री मिलनेसे रस बनता है। कृष्णलीला रसमय तत्त्व है। विभावमें स्वयंको स्थितकर (रस उत्पादनके हेतु स्वरूप विभावमें स्थित होकर) इस रसमें प्रवेश करो॥१॥

(श्रीमद्भा. १२/१३/१८-१९)

श्रीमद्भागवतं पुराणममलं यद् वैष्णवानां प्रियं
यस्मिन् पारमहंस्यमेकममलं ज्ञानं परं गीयते।

---

[१] सभी शाश्वत सत्यों तथा चरम तत्त्वोंको निगमन (प्रकाशित) करनेवाले शास्त्रको निगम अर्थात् वेद कहते हैं।

[२] लय अर्थात् जीवन्मुक्त अवस्था पर्यन्त अथवा रसास्वादनसे उत्पन्न अष्टम सात्त्विक भाव प्रलय पर्यन्त।

[३] अविरुद्ध अर्थात् अनुकूल तथा विरुद्ध अर्थात् प्रतिकूल भावोंको वशीभूत करके जो भाव श्रेष्ठ राजाकी भाँति सुशोभित होता है, वह स्थायीभाव कहलाता है।

तत्र ज्ञानविरागभक्तिसहितं नैष्कर्म्यमाविष्कृतं
तच्छृण्वन् सुपठन् विचारणपरो भक्त्याविमुच्येन्नरः॥२॥

साधारण पाठकोंके लिए कह रहे हैं—यह श्रीमद्भागवत निर्मल पुराण है। यह वैष्णवमात्रका प्रिय है। इसमें एक अमल (विशुद्ध) पारमहंस्य अर्थात् पारमहंसोंके द्वारा प्राप्य ज्ञानका वर्णन हुआ है। इसमें वैराग्यसे युक्त नैष्कर्म्यज्ञान[१] प्रकाशित हुआ है। श्रीमद्भागवतका श्रवण, पठन तथा विचार करते-करते भक्ति उदित होती है और इसके द्वारा जीवोंका मायाबन्धन दूर हो जाता है॥२॥

कस्मै येन विभासितोऽयमतुलो ज्ञानप्रदीपः पुरा
तद्रूपेण च नारदाय मुनये कृष्णाय तद्रूपिणा।
योगीन्द्राय तदात्मनाथ भगवद्राताय कारुण्यत-
स्तच्छुद्धं विमलं विशोकममृतं सत्यं परं धीमहि॥३॥

जिन्होंने इस अतुलनीय ज्ञान-प्रदीप श्रीमद्भागवतको पूर्वकालमें स्वयं ब्रह्माको, ब्रह्माने नारदको, नारदने वेदव्यासको, व्यासने योगीन्द्र शुकदेवको और शुकदेवने करुणापूर्वक परीक्षित्‌को बतलाया, उन्हीं शुद्ध, विमल, विशोक, अमृत तथा परम सत्य (भगवान्) का हम ध्यान करते हैं॥३॥

(श्रीमद्भा. १२/१३/१५)

सर्ववेदान्तसारं हि श्रीभागवतमिष्यते।
तद्रसामृततृप्तस्य नान्यत्र स्याद्रतिः क्वचित्॥४॥

यह श्रीमद्भागवत सर्ववेदान्त (वेद, पुराण, उपनिषद और वेदान्तसूत्र आदि सभी वैदिक शास्त्रों) का सार है। जो इस अमृतरसमें अवगाहनकर तृप्ति लाभ करते हैं, उन्हें अन्य किसी भी शास्त्रमें कभी रति नहीं हो सकती॥४॥

---

[१] नित्य कृष्णसेवा-कर्मरूपी सर्वोत्तम कर्मको करनेका अप्राकृत ज्ञान।

(श्रीमद्भा. १२/१३/११)

आदिमध्यावसानेषु वैराग्याख्यानसंयुतम्।
हरिलीलाकथाव्रातामृतानन्दितसत्सुरम् ॥५॥

श्रीमद्भागवतके आदि, मध्य तथा अन्तमें वैराग्य-आख्यान अर्थात् वैराग्य उत्पन्न करानेवाले उपाख्यान संयुक्त (सम्यक् रूपसे वर्णित) हुए हैं। इस महापुराणके अनेक स्थानोंपर श्रीहरिका लीलाकथा-समूहरूपी जो अमृत है, साधुपुरुष और देवता[१] उसका पानकर आनन्दित होते हैं॥५॥

श्रीमद्भा. १२/१२/५-४५ में श्रीसूत गोस्वामीने इस प्रकार बताया—

पारीक्षितमुपाख्यानं नारदाख्यानमेव च ॥६॥

प्रायोपवेशो राजर्षेर्विप्रशापात् परीक्षितः।
शुकस्य ब्रह्मर्षभस्य संवादश्च परीक्षितः ॥७॥

श्रीमद्भागवतमें परीक्षित्-उपाख्यान, नारद-आख्यान, विप्र (मुनिपुत्र) के शापको श्रवण करके परीक्षित् महाराज द्वारा लिये गये प्रयोपवेशन-व्रत और ब्रह्मर्षिप्रवर शुकके साथ परीक्षित्‌के संवाद आदिका वर्णन है॥६-७॥

योगधारणयोत्क्रान्तिः संवादो नारदाजयोः।
अवतारानुगीतञ्च सर्गः प्राधानिकोऽग्रतः ॥८॥

इस ग्रन्थमें योगधारणाके द्वारा शरीर त्यागकी विधि, नारद तथा ब्रह्माका संवाद, अवतारोंका वर्णन, प्राधानिक सर्ग (महत्तत्त्व आदिके क्रमसे प्राकृतिक सृष्टिकी उत्पत्ति) का वर्णन हुआ है॥८॥

विदुरोद्धवसंवादः क्षत्तृमैत्रेययोस्ततः।
पुराणसंहिताप्रश्नो महापुरुषसंस्थितिः ॥९॥

---

[१] श्रीहरिकी लीलाकथा ही अमृत है, उसका पान करके जो भक्त आनन्दित होते हैं, वे ही देवता हैं अर्थात् प्रस्तुत श्लोकमें स्वर्गलोकके देवताओंकी नहीं, बल्कि हरिकथारूपी अमृतका पान करनेवाले भक्तोंकी बात कही गयी है।

ततः प्राकृतिकः सर्गः सप्त वैकृतिकाश्च ये।
ततो ब्रह्माण्डसम्भूतिर्वैराजः पुरुषो यतः॥१०॥

कालस्य स्थूलसूक्ष्मस्य गतिः पद्मसमुद्भवः।
भुव उद्धरणेऽम्भोधेर्हिरण्याक्षवधो यथा॥११॥

ऊर्ध्वतिर्यगवाक्सर्गो रुद्रसर्गस्तथैव च।
अर्द्धनारीस्वरस्याथ यतः स्वायम्भुवो मनुः॥१२क॥

शतरूपा च या स्त्रीणामाद्या प्रकृतिरुत्तमाः।
संतानो धर्मपत्नीनां कर्दमस्य प्रजापतेः॥१२ख॥

अवतारो भगवतः कपिलस्य महात्मनः।
देवहूत्याश्च संवादः कपिलेन च धीमता॥१३॥

इसमें विदुर–उद्धवका संवाद, विदुर–मैत्रेय संवाद, पुराण–संहिताके विषयमें प्रश्न, महापुरुष (परमात्मा) की संस्थिति, प्राकृतिक सर्ग, सप्त वैकृतिक सर्ग, ब्रह्माण्ड उत्पत्ति, वैराज (विराट) पुरुषकी उत्पत्ति, स्थूल–सूक्ष्म कालगति, लोकपद्मकी उत्पत्ति, प्रलय समुद्रसे पृथ्वीका उद्धार करनेके लिए हिरण्याक्ष वध, देवता, पशु, पक्षी और मनुष्योंकी सृष्टि, रुद्रोंकी उत्पत्ति, अर्धनारी–नरकी उत्पत्ति अर्थात् स्वायम्भुव मनुकी कथा, स्त्रियोंकी आद्या प्रकृति, शतरूपाकी उत्पत्ति, मनुकी धर्मपत्नियोंकी सन्तान, कर्दम प्रजापतिकी सन्तान, महात्मा कपिलदेवका अवतार तथा कपिलदेवके साथ देवहूतिके संवादका वर्णन है॥९–१३॥

नवब्रह्मसमुत्पत्तिर्दक्षयज्ञविनाशनम्।
ध्रुवस्य चरितं पश्चात् पृथोः प्राचीनबर्हिषः॥१४॥

नारदस्य च संवादस्ततः प्रैयव्रतं द्विजाः।
नाभेस्ततोऽनुचरितमृषभस्य भरतस्य च॥१५॥

इसमें मरीचि आदि नौ ब्राह्मणोंकी उत्पत्ति, दक्ष–यज्ञका विध्वंस, ध्रुव–चरित्र, पृथु–चरित्र, प्राचीनबर्हि–चरित्र, नारद–संवाद, प्रियव्रत

और उनके पुत्रका चरित्र, नाभि, ऋषभ तथा भरतके चरित्रका वर्णन हुआ है॥१४-१५॥

द्वीपवर्षसमुद्राणां गिरिनद्युपवर्णनम्।
ज्योतिश्चक्रस्य संस्थानं पातालनरकस्थितिः॥१६॥

इसमें द्वीप, समुद्र, पर्वत, वर्ष, नदी आदिका वर्णन, ज्योतिश्चक्रका संस्थान और पाताल तथा नरककी स्थितिका वर्णन हुआ है॥१६॥

दक्षजन्म प्रचेतोभ्यस्तत्पुत्रीणां च संततिः।
यतो देवासुरनरास्तिर्यङ्नगखगादयः॥१७॥

इसमें प्रचेताओंसे दक्षका जन्म, दक्ष-पुत्रियोंकी सन्तान, देवता, असुर, नर, तिर्यक्, नाग, खगादिकी उत्पत्तिका वर्णन है॥१७॥

त्वाष्ट्रस्य जन्म निधनं पुत्रयोश्च दितेर्द्विजाः।
दैत्येश्वरस्य चरितं प्रह्लादस्य महात्मनः॥१८॥

इसमें वृत्रासुरकी उत्पत्ति और उनकी गति, दितिके पुत्रोंका जन्म तथा मरण, हिरण्यकशिपुका चरित्र तथा महात्मा प्रह्लादके चरित्रका वर्णन हुआ है॥१८॥

मन्वन्तरानुकथनं गजेन्द्रस्य विमोक्षणम्।
मन्वन्तरावताराश्च विष्णोर्हयशिरादयः॥१९॥

कौर्मं मात्स्यं नारसिंहं वामनं च जगत्पतेः।
क्षीरोदमथनं तद्वदमृतार्थे दिवौकसाम्॥२०॥

इसमें मन्वन्तरके सम्बन्धमें वर्णन, गजेन्द्र-मोक्ष, मन्वन्तावतार, विष्णुका हयशीर्ष अवतार, कूर्मावतार, मत्स्यावतार, नृसिंहावतार, वामनावतार, समुद्र मन्थन तथा देवताओंको अमृत पान कराना आदि विषयोंका वर्णन है॥१९-२०॥

देवासुरमहायुद्धं राजवंशानुकीर्त्तनम्।
इक्ष्वाकुजन्म तद्वंशः सुद्युम्नस्य महात्मनः॥२१॥

इलोपाख्यानमत्रोक्तं तारोपाख्यानमेव च।
सूर्यवंशानुकथनं शशादाद्या नृगादयः॥२२॥

सौकन्यं चाथ शर्यातेः ककुत्स्थस्य च धीमतः।
खट्वाङ्गस्य च मान्धातुः सौभरेः सगरस्य च॥२३॥

रामस्य कोशलेन्द्रस्य चरितं किल्बिषापहम्।
निमेरङ्गपरित्यागो जनकानाञ्च सम्भवः॥२४॥

रामस्य भार्गवेन्द्रस्य निःक्षत्रीकरणं भुवः।
ऐलस्य सोमवंशस्य ययातेर्नहुषस्य च॥२५॥

दौष्यन्तेर्भरतस्यापि शान्तनोस्तत्सुतस्य च।
ययातेर्ज्येष्टपुत्रस्य यदोर्वंशोऽनुकीर्तितः॥२६॥

यत्रावतीर्णो भगवान् कृष्णाख्यो जगदीश्वरः।
वसुदेवगृहे जन्म ततो वृद्धिश्च गोकुले॥२७॥

इसमें देवासुर-संग्राम, राजवंशानुकीर्त्तन, इक्ष्वाकुका जन्म तथा उनकी वंशावलीका वर्णन, सुद्युम्नके जन्मका वर्णन, इला-उपाख्यान, ताराका उपाख्यान, सूर्यवंशका वर्णन, शशाद तथा नृगादियोंकी कथा, सुकन्या तथा शर्यातिकी कथा, ककुत्स्थकी कथा, खट्वाङ्ग-चरित्र, मान्धाता-चरित्र, सौभरि-चरित्र, सगरकी कथा, कोशलेन्द्र रामका पापनाशक-चरित्र, निमिका अङ्ग-परित्याग, जनकका जन्म, परशुराम द्वारा पृथ्वीको क्षत्रिय रहित करना, ऐलका चरित्र, सोमवंशीय नहुष-ययाति-चरित्र, दुष्यन्तके पुत्र भरतका चरित्र, शान्तनु तथा उनके पुत्र भीष्मका चरित्र, ययातिके ज्येष्ठ पुत्र (यदु) की कथा अर्थात् यदुवंशानुकीर्त्तन। इसी वंशमें जगदीश्वर श्रीकृष्णने जन्म ग्रहण किया, श्रीकृष्णका वसुदेवके यहाँ जन्म ग्रहण करना और गोकुलमें बड़े होने आदि प्रसङ्गोंका वर्णन हुआ है॥२१-२७॥

तस्य कर्माण्यपाराणि कीर्तितान्यसुरद्विषः।
पूतनासुपयःपानं शकटोच्चाटनं शिशोः॥२८॥

तृणावर्तस्य निष्पेषस्तथैव बकवत्सयोः।
अघासुरवधो धात्रा वत्सपालावगूहनम्॥२९॥

धेनुकस्य सहभ्रातुः प्रलम्बस्य च संक्षयः।
गोपानाञ्च परित्राणं दावाग्नेः परिसर्पतः॥३०॥

दमनं कालियस्याहेर्महाहेर्नन्दमोक्षणम्।
व्रतचर्या तु कन्यानां यत्र तुष्टोऽच्युतो व्रतैः॥३१॥

प्रसादो यज्ञपत्नीभ्यो विप्राणाञ्चानुतापनम्।
गोवर्धनोद्धारणञ्च शक्रस्य सुरभेरथ॥३२॥

यज्ञाभिषेकं कृष्णस्य स्त्रीभिः क्रीडा च रात्रिषु।
शङ्खचूडस्य दुर्बुद्धेर्वधोऽरिष्टस्य केशिनः॥३३॥

अक्रूरागमनं पश्चात् प्रस्थानं रामकृष्णयोः।
व्रजस्त्रीणां विलापश्च मथुरालोकनं ततः॥३४॥

गजमुष्टिकचाणूरकंसादीनां तथा वधः।
मृतस्यानयनं सूनोः पुनः सान्दीपनेर्गुरोः॥३५॥

मथुरायां निवसते यदुचक्रस्य यत् प्रियम्।
कृतमुद्धवरामाभ्यां युतेन हरिणा द्विजाः॥३६॥

जरासन्धसमानीतसैन्यस्य बहुशो वधः।
घातनं यवनेन्द्रस्य कुशस्थल्या निवेशनम्॥३७॥

आदानं पारिजातस्य सुधर्म्मायाः सुरालयात्।
रुक्मिण्या हरणं युद्धे प्रमथ्य द्विषतो हरेः॥३८॥

यद्यपि असुररिपु श्रीकृष्णकी लीलाएँ अपार हैं, तथापि इस श्रीमद्भागवतमें पूतनाका स्तनपान, शिशु होनेपर भी शकट-भञ्जन, तृणावर्त-वध, बकासुर और वत्सासुरका वध, अघासुर वध, ब्रह्माके द्वारा वत्सपाल हरण, धेनुकासुर और प्रलम्बासुरका वध, दावाग्निसे गोपादियोंकी रक्षा, कालियसर्पका दमन, महासर्पसे नन्दबाबाका

उद्धार, कन्याओंका कात्यायनी व्रताचरण, इस व्रतसे श्रीकृष्णका सन्तोष, यज्ञपत्नियोंके प्रति प्रसन्नता, याज्ञिक ब्राह्मणोंका अनुताप, गोवर्धन-धारण, इन्द्र तथा सुरभि द्वारा श्रीकृष्णका अभिषेक, रात्रिमें गोपियों सहित श्रीकृष्णकी रासलीला, दुर्बुद्धि शङ्खचूड़, अरिष्ट तथा केशीका वध, अक्रूरका आगमन, राम-कृष्णका मथुरा प्रस्थान, व्रजदेवियोंका विलाप, (श्रीकृष्ण द्वारा) मथुरा-दर्शन, कुवलयापीड़ हाथी, मुष्टिक, चाणूर और कंसादिका वध, गुरु सान्दीपनि मुनिके मृत-पुत्रको लाना, यादवोंके साथ मथुरावास, उद्धव तथा बलदेवके द्वारा यत्नपूर्वक यदुवंशियोंके प्रिय कार्योंको सम्पन्न कराना, जरासन्ध द्वारा लायी हुई सेनाका वध, यवनेन्द्र (कालयवनादि) का वध, द्वारकापुरी बसाना, स्वर्गसे सुधर्मा सभा तथा पारिजातको लाना, द्वेषी राजाओंको युद्धमें हराकर रुक्मिणीका हरण—इन समस्त विषयोंका वर्णन हुआ है॥२८-३८॥

हरस्य जृम्भणं युद्धे बाणस्य भुजकृन्तनम्।
प्राग्ज्योतिषपतिं हत्वा कन्यानां हरणञ्च यत्॥३९॥

चैद्यपौण्ड्रकशाल्वानां दन्तवक्त्रस्य दुर्मतेः।
शम्बरो द्विविदः पीठो मुरः पञ्चजनादयः॥४०॥

माहात्म्यं च वधस्तेषां वाराणस्याश्च दाहनम्।
भारावतरणं भूमेर्निमित्तीकृत्य पाण्डवान्॥४१॥

इसमें श्रीशिवका जृम्भन, बाणासुरकी भुजाओंको काटना, प्रागज्योतिष्पति नरकासुरका वध करके उसके कारागारमें बन्द कन्याओंको द्वारका ले आना, शिशुपाल, पौण्ड्रक, शाल्व, दुर्मति दन्तवक्र, शम्बर, द्विविद, पीठ, मुर और पञ्चजन आदि दुष्ट असुरोंका वध, वाराणसीको जलाना, पाण्डवोंको निमित्त बनाकर भूमिके भार हरणका वर्णन हुआ है॥३९-४१॥

विप्रशापापदेशेन संहारः स्वकुलस्य च।
उद्धवस्य च संवादो वासुदेवस्य चाद्भुतः॥४२॥

यत्रात्मविद्या ह्यखिला प्रोक्ता धर्मविनिर्णयः।
ततो मर्त्यपरित्याग आत्मयोगानुभावतः॥४३॥

इसमें विप्र-शाप-छलसे अपने कुलका संहार, वासुदेवके साथ उद्धवका अद्भुत संवाद, जिसमें अखिलात्मविद्या तथा धर्म उपदिष्ट हुआ है। तत्पश्चात् आत्मयोगानुभवमें भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा मर्त्यलोकके परित्याग आदिका वर्णन है॥४२-४३॥

युगलक्षणवृत्तिश्च कलौ नृणामुपप्लवः।
चतुर्विधश्च प्रलय उत्पत्तिस्त्रिविधा तथा॥४४॥

देहत्यागश्च राजर्षेर्विष्णुरातस्य धीमतः।
शाखाप्रणयनमृषेर्मार्कण्डेयस्य सत्कथा॥
महापुरुषविन्यासः सूर्यस्य जगदात्मनः॥४५॥

इसमें युगके लक्षण, वृत्ति, कलियुगके लोगोंके व्यवहारका वर्णन, (नित्य, नैमित्तिक, प्राकृतिक तथा आत्यन्तिक नामक) चार प्रकारके प्रलय, (चित्सर्ग, जीवसर्ग और जड़सर्ग नामक) तीन प्रकारकी उत्पत्तिका वर्णन हुआ है। स्थिर बुद्धिवाले परीक्षित्का देहत्याग, वेद शाखा-प्रणयन, मार्कण्डेय ऋषिका पुण्य चरित्र, सूर्यके महापुरुष-विन्यास आदि प्रसङ्ग वर्णित हुए हैं॥४४-४५॥

(श्रीमद्भा. १२/१२/४७)

पतितः स्खलितश्चार्तः क्षुत्त्वा वा विवशो गृणन्।
हरये नम इत्युच्चैर्मुच्यते सर्वपातकात्॥४६॥

जो मनुष्य गिरते-पड़ते, फिसलते, भूखसे पीड़ित होनेपर, दुःखमें अथवा छींकते समय विवश होकर भी "हरये नमः" इस मन्त्रका उच्च स्वरसे उच्चारण करता है, वह सभी पापोंसे मुक्त हो जाता है॥४६॥

श्रीमद्भा. १२/१२/५०-५२ में श्रीसूत गोस्वामीने इस प्रकार कहा—

तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं तदेव शश्वन्मनसो महोत्सवम्।
तदेव शोकार्णवशोषणं नृणां यदुत्तमश्लोकयशोऽनुगीयते॥४७॥

उत्तम श्लोक श्रीकृष्णके यशका कीर्त्तन—सर्वदा परम रमणीय, सुन्दर, प्रतिक्षण नवनवायमान, सदैव चित्तका महोत्सवस्वरूप तथा सारे शोकरूपी अथाह समुद्रका शोषणकारी है॥४७॥

न तद्वचश्चित्रपदं हरेर्यशो जगत्पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित्।
तद् ध्वाङ्क्षतीर्थं न तु हंससेवितं यत्राच्युतस्तत्र हि साधवोऽमलाः॥४८॥

जिस स्थानपर जगत्को पवित्र करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णके यशका विशेष भावपूर्ण वचनों द्वारा गान नहीं होता, वह स्थान कौवोंके स्वभाववाले व्यक्तिके लिए ही क्रीड़ा भूमि है। परमहंस भक्तजन उसका सेवन नहीं करते हैं। जहाँ अच्युत विराजित हैं, वहीं अमल साधुगण निवास करते हैं॥४८॥

तत् वाग्विसर्गो जनताघसम्प्लवो यस्मिन् प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि।
नामान्यनन्तस्य यशोऽङ्कितानि यच्छृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः॥४९॥

भगवान्के वे यशसूचक वाक्य-विन्यास जीवोंके समस्त पापोंका विध्वंस कर देते हैं, जिनमें प्रत्येक श्लोक सुन्दर रूपसे रचित न होनेपर भी श्लोक-प्रतिश्लोक अनन्तस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णके यशोङ्कित नामोंसे विभूषित है। साधुगण उन्हीं नामोंका श्रवण तथा कीर्त्तन करते हैं॥४९॥

(श्रीमद्भा. १२/१२/५५)

अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः क्षिणोत्यभद्राणि च शमं तनोति।
सत्त्वस्य शुद्धिं परमात्मभक्तिं ज्ञानञ्च विज्ञानविरागयुक्तम्॥५०॥

श्रीकृष्णके युगलपादपद्मोंका नित्य-निरन्तर स्मरण करनेसे जीवोंके समस्त अभद्र अर्थात् अमङ्गलोंका क्षय हो जाता है और सब प्रकारके मङ्गलोंका विस्तार होता है, चित्त शुद्ध होता है, परमात्माकी भक्ति उदित होती है तथा विज्ञान और वैराग्ययुक्त ज्ञान प्राप्त होता है॥५०॥

(श्रीमद्भा. १२/१२/५९)

य एतत् श्रावयेन्नित्यं यामक्षणमनन्यधीः।
श्लोकमेकं तदर्धं वा पादं पादार्धमेव वा।
श्रद्धावान् योऽनुशृणुयात् पुनात्यात्मनमेव सः॥५१॥

जो व्यक्ति श्रीमद्भागवतके एक श्लोक, आधे श्लोक, श्लोकके एकपाद, श्लोकके आधेपादका श्रद्धावान होकर प्रहरकाल अथवा क्षणकालके लिए भी अनन्यचित्तसे श्रवण कराते हैं या श्रद्धापूर्वक श्रवण करते हैं, वे अपनी आत्माको पवित्र करते हैं॥५१॥

(श्रीमद्भा. १२/१२/६५)

विप्रोऽधीत्याप्नुयात् प्रज्ञां राजन्योदधिमेखलाम्।
वैश्यो निधिपतित्वञ्च शूद्रः शुद्ध्येत पातकात्॥५२॥

ब्राह्मण इस ग्रन्थका पाठ करनेसे प्रज्ञा अर्थात् भक्ति प्राप्त करते हैं, क्षत्रिय पाठ करनेसे समुद्रसे घिरी हुई पृथ्वीका राज्य प्राप्त करते हैं, वैश्य पाठ करनेसे निधिपति अर्थात् धनवान बनते हैं और शूद्र समस्त पापोंसे मुक्त होकर शुद्ध हो जाते हैं॥५२॥

(श्रीमद्भा. १२/१२/६८-६९)

उपचितनवशक्तिभिः स्व आत्मन्युपरचितस्थिरजङ्गमालयाय।
भगवत उपलब्धिमात्रधाम्नेसुरऋषभाय नमः सनातनाय॥५३॥

जिन्होंने पुरुष, प्रकृति आदि नौ शक्तियों द्वारा पुष्ट होकर स्थावर तथा जङ्गमके आलय स्वरूप अपनेको अर्थात् इस विश्वको रचित किया है, उन उपलब्धिमात्र स्वरूप सनातन भगवान् देवर्षभ (देवताओंके आराध्य) को हम नमस्कार करते हैं। पुरुष दो प्रकारके हैं—(१) ईश्वररूप पुरुष—चित्-शक्ति-अधिष्ठित तथा (२) जीवरूप पुरुष—जीवशक्ति परिणत। प्रकृति—महत्-तत्त्वादि तत्त्वसमूह मायाशक्ति हैं॥५३॥

स्वसुखनिभृतचेतास्तद्व्युदस्तान्यभावो–
ऽप्यजितरुचिरलीलाकृष्टसारस्तदीयम् ।
व्यतनुत कृपया यस्तत्त्वदीपं पुराणं
तमखिलवृजिनघ्नं व्याससूनुं नतोऽस्मि॥५४॥

जिन्होंने आत्मसुख द्वारा एकान्त चित्त होकर अन्यान्य लौकिक भावोंको सर्वदाके लिए दूर कर दिया था, जो भगवान् श्रीकृष्णकी सुन्दर लीलाओंके द्वारा आकृष्ट हो गये थे तथा जिन्होंने कृपापूर्वक इस तत्त्वदीपस्वरूप भागवत पुराणका विस्तार किया था, उन अखिल पाप विनाशक श्रीव्यासके पुत्र (श्रीशुकदेव गोस्वामी) को मैं प्रणाम करता हूँ॥५४॥

(श्रीमद्भा. १२/३/१४)

कथा इमास्ते कथिता महीयसां विताय लोकेषु यशः परेयुषाम्।
विज्ञानवैराग्यविवक्षया विभो वचोविभूतीर्न तु पारमार्थ्यम्॥५५॥

बड़े–बड़े महाराज इस लोकमें अपने यशका विस्तार करके परलोक गमन कर गये। पृथु, पुरुरवा आदि जिन–जिन राजाओंकी कथाका मैंने तुम्हारे निकट वर्णन किया है, हे परीक्षित्! यह सब वाग्–विभूतिमात्र हैं, परमार्थ नहीं, तथापि इनके इतिहाससे कुछ–कुछ ज्ञान और वैराग्यकी शिक्षा मिलती है, इसीलिए इनके चरित्रोंका मैंने वर्णन किया है॥५५॥

(श्रीमद्भा. १२/३/१५)

यस्तूत्तमःश्लोकगुणानुवादः संगीयतेऽभीक्ष्णममङ्गलघ्नः।
तमेव नित्यं शृणुयादभीक्ष्णं कृष्णेऽमलां भक्तिमभीप्समानः॥५६॥

इति श्रीमद्भागवतार्कमरीचिमालायां प्रमाणनिर्देशे
श्रीभागवतविवृतिर्नाम तृतीयः किरणः॥

श्रीमद्भागवतमें अमङ्गल दूर करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णका गुणानुवाद वर्णित हुआ है। जो लोग विशुद्ध कृष्णभक्ति प्राप्त करना चाहते हैं—वे केवल इसीका ही नित्य श्रवण करें॥५६॥

उपरोक्त दो श्लोकोंको लक्ष्य करके ही श्रीभागवतार्कमरीचिमाला ग्रथित हुई है। (श्रील भक्तिविनोद ठाकुर)

तृतीय किरणकी 'मरीचिप्रभा' नामक गौड़ीय व्याख्याका भावानुवाद समाप्त॥

चतुर्थ किरण

भगवत्स्वरूपतत्त्वम्

(भगवत्-स्वरूपके तत्त्वका निरूपण)

भगवत्पारतम्यं यत्कृष्णाख्यं पुरुषं परं।
पीतमानीतमत्रैव तमद्वैतप्रभुं भजे॥

मैं उन श्रीअद्वैताचार्य प्रभुका भजन करता हूँ, जिन्होंने भगवत्ताकी चरम सीमा, परमपुरुष भगवान् श्रीकृष्णको स्वर्णवर्णधारी श्रीचैतन्य महाप्रभुके रूपमें इस भूतलपर आविर्भूत कराया था।

श्रीकृष्णचैतन्यचन्द्राय नमः

श्रीमद्भा. १२/१३/१ में श्रीसूत गोस्वामी शौनकादि ऋषियोंसे कह रहे हैं—

यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवै–
र्वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः।
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः॥१॥

ब्रह्मा, वरुण, इन्द्र, रुद्र और मरुद्गण दिव्य–स्तुतियोंके द्वारा जिनका स्तव करते हैं, वेद, वेदाङ्ग[१], पदक्रम और उपनिषद्समूह सामगान द्वारा जिनका गुण–गान करते हैं, योगी समाधिके द्वारा ध्यानावस्थित होकर तल्लीन मनसे जिनका दर्शन करते हैं और सुर (देवता) तथा असुर जिनका अन्त नहीं पाते, उन परमेश्वर श्रीकृष्णको मैं नमस्कार करता हूँ॥१॥

(श्रीमद्भा. १/२/११)

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥२॥

तत्त्वविद्[२] पुरुष अद्वयज्ञानको[३] तत्त्व कहते हैं। चिन्मात्र ब्रह्म (निराकार ज्योति पुञ्ज) उस तत्त्वकी प्रथम प्रतीति है, चित्–विस्ताररूप (आकारयुक्त) परमात्मा उस तत्त्वकी द्वितीय प्रतीति है और चित्–विलासरूप (स्वयं स्वरूप) भगवान् उस तत्त्वकी तृतीय

---

[१] वेदोंको समझनेमें सहायता करनेवाले शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष नामक षड्‌गको वेदाङ्ग कहते हैं।

[२] वास्तव वस्तु सम्बन्धी तत्त्वको जाननेवाले।

[३] अद्वय अर्थात् एक अद्वितीय वास्तव वस्तु। ज्ञान अर्थात् तत्त्वविद् पुरुष अपने अधिकारानुसार उस अद्वय वस्तुको जिस प्रकारसे जानते हैं अर्थात् उस अद्वयवस्तुको ज्ञानियों द्वारा 'ब्रह्म', योगियों द्वारा 'परमात्मा' तथा भक्तों द्वारा 'भगवान्' कहा जाना ही ज्ञान है।

प्रतीति है। एक ही परम तत्त्वके तीन अवस्थाओंमें[१] तीन नाम है॥२॥

श्रीमद्भा. २/६/४० में श्रीब्रह्मा नारदसे कहते हैं—

विशुद्धं केवलं ज्ञानं प्रत्यक् सम्यगवस्थितम्।
सत्यं पूर्णमनाद्यन्तं निर्गुणं नित्यमव्ययम्॥३॥

ब्रह्म-प्रतीति—विशुद्ध, केवल चिन्मात्र, अपने प्रति चेष्टावान, सम्यक् (निःसन्देह) रूपसे स्थित, सत्यस्वरूप, पूर्ण, अनादि, अनन्त, सत्त्वादि गुणोंसे रहित, नित्य, अव्यय और क्षयोदयसे रहित होती है॥३॥

श्रीमद्भा. ३/३२/२६ में भगवान् कपिल माता देवहूतिसे कहते हैं—

ज्ञानमात्रं परं ब्रह्म परमात्मेश्वरः पुमान्।
दृश्यादिभिः पृथग्भावैर्भगवानेक ईयते॥४॥

परमात्म-प्रतीति इस प्रकारकी होती है—ज्ञान-विस्तृतिके क्रमसे परब्रह्म ब्रह्मकी अपेक्षा अधिक विकसित है। जो कुछ भी इस जगत्में स्थित है, वह सब परमात्मामें अवस्थित है। वे नियन्ता, परमपुरुष और परमात्मा हैं।

भगवत्-प्रतीति इस प्रकारकी होती है—दृश्य आदि जो कुछ भी है अथवा जो कोई भी है, उन सब वस्तुओं या व्यक्तियोंके पृथक्-पृथक् भावोंके द्वारा सर्व ऐश्वर्यपूर्ण एक अद्वितीय भगवान् ही प्रकाश पाते हैं॥४॥

---

[१] तीन अवस्थाएँ, यथा—चिन्मात्र, चित्-विस्तार और चित्-विलास। एक अद्वय अखण्ड ज्ञान-तत्त्व अर्थात् अद्वयज्ञान परमतत्त्व, अचिन्त्य अनन्त शक्तिसे युक्त, सच्चिदानन्द-विग्रह व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण ही विभिन्न अधिकारियोंके समक्ष विभिन्न रूपोंमें प्रकाशित होते हैं अर्थात् अपने अधिकारानुसार ज्ञानी उन्हें चिन्मात्र ब्रह्म, योगी चित्-विस्तार रूप परमात्मा तथा भक्त उन्हें चित्-विलास रूप भगवान् कहते हैं।

श्रीमद्भा. ५/१२/११ में जड़भरत महाराज रहूगणसे कहते हैं—

ज्ञानं विशुद्धं परमार्थमेकमनन्तरं त्वबहिर्ब्रह्म सत्यम्।
प्रत्यक् प्रशान्तं भगवच्छब्दसंज्ञं यद्वासुदेवं कवयो वदन्ति॥५॥

विशुद्ध (गुणातीत), परमार्थ (मोक्षप्रद) ज्ञान, भेद रहित (अद्वितीय), सर्वव्यापक, सत्य, प्रत्यग्दशावस्थ (सभी जीवोंके हृदयमें विराजमान), प्रशान्त, ब्रह्मको क्रोड़ीभूत करनेवाले भगवत्-शब्दसे कथित एकतत्त्वको तत्त्वविद् पुरुष 'वासुदेव' कहते हैं। तात्पर्य यह है कि ब्रह्म-प्रतीति तथा परमात्म-प्रतीतिको स्वयंमें अन्तर्भुक्त करके जो परमतत्त्व प्रकाशित होता है, वही भगवान् वासुदेव है॥५॥

वे ही श्रीवासुदेव जब श्रीदेवकीके गर्भमें अपनी अचिन्त्यशक्तिके द्वारा प्रकट हुए, तब श्रीवसुदेव महाराजने श्रीमद्भा. १०/३/१३ में स्तुति करते हुए उनसे कहा—

विदितोऽसि भवान् साक्षात् पुरुषः प्रकृते परः।
केवलानुभवानन्दस्वरूपः सर्वबुद्धिदृक्॥६॥

मैंने आपको पहचान लिया है, आप शक्तिसे अतीत साक्षात् शक्तिमान परमपुरुष, केवल अनुभवानन्दस्वरूप तथा सबकी बुद्धिका दर्शन करनेवाले हैं॥६॥

श्रीमद्भा. २/७/४७ में श्रीब्रह्माने नारदजीसे कहा—

शश्वत्प्रशान्तमभयं प्रतिबोधमात्रं शुद्धं समं सदसतः परमात्मतत्त्वम्।
शब्दो न यत्र पुरुकारकवान् क्रियार्थो माया परैत्यभिमुखे च विलज्जमाना॥
तद्वै पदं भगवतः परमस्य पुंसो ब्रह्मेति यद्विदुरजस्त्रसुखं विशोकम्॥७॥

नित्य, प्रशान्त, अभय, प्रतिबोधमात्र[१], विशुद्ध, सत् तथा असत्—दोनोंमें सम जो ब्रह्म और परमात्मा हैं, भगवान् उनसे

[१] जिनका स्वरूप ही अपने आपमें निर्मल ज्ञानमात्र है अर्थात् किसी प्रकारका शब्द-विन्यास उनका बोधक अर्थात् प्रकाशित करनेवाला नहीं हो सकता।

युक्त हैं। अतएव क्रियामय शब्द जिनमें क्रिया करनेमें असमर्थ होते हैं[१] तथा माया जिनसे विलज्जित होकर दूर स्थित रहती है, उन परमपुरुष भगवान्‌के श्रीचरणकमलोंको ही तत्त्वविद् पुरुष शोकरहित अजस्र-सुखदायी (ब्रह्म) बतलाते हैं अर्थात् ब्रह्म ही सूर्य-स्थानीय भगवान्‌की अङ्गकान्तिमात्र है॥७॥

श्रीमद्भा. ३/९/११ में श्रीब्रह्माने भगवान्‌से कहा—

त्वं भक्तियोगपरिभावितहृत्सरोज आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसाम्।
यद् यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय॥८॥

हे भगवन्! हे नाथ! आप जीवके श्रुतेक्षित पथ-स्वरूप हैं अर्थात् कर्णसे होकर हृदयमें साक्षीभूत होते हैं, भक्तियोगसे परिभावित हृत्कमलमें उदित होते हैं। हे उरुगाय! हृदयमें सुबुद्धिके द्वारा भक्तगण जिन-जिन रूपोंमें आपकी भावना करते हैं, आप साधुओंके प्रति अनुग्रहपूर्वक उन-उन रूपोंमें प्रकाशित होते हैं॥८॥

श्रीमद्भा. ८/१/१५ में मनुने श्रीभगवान्‌से कहा—

ईहते भगवानीशो न हि तत्र विसज्जते।
आत्मलाभेन पूर्णार्थो नावसीदन्ति येऽनुतम्॥९॥

आप परमेश्वर हैं, आप आत्म-लाभमें नित्य पूर्णकाम हैं। आप जहाँ-जहाँ प्रकाशित होते हैं, उन-उन स्थानोंमें आप आसक्त नहीं होते। जो जीव आपके अनुगत होते हैं, वे कभी भी अवसाद (विनाश) को प्राप्त नहीं होते अर्थात् कर्म-बन्धनमें नहीं बँधते॥९॥

श्रीमद्भा. १०/२/३९ में देवता भगवान्‌से प्रार्थना कर रहे हैं—

न तेऽभवस्येश भवस्य कारणं विना विनोदं बत तर्कयामहे।
भवो निरोधः स्थितिरप्यविद्यया कृता यतस्त्वय्यभयाश्रयात्मनि॥१०॥

---

[१] अभिधावृत्ति, लक्षणावृत्ति और व्यञ्जनावृत्ति द्वारा बोध होनेवाले अर्थ तथा वेदवाक्य भी जिन्हें प्रकाशित नहीं कर सकते।

हे ईश! आप अजन्मा हैं। हमलोगोंने विचार करके देखा है कि प्रपञ्चमें आपके प्राकट्यका आपके लीलाविनोदके अतिरिक्त अन्य कोई कारण नहीं है। आप अभय-आश्रय स्वरूप हैं। (साधारण अतत्त्वज्ञ लोग) ऐसा मानते हैं कि जगत्की सृष्टि, स्थिति और प्रलय अविद्या द्वारा ही आपमें आरोपित हुई है॥१०॥

श्रीमद्भा. ११/३/३६-३७ में पिप्पलायन राजा निमिसे कहते हैं—

नैतन्मनो विशति वागुत चक्षुरात्मा
प्राणेन्द्रियाणि च यथानलमर्चिषः स्वाः।
शब्दोऽपि बोधकनिषेधतयाऽऽत्ममूल-
मर्थोक्तमाह यदृते न निषेधसिद्धिः॥११॥

परमपुरुष भगवत्-तत्त्वमें प्राकृत मन, चक्षु, बुद्धि, प्राण तथा इन्द्रियोंका प्रवेश नहीं है। अग्नि-स्फुलिङ्ग अर्थात् चिंगारियाँ जिस प्रकार अग्निको प्रकाशित नहीं कर सकती, वैसे ही रश्मिस्वरूप चित्-कण जीव, सूर्य-स्थानीय भगवान्को प्रकाशित नहीं कर सकते। अतः भगवत्-तत्त्व ब्रह्मसे भी दुरूह है। शब्द उन्हें प्रकाशित नहीं कर सकते, क्योंकि शब्द तो उन्हींसे उत्पन्न होते हैं। अतएव यह नहीं, यह नहीं करते हुए अन्तमें जो कुछ रहता है, व्यक्ति उसीमें सिद्धि प्राप्त करता है। [तात्पर्य—श्रुतियाँ कहती हैं भगवान् अणु (अर्थात् आकार विशिष्ट होनेके कारण परिच्छिन्न) नहीं हैं, प्राकृत नहीं हैं, इत्यादि। ऐसे नेति-नेति शब्दोंकी शेष सीमा रूप अर्थात् जो भगवान् विभु (अर्थात् आकार विशिष्ट होनेपर भी अपरिच्छिन्न) हैं, अप्राकृत हैं, (इत्यादि जो अर्थ निकलता है, उसीके साधनसे) सिद्धि प्राप्त करता है।]॥११॥

सत्त्वं रजस्तम इति त्रिवृदेकमादौ
सूत्रं महानहमिति प्रवदन्ति जीवम्।

ज्ञानक्रियार्थफलरूपतयोरुशक्ति–
ब्रह्मैव भाति सदसच्च तयोः परं यत्॥१२॥

सत्त्व, रज, तम नामक त्रिगुणोंसे युक्त प्रकृतिसूत्र अर्थात् महत्तत्त्व, अहङ्कार आदि समस्त शक्तियोंके आधार भगवान् ही एक तत्त्व हैं। उनमें ही ज्ञान, क्रिया, अर्थ, फलस्वरूप सत् और असत् तथा तदतीत परब्रह्मत्व प्रकाशित होता है॥१२॥

(श्रीमद्भा. ११/३/३५)

स्थित्युद्भवप्रलयहेतुरहेतुरस्य यत् स्वप्नजागरसुषुप्तिषु सद् बहिश्च।
देहेन्द्रियासुहृदयानि चरन्ति येन सञ्जीवितानि तदवेहि परं नरेन्द्र॥१३॥

जो इस जगत्की स्थिति, सृष्टि तथा प्रलयके हेतु होते हुए भी स्वयं अहेतु अर्थात् हेतुरहित हैं; स्वप्न, जाग्रत तथा सुषुप्ति (गहरी निद्राकी) अवस्थामें जो सत् अर्थात् उनके साक्षीके रूपमें विद्यमान रहते हैं और समाधिमें भी वर्त्तमान रहते हैं, जो देह, इन्द्रिय, प्राण तथा हृदयमें विचरण करते हैं, अर्थात् जिसके बलसे बलवान होकर ये सभी अपने-अपने कार्योंमें प्रवृत्त होते हैं और जिनके द्वारा प्राणीसमूह जीवित रहते हैं, हे नरेन्द्र! वे ही परतत्त्व हैं॥१३॥

श्रीमद्भा. १/३/३७-३८ में श्रीसूत शौनकादि ऋषियोंसे कहते हैं—

न चास्य कश्चिन्निपुणेन धातुरवैति जन्तुः कुमनीष ऊतीः।
नामानि रूपाणि मनोवचोभिः संतन्वतो नटचर्यामिवाज्ञः॥१४॥

जीव कुमनीष अर्थात् मूढ़ है; क्योंकि उसकी बुद्धि अत्यन्त परिमित अर्थात् सीमित है। अतएव कोई भी जीव अपनी बुद्धिकी निपुणता द्वारा विधाताकी लीलाको जाननेमें समर्थ नहीं हो सकता। जिस प्रकार नट (अभिनय करनेवाले) व्यक्तिके अनेक रूप, नाम तथा विविध प्रकारके नृत्य-कलाकी अभिव्यक्तिको अज्ञ व्यक्ति मन और वाणीके द्वारा नहीं समझ सकते, उसी प्रकार भगवान्की लीला प्राकृत जीवोंके लिए बोधगम्य नहीं है॥१४॥

स वेद धातुः पदवीं परस्य दुरन्तवीर्यस्य रथाङ्गपाणेः।
योऽमायया सन्ततयानुवृत्या भजेत तत्पादसरोजगन्धम्॥१५॥

जो निष्कपट होकर नित्य-निरन्तर अनुवृत्ति द्वारा[१] उनके चरणकमलोंकी दिव्य गन्धका भजन (सेवन) करते हैं; केवल वे ही दुरन्तवीर्य (अनन्तपराक्रमशाली) चक्रपाणि परमेश्वर विधाताकी पदवी अर्थात् तत्त्वको जान सकते हैं॥१५॥

श्रीमद्भा. १/८/२६ में कुन्ती भगवान् श्रीकृष्णसे कहती हैं—

जन्मैश्वर्यश्रुतश्रीभिरेधमानमदः पुमान्।
नैवार्हत्यभिधातुं वै त्वामकिञ्चनगोचरम्॥१६॥

आप अकिञ्चनों द्वारा प्राप्य धन हैं। जन्म, ऐश्वर्य, श्रुत (प्रसिद्धि), ज्ञान और श्री (सौन्दर्य) से समृद्ध अभिमानी व्यक्ति कभी भी आपको जाननेमें सक्षम नहीं हो सकते॥१६॥

श्रीमद्भा. २/२/१७-१८ में श्रीशुकदेव परीक्षित्से कहते हैं—

न यत्र कालोऽनिमिषां परः प्रभुः कुतोः नु देवा जगतां य ईशिरे।
न यत्र सत्त्वं न रजस्तमश्च न वै विकारो न महान् प्रधानम्॥१७॥

देवताओंका परप्रभु (नियामक) काल भी जब परमेश्वरके प्रति अपना कुछ भी प्रभाव विस्तार नहीं कर पाता, तो प्राकृत जगत्के ऊपर आधिपत्य करनेवाले सामान्य देवता उनका क्या बिगाड़ सकते हैं? सत्त्व, रज, तम, विकार, महत्तत्त्व और प्रधान उनपर किसी प्रकारका कर्त्तृत्व नहीं कर सकते॥१७॥

परं पदं वैष्णवमामनन्ति तद् यन्नेति नेतीत्यतदुत्सिसृक्षवः।
विसृज्य दौरात्म्यमनन्यसौहृदा हृदोपगुह्यार्हपदं पदे पदे॥१८॥

योगीगण असत् तत्त्वोंका परित्याग करनेकी कामनासे "यह

---

[१] अपने अक्षज ज्ञानके कारण भोगोंमें तत्पर न होकर निरन्तर वैकुण्ठ-सेवावृत्तिके अनुसार अनुकूल भावसे।

नहीं, यह नहीं" करते-करते अनात्म दौरात्म्यका[१] परित्याग करके अनन्य प्रेमके द्वारा हृदयमें पूज्य श्रीकृष्णका पद-पदपर आलिङ्गन करते हुए वैष्णवपदको ही परमपदके रूपमें स्वीकार करते हैं॥१८॥

(श्रीमद्भा. १०/३८/२२)

न तस्य कश्चिद् दयितः सुहृत्तमो न चाप्रियो द्वेष्य उपेक्ष्य एव वा।
तथापि भक्तान् भजते यथा तथा सुरद्रुमो यद्वदुपाश्रितोऽर्थदः॥१९॥

उन परमपुरुष श्रीकृष्णका न तो कोई दयित है और न ही कोई सुहृद। उनके लिए न तो कोई प्रिय है और न ही कोई उपेक्षणीय। फिर भी जैसे कल्पतरु अपना आश्रय लेनेवाले व्यक्तिको मनोवाञ्छित फल प्रदान करता है उसी प्रकार भगवान् भी अपने भक्तोंका भजन करते हैं, उनसे प्रेम करते हैं। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार कल्पतरु अपने आश्रय लेनेवाले व्यक्तिको ही मनोवाञ्छित फल देते हैं, दूसरोंको नहीं, उसी प्रकार भगवान् भी अपने आश्रय लेनेवाले भक्तोंसे ही प्रेम करते हैं, दूसरोंसे नहीं॥१९॥

श्रीमद्भा. १०/८७/२८ में श्रुतियाँ श्रीभगवान्से कह रही हैं—

त्वमकरणः स्वराडखिलकारकशक्तिधर-
स्तव बलिमुद्वहन्ति समदन्त्यजयानिमिषाः।
वर्षभुजोऽखिलक्षितिपतेरिव विश्वसृजो
विदधति यत्र ये त्वधिकृता भवतश्चकिताः॥२०॥

हे प्रभो! आप मन, बुद्धि और प्राकृत इन्द्रियों आदिके सम्बन्धसे सर्वथा रहित हैं। किसी भी कार्यकी सिद्धिके लिए आपको इनकी आवश्यकता नहीं पड़ती क्योंकि आप चित्-शक्ति

---

[१] देह आदिमें आत्म बुद्धि (श्रीधरस्वामिपाद) तथा विष्णुदेहमें मायिक बुद्धि (श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर)।

अर्थात् अपनी स्वरूपभूत शक्तिके द्वारा स्वराट्, अखिल कारक (सब प्रकारके कार्योंका सम्पादन करनेकी क्षमता रखनेवाली) शक्तिको स्वभावतः धारण करते हैं अर्थात् आप चिदानन्दमय इन्द्रियोंसे युक्त हैं। देवता आपकी ही मायाशक्तिका आश्रय लेकर आपकी पूजाके द्रव्योंको वहन करते हैं। वर्षखण्डके अधिकारी (छोटे-छोटे राजा) जिस प्रकार अखिल पृथ्वीपति (सम्राट) की आज्ञाका पालन करते हैं, उसी प्रकार ब्रह्मादि विश्वका सृजन करनेवाले अपने-अपने स्थानके अधिकारी होकर आपके भयसे चकित-से रहते हैं तथा सदैव आपका सम्मान करते हैं॥२०॥

श्रीमद्भा. १०/८५/६ में श्रीवसुदेव श्रीकृष्ण तथा श्रीबलदेवसे कहते हैं—

प्राणादीनां विश्वसृजां शक्तयो याः परस्य ताः।
पारतन्त्र्याद् वै सादृश्याद् द्वयोश्चेष्टैव चेष्टताम्॥२१॥

विश्वकी सृष्टि करनेवाले ब्रह्मा आदिकी जो प्राण आदि शक्तियाँ हैं, वे समस्त ही परमपुरुष स्वरूप आपकी ही शक्तियाँ हैं। ब्रह्मा आदि तो आपकी मायाके अधीन अर्थात् परतन्त्र हैं। आप प्रभु हैं। वे सब आपके दास हैं। इसीलिए आपके साथ उनकी परस्पर समानता हो ही नहीं सकती। अतएव ब्रह्मा तथा उनकी प्राण आदि शक्ति—चेतन और अचेतन दोनोंकी ही चेष्टाएँ आपकी शक्तिके द्वारा ही सफल होती है। जिसके फलस्वरूप वे अपना कार्य करते रहते हैं॥२१॥

(श्रीमद्भा. १०/८५/१०)

इन्द्रियं त्विन्द्रियाणां त्वं देवाश्च तदनुग्रहः।
अवबोधो भवान् बुद्धेर्जीवस्यानुस्मृतिः सती॥२२॥

आप समस्त इन्द्रियोंकी भी इन्द्रिय हैं। समस्त देवतागण अर्थात् उन इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ देवता आपके अनुग्रहसे ही जीवित रहते हैं अर्थात् अपना कार्य करनेमें समर्थ होते हैं। आप ही बुद्धिके

अवरोधस्वरूप जीवकी शुद्धानुस्मृति अर्थात् वास्तविक पारमार्थिक स्मृति हैं॥२२॥

(श्रीमद्भा. १०/८५/१३)

सत्त्वं रजस्तम इति गुणास्तद्वृत्तयश्च याः।
त्वय्यद्धा ब्रह्मणि परे कल्पिता योगमायया॥२३॥

सत्त्व, रज तथा तम—ये तीनों मायाकी वृत्तियाँ होनेपर भी परब्रह्मस्वरूप आपमें साक्षात् योगमाया द्वारा कल्पित की गयी है। वास्तवमें योगमाया चित्-शक्तिकी क्रियावृत्ति है तथा मायाशक्ति उसकी छाया है। वह मायाशक्ति भी आपमें साक्षात् उस योगमाया शक्ति द्वारा कल्पित है॥२३॥

श्रीमद्भा. ८/१/१३ में मनुने श्रीभगवान्से कहा—

स विश्वकायः पुरुहूत ईशः सत्यः स्वयंज्योतिरजः पुराणः।
धत्तेऽस्य जन्माद्यजयाऽऽत्मशक्त्या तां विद्ययोदस्य निरीह आस्ते॥२४॥

समस्त विश्व ही जिनका शरीर है, जिनके अनेक नाम हैं, जो सबके नियन्ता हैं, स्वयं सत्य, चित्-सूर्य, जन्मरहित, सनातन पुरुष हैं, वे ही आत्मशक्तिके द्वारा मायाको क्रियावती बनाकर इस विश्वका सृजन, पालन तथा संहार करते हैं और विद्यारूप चित्-शक्तिके द्वारा इस मायाशक्तिको दूर रखकर स्वयं निश्चेष्ट रूपसे रहते हैं॥२४॥

श्रीमद्भा. ६/९/३२ में देवगण भगवान्की स्तुति करते हुए कह रहे हैं—

ॐ नमस्तेऽस्तु भगवन्नारायण वासुदेवादिपुरुष महापुरुष महानुभव परममङ्गल परमकल्याण परमकारुणिक केवलजगदाधार लोकैकनाथ सर्वेश्वर लक्ष्मीनाथ परमहंसपरिव्राजकैः परमेणात्मयोगसमाधिना परिभावित परिस्फुटपारमहंस्यधर्मेणोद्घाटिततमःकपाटद्वारे चित्तेऽपावृत आत्मलोके स्वयमुपलब्धनिजसुखानुभवो भवान्॥२५॥

हे प्रभो! आपको नमस्कार है। आप ही भगवान् नारायण, वासुदेव, आदिपुरुष (जगत्‌के परम कारण), महापुरुष, महानुभव (असीम महिमासे युक्त), परम मङ्गलस्वरूप, परम कल्याणमय, परम कारुणिक, केवल आप ही सारे जगत्‌के आधार, समस्त लोकोंके एकमात्र नाथ, सर्वेश्वर तथा लक्ष्मीनाथ हैं। परमहंस परिव्राजकगण आत्मयोगरूप (यम, नियम आदि द्वारा लगायी जानेवाली) परम समाधिसे अर्थात् चित्तकी एकाग्रता द्वारा परिभावित (सब प्रकारसे संशोधित) होकर परमहंसोंके यथार्थ धर्म भगवद्भक्ति द्वारा अपने हृदयके अज्ञानरूप किवाड़को खोलकर (अपने चित्तरूपी मन्दिरमें) बिना किसी आवरणके आत्मलोक अर्थात् वैकुण्ठके दर्शन करते हैं। (उस वैकुण्ठलोकमें विराजमान) आप स्वयं-उपलब्ध निज-सुखानुभवस्वरूप अद्वयतत्त्व हैं॥२५॥

श्रीमद्भा. १/१६/२७-२९ में धरणीदेवी धर्मको भगवान्‌के स्वरूपगत नित्य गुणोंको बतला रही हैं—

सत्यं शौचं दया क्षान्तिस्त्यागः सन्तोष आर्जवम्।
शमो दमस्तपः साम्यं तितिक्षोपरतिः श्रुतम्॥२६॥

ज्ञानं विरक्तिरैश्वर्यं शौर्यं तेजो बलं स्मृतिः।
स्वातन्त्र्यं कौशलं कान्तिर्धैर्यं मार्दवमेव च॥२७॥

प्रागल्भ्यं प्रश्रयः शीलं सह ओजो बलं भगः।
गाम्भीर्यं स्थैर्यमास्तिक्यं कीर्तिर्मानोऽनहङ्कृतिः॥२८॥

गुण दो प्रकारके होते हैं अर्थात् मायिक सदोषगुण और मायातीत अप्राकृत गुण। भगवान्‌के नित्य स्वरूपमें—निर्गुण रूपमें जो सब अनन्त गुण परिपूर्ण मात्रामें रहते हैं, वे इस प्रकार हैं—सत्य, शुद्धता, दया, क्षान्ति (क्रोधका कारण उपस्थित होनेपर भी चित्तकी संयमता), त्याग (मुक्तहस्तता अथवा वदान्यता), सन्तोष, सरलता, शम (मनकी निश्चलता), दम (बाह्य इन्द्रियोंकी निश्चलता), तप, समता, तितिक्षा (दूसरोंके अपराधको सहन करना), उपरति

(लाभ आदि होनेपर उदासीन रहना), नित्य ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, शौर्य, तेज, बल, स्मृति, स्वतन्त्रता, कौशल, कान्ति, धैर्य, कोमलता, निर्भीकता, विनय, शील (सुस्वभाव), सह (मनकी पटुता), ओज (ज्ञानेन्द्रियोंकी पटुता), बल (कर्मेन्द्रियोंकी पटुता), भग (समस्त भोग्य वस्तुओंके आश्रय), गाम्भीर्य, स्थिरता, आस्तिक्य, कीर्त्ति, अभिमानशून्यता आदि॥२६-२८॥

(श्रीमद्भा. १/१६/३०)

एते चान्ये च भगवन् नित्या यत्र महागुणाः।
प्रार्थ्या महत्त्वमिच्छद्भिर्न वियन्ति स्म कर्हिचित्॥२९॥

भगवत्-स्वरूपमें इनके अतिरिक्त और भी अनेकानेक (सत्य संकल्प, भक्त वात्सल्य आदि) महान गुण नित्य अवस्थित रहते हैं। जो महान बननेकी इच्छा रखते हैं, वे भी (सत्-सङ्गके माध्यमसे) इन गुणोंमेंसे कुछ-कुछ गुणोंको प्राप्त करते हैं। भगवत्-स्वरूपसे ये सभी गुण कभी भी अलग नहीं होते। तात्पर्य यह है कि भगवान् चित्-सूर्य हैं, उनमें समस्त चित्-गुण पूर्ण रूपसे विद्यमान हैं। यद्यपि ब्रह्मासे लेकर कीट पर्यन्त समस्त जीवोंमें इनमेंसे कुछ गुण बिन्दु-बिन्दुमात्रामें रहते हैं, तथापि भक्तिशक्तिके द्वारा इन गुणोंको समृद्ध किया जा सकता है॥२९॥

श्रीमद्भा. २/६/३१ में श्रीब्रह्माने नारदसे कहा—

नारायणे भगवति तदिदं विश्वमाहितम्।
गृहीतमायोरुगुणः सर्गादावगुणः स्वतः॥३०॥

समस्त मायिक गुण असम्पूर्ण तथा दोषयुक्त हैं। भगवान् नारायणमें यह सारा विश्व अधिष्ठित (स्थापित) है। यद्यपि वे इस प्राकृत जगत्के सृष्टि कार्यमें मायाके बहुत-से गुणोमें प्रकाशित होकर अर्थात् उन्हें ग्रहण करके सृष्टि करते हैं, तथापि वास्तवमें वे स्वयं प्राकृत गुणोंसे रहित अर्थात् वास्तवमें अप्राकृत अनन्त गुणोंसे सुशोभित हैं॥३०॥

(श्रीमद्भा. २/५/१८)

सत्त्वं रजस्तम इति निर्गुणस्य गुणास्त्रयः।
स्थितिसर्गनिरोधेषु गृहीता मायया विभोः॥३१॥

निर्गुण होनेपर भी इस जगत्‌की सृष्टि, स्थिति तथा प्रलयमें सत्त्व, रज और तम नामक तीन गुणोंको (भगवान् अपनी स्वेच्छासे) स्वीकार करते हैं॥३१॥

(श्रीमद्भा. २/६/१९)

पादेषु सर्वभूतानि पुंसः स्थितिपदो विदुः।
अमृतं क्षेममभयं त्रिमूर्ध्नोऽधायि मूर्धसु॥३२॥

उन स्थितिपद (जिनके श्रीचरणकमलोंसे सभी लोकोंका पालन होता है) पुरुषकी चार-पाद-विभूति कल्पित होती है। यह ब्रह्माण्ड चार पादोंमेंसे एक पाद विभूति है। केवल ब्रह्माण्डमें ही जीवोंका वास नहीं, (बल्कि सभी स्थानोंपर होता है)। अमृत, क्षेम और अभय—यह तीन ऊर्ध्व स्थानीय त्रिपद है और इसे त्रिपादविभूति भी कहते हैं। चतुर्दश भुवनमय यह अधस्थ पाद भगवान्‌की मायिक विभूति तथा उक्त ऊर्ध्व त्रिपाद विभूति ही चित्-विभूति है॥३२॥

(श्रीमद्भा. २/५/१४)

द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च।
वासुदेवात् परो ब्रह्मन् न चान्योऽर्थोऽस्ति तत्त्वतः॥३३॥

द्रव्य, कर्म, काल, स्वभाव और जीव—ये पाँच अर्थ हैं। तत्त्वतः ये सब भगवान् वासुदेवसे पृथक् नहीं हैं। श्रीवासुदेवकी जीवशक्तिसे जीव और जड़शक्ति तथा मायाशक्तिसे अन्य चार अर्थ (द्रव्य, कर्म, काल और स्वभाव) प्रकाशित होते हैं। शक्ति शक्तिमान वस्तुसे पृथक् नहीं है। देखो, एक ही भगवत्-वस्तुकी दो शक्तियाँ हैं—जीव तथा माया॥३३॥

श्रीमद्भा. १/११/३७-३८ में श्रीसूत शौनकादि ऋषियोंसे कहते हैं—

तमयं मन्यते लोको ह्यसक्तमपि सङ्गिनम्।
आत्मौपम्येन मनुजं व्यापृण्वानं यतोऽबुधः॥३४॥

साधारण मायामुग्ध जीव अपने साथ भगवान्‌की तुलना करते हुए सोचते हैं कि कृष्ण भी हमारे समान साधारण मनुष्य हैं, संसार-चक्रमें फँसे हुए हैं। ऐसे लोग 'श्रीकृष्णतत्त्व' को नहीं जानते, अतएव जड़गुणोंसे अनासक्त तत्त्व (भगवान्) को यथार्थ रूपमें नहीं समझ पानेके कारण वे उन्हें भी अपने जैसा विषयी मान बैठते हैं॥३४॥

एतदीशनमीशस्य प्रकृतिस्थोऽपि तद्‌गुणैः।
न युज्यते सदात्मस्थैर्यथा बुद्धिस्तदाश्रया॥३५॥

जीव ईश्वरके अधीन है तथा ईश्वर हैं श्रीकृष्ण। ईश्वरकी ईश्वरता यह है कि प्रकृतिस्थ अर्थात् प्राकृत जगत्‌में प्रवेश करके भी वे प्राकृत गुणों (सुख, दुःख आदि) के द्वारा लिप्त नहीं होते, क्योंकि वे स्वयं सर्वदा आत्मस्थ अर्थात् अपनी योगमाया द्वारा प्रकटित सच्चिदानन्द स्वरूपमें सर्वदा अवस्थित रहते हैं। भगवान् श्रीकृष्णका आश्रय ग्रहण करनेवाली जीव-बुद्धि भी तद्‌रूप होती है (प्राकृत गुणोंमें रहकर भी प्राकृत गुणोंसे लिप्त नहीं होती।)॥३५॥

श्रीमद्भा. ४/३/२३ में श्रीसदाशिव सतीसे कहते हैं—

सत्त्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दितं यदीयते तत्र पुमानपावृतः।
सत्त्वे च तस्मिन् भगवान् वासुदेवो ह्यधोक्षजो मे मनसा विधीयते॥३६॥

विशुद्ध-सत्त्वका नाम 'वसुदेव' है। जो अप्राकृत पुरुष उस विशुद्ध-सत्त्वमें प्रकाशित होते हैं, वही भगवान् 'वासुदेव' है। उन अधोक्षज (इन्द्रियातीत) भगवान् वासुदेवको मैं अपने मनके द्वारा प्रणाम करता हूँ॥३६॥

श्रीमद्भा. ३/१५/१४-१६ में श्रीब्रह्मा देवताओंको ऐश्वर्यमय भगवत्-धामके विषयमें बतलाते हुए कह रहे हैं—

वसन्ति यत्र पुरुषाः सर्वे वैकुण्ठमूर्तयः।
येऽनिमित्तनिमित्तेन धर्मेणाराधयन् हरिम्॥३७॥

वैकुण्ठलोकमें जितने भी पुरुष हैं, सभी वैकुण्ठमूर्त्ति अर्थात् चिदाकार (सच्चिदानन्द देहसे युक्त) हैं। अनिमित्त निमित्तरूप अर्थात् निष्काम परम धर्मरूपी भागवत-धर्म द्वारा वे नित्य भगवान् श्रीहरिकी आराधना करते हैं॥३७॥

यत्र चाद्यः पुमानास्ते भगवान् शब्दगोचरः।
सत्त्वं विष्टभ्य विरजं स्वानां नो मृडयन् वृषः॥३८॥

उस धाममें आद्यपुरुष भगवद्-शब्द (वेदान्त) द्वारा ही गोचर परब्रह्म विराजमान हैं। वे 'विरज' अर्थात् अप्राकृत विशुद्धसत्त्व रूप प्रकाशित करते हुए अपने भक्तोंके पालकके रूपमें उनके आनन्दकी वृद्धि करते हैं॥३८॥

यत्र नैःश्रेयसं नाम वनं कामदुघैर्द्रुमैः।
सर्वर्तुश्रीभिर्विभ्राजत् कैवल्यमिव मूर्त्तिमत्॥३९॥

वहाँ सभी ऋतुओंके पुष्पोंसे सुशोभित कामनाओंको पूर्ण करनेवाले कल्पतरुओंसे सम्पन्न निःश्रेयस नामक वन है, जो मूर्त्तिमान कैवल्य (शुद्धभक्ति सुखस्वरूप) जैसा जान पड़ता है॥३९॥

श्रीमद्भा. २/९/१६ में श्रीशुकदेव गोस्वामी परीक्षित्से कह रहे हैं—

अध्यर्हणीयासनमास्थितं परं वृतं चतुःषोडशपञ्चशक्तिभिः।
युतं भगैः स्वैरितरत्र चाध्रुवैः स्व एव धामन् रममाणमीश्वरम्॥४०॥

वहाँ भगवान् एक श्रेष्ठ सिंहासनपर विराजमान रहते हैं। वे पच्चीस[१] शक्तियों द्वारा आवृत्त है। वे सदैव अपने षड़ैश्वर्यसे

[१] प्रकृति, पुरुष, महत्तत्त्व, अहङ्कार, मन सहित एकादश इन्द्रियाँ, शब्दादि पाँच तन्मात्राएँ और पञ्चभूत। (श्रीधर स्वामिपाद) *(शेष भाग अगले पृष्ठपर)*

युक्त अर्थात् स्वरूपभूत ऐश्वर्य आदि शक्तियोंसे युक्त रहते हैं तथा दूरगत, अध्रुव (परिवर्तनशील) मायाके ऐश्वर्यान्वित स्वरूप अर्थात् (मायाके मूल स्वरूप) स्वरूपशक्तिरूप वैकुण्ठधाममें परमेश्वर भावसे रमण करते हैं॥४०॥

श्रीकृष्णकी अप्रकट लीलाके समय उनकी मधुरताके सम्बन्धमें सूचित करते हुए श्रीमद्भा. ११/३१/६ में श्रीसूत गोस्वामी कहते हैं—

लोकाभिरामां स्वतनुं धारणाध्यानमङ्गलम्।
योगधारणयाऽऽग्नेय्यादग्ध्वा धामाविशत् स्वकम्॥४१॥

श्रीकृष्ण जिस समय अप्रकट हुए, उस समय वे समस्त लोकोंके मनका हरण करनेवाले अपने द्विभुज सुन्दर विग्रहको, जो ध्यान तथा धारणा करनेवालोंके लिए मङ्गलस्वरूप है, क्षुद्र योगियोंके समान योगाग्निमें बिना दग्ध हुए योगमाया द्वारा सशरीर अपने कृष्णधाममें प्रवेश कर गये॥४१॥

(श्रीमद्भा. ११/३१/९-१०)

सौदामन्या यथाऽऽकाशे यान्त्या हित्वाभ्रमण्डलम्।
गतिर्न लक्ष्यते मर्त्यैस्तथा कृष्णस्य दैवतैः॥४२क॥

ब्रह्मरुद्रादयस्ते तु दृष्ट्वा योगगतिं हरेः।
विस्मितास्तां प्रशंसन्तः स्वं स्वं लोकं ययुस्तदा॥४२ख॥

जिस प्रकार सौदामिनी (बिजली) अभ्र-मण्डल (मेघों) को भेदकर आकाशमें प्रवेश करती है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण मर्त्यलोककी

धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य ये चार अन्तरङ्गशक्ति, चण्ड और प्रचण्ड पूर्वद्वारपर, भद्र और सुभद्र दक्षिण द्वारपर, जय और विजय पश्चिममें, धाता और विधाता उत्तरमें, कुमुद और कुमुदाक्ष अग्निकोणमें, पुण्डरीक और वामन नैऋतकोणमें, शङ्कुकर्ण और सर्वनेत्र वायुकोणमें, सुमुख और सुप्रतिष्ठित ईशान कोणपर स्थित द्वारके द्वारपाल कुल मिलाकर सोलह बहिरङ्गशक्ति तथा कूर्म, नागराज और त्रयीश्वर (गरुड़) नामक तीन जन और छन्दसमूह एवं सर्ववेद-मन्त्रसमूह। (श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर)

अलक्षित गतिसे (चौदह भुवनात्मक ब्रह्माण्डके जीवोंकी दृष्टिसे अगोचर होकर) अपने धाममें प्रवेश करने लगे। उस समय ब्रह्मादि देवता श्रीकृष्णकी परमयोगमयी गतिका ध्यान करने लगे और विस्मित होकर प्रशंसा करते-करते अपने-अपने लोकमें चले गये।

(जिस प्रकार बिजलीकी गतिको मनुष्य नहीं देख पाते, किन्तु देवता देख सकते हैं, उसी प्रकार भूमण्डलको त्याग करके श्रीकृष्णने जब अपने लोकमें प्रस्थान किया तो उन्हें देवता नहीं देख पाये, केवल उनके पार्षदोंने ही देखा)॥४२॥

श्रीकृष्णलोकका वर्णन। श्रीकृष्णने गोपोंको अपना गोलोकधाम दिखाया, इस सम्बन्धमें श्रीमद्भा. १०/२८/१३-१५, १७ में कहते हैं—

जनो वै लोक एतस्मिन्नविद्याकामकर्मभिः।
उच्चावचासु गतिषु न वेद स्वां गतिं भ्रमन्॥४३॥

एक दिन श्रीकृष्णने विचार किया कि मेरे गोपोंमेंसे कुछ गोप वैकुण्ठसे आये हैं। लौकिक लीलामें जीवोंका दुःख देखकर उनका मन खिन्न हो सकता है। इस लोकमें जीव अविद्याके वशीभूत हो काम्य कर्मोंमें संलग्न रहते हैं और अपनी परम गतिको न जानकर (आत्मस्वरूपको भूलकर) ऊँची-नीची योनियोंमें भ्रमण करते रहते हैं। "क्या हम भी इनके जैसे ही हैं"—ऐसा तर्क साधनसिद्ध गोपोंमें हो सकता हैं॥४३॥

इति सञ्चिन्त्य भगवान् महाकारुणिको हरिः।
दर्शयामास लोकं स्वं गोपानां तमसः परम्॥४४॥

भगवान्ने ऐसा विचारकर साधनसिद्ध गोपोंके प्रति महाकारुणिक होकर उन्हें मायाके पार स्थित अपने नित्य गोलोकधामका दर्शन कराया॥४४॥

सत्यं ज्ञानमनन्तं यद् ब्रह्मज्योतिः सनातनम्।
यद्धि पश्यन्ति मुनयो गुणापाये समाहिताः॥४५॥

उस गोलोकका स्वरूप बतलाते हुए कह रहे हैं—सत्यज्ञान, अनन्तरूप सनातन ब्रह्म उस धामके ज्योतिस्वरूप है। सत्त्व, रज और तमोगुणको छोड़कर शुद्ध प्रेमी मुनिगण समाधि दशामें ही इस धामका दर्शन करते हैं। निर्गुण चिन्तनसे युक्त ज्ञानियों और योगियोंका इस परव्योममें गमनागमन सम्भवपर है, किन्तु केवल प्रेमी योगीगण निर्गुण भक्तियोगके द्वारा लिङ्गशरीरका त्याग करके इस गोलोकधामको प्राप्त करते हैं। वह लोक भक्तोंके अतिरिक्त और किसीके लिए भी प्राप्य नहीं है। यही साधारण परव्योमकी अपेक्षा इस गोलोकधामकी उच्चता तथा श्रेष्ठता है॥४५॥

नन्दादयस्तु तं दृष्ट्वा परमानन्दनिर्वृताः।
कृष्णं च तत्र छन्दोभिः स्तूयमानं सुविस्मिताः॥४६॥

श्रीनन्द आदि नित्यसिद्ध प्रेममय गोप गोलोकके दर्शन तथा मूर्त्तिमान वेदों द्वारा श्रीकृष्णकी स्तव-स्तुति होते देखकर विस्मित हो गये तथा परमानन्दमें निमग्न हो गये। श्रीनन्दादिके स्वरूपमें गोलोकसे आये हुए नित्यसिद्ध प्रेममय गोपगण एवं द्रोण (श्रीनन्दमें प्रविष्ट वसु) आदि (साधनसिद्ध) भक्तगण वर्त्तमान थे। श्रीनन्दादिके लिए गोलोकधाम नित्यदृष्ट वस्तु है। द्रोण आदिके उपकारके लिए ही गोलोकका प्रदर्शन हुआ। वस्तुतः गोकुल तथा गोलोक एक ही तत्त्व हैं। गोलोक गोकुलका वैभव है, यह वैभव गोकुलमें योगमायाके द्वारा कुछ-कुछ आवृत है। वस्तुतः यह तत्त्व कभी आवृत नहीं होता। द्रष्टा—मायाबद्ध जीवोंके नेत्र ही आवृत होते हैं॥४६॥

अब भगवान्‌के अवतारोंके विषयमें बतलाते हुए श्रीसूत गोस्वामी श्रीमद्भा. १/३/१ तथा १/३/५ में शौनकादि ऋषियोंसे कहते हैं—

जगृहे पौरुषं रूपं भगवान् महदादिभिः।
सम्भूतं षोडशकलमादौ लोकसिसृक्षया॥४७॥

एतन्नानावताराणां निधानं बीजमव्ययम्।
यस्यांशांशेन सृज्यन्ते देवतिर्यङ्नरादयः ॥४८॥

लोक-सृष्टि करनेकी भावनासे भगवान्ने महत्तत्त्वादिसे संयुक्त होकर षोडश कला विशिष्ट जिस पुरुष रूपको धारण किया, वे ही विष्णु हैं। इन्हीं श्रीविष्णुके तीन पृथक्-पृथक् स्वरूप—कारणोदकशायी, गर्भोदकशायी और क्षीरोदकशायी ही भगवान्के पुरुषावतार हैं। जिनके अंश (ब्रह्मा) तथा अंशोंके भी अंश (मरीचि आदि ऋषि) से देव, तिर्यक और नर आदि सभी प्राणी प्रकट होते हैं, वे ही श्रीविष्णु अनेकानेक भगवत्-अवतारोंके भी निधान स्वरूप अव्यय अर्थात् अक्षय बीज हैं अर्थात् इन्हींसे ही अनेकानेक भगवत्-अतवार भी प्रकटित होते हैं॥४७-४८॥

(श्रीमद्भा. १/३/६-२६)

स एव प्रथमं देवः कौमारं सर्गमाश्रितः।
चचार दुश्चरं ब्रह्मा ब्रह्मचर्यमखण्डितम्॥४९॥

वे पुरुष सबसे पहले कौमार (चतुःसन—सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार) के रूपमें अवतीर्ण हुए। उन्होंने ब्राह्मणके रूपमें अखण्ड ब्रह्मचर्यका आचरण किया॥४९॥

द्वितीयन्तु भवायास्य रसातलगतां महीम्।
उद्धरिष्यन्नुपादत्त यज्ञेशः शौकरं वपुः॥५०॥

दूसरे अवतारमें जब सारी पृथ्वी रसातलमें चली गयी थी, तब उसके उद्धारके लिए यज्ञेश (यज्ञोंके स्वामी) ने वराहरूप धारण किया॥५०॥

तृतीयमृषिसर्गं वै देवर्षित्वमुपेत्य सः।
तन्त्रं सात्वतमाचष्ट नैष्कर्म्यं कर्मणां यतः॥५१॥

तीसरे अवतारमें ऋषिसर्ग (आर्यावतार) का अवलम्बनकर देवर्षि नारदके रूपमें प्रकट हुए। उन्होंने कर्मसे नैष्कर्म्य (कर्मबन्धनसे

मुक्ति) की ओर अभिमुख होनेकी शिक्षा देनेके लिए एक सात्वत तन्त्रकी रचना की, जिसे नारदपञ्चरात्र[१] कहते हैं॥५१॥

तुर्ये धर्मकलासर्गे नरनारायणावृषी।
भूत्वाऽऽत्मोपशमोपेतमकरोद् दुश्चरं तपः॥५२॥

धर्मकी कला अर्थात् धर्मकी अर्द्धाङ्गिनी अर्थात् पत्नी मूर्त्तिके गर्भसे उन्होंने नर और नारायण ऋषिके रूपमें चौथा अवतार ग्रहण किया। इस अवतारमें उन्होंने ऐसी कठोर तपस्या की, जिससे आत्मोपशम अर्थात् आत्म-प्रसन्नता प्राप्त हो॥५२॥

पञ्चमः कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम्।
प्रोवाचासुरये सांख्यं तत्त्वग्रामविनिर्णयम्॥५३॥

पञ्चम अवतारमें उन्होंने सिद्धेश्वर कपिलके रूपमें अवतरित होकर कालके द्वारा विलुप्त सांख्य-तत्त्वका निरूपण किया तथा आसुरि नामक ब्राह्मण मुनिको इसकी शिक्षा दी॥५३॥

षष्ठमत्रेरपत्यत्वं वृतः प्राप्तोऽनसूयया।
आन्वीक्षिकीमलर्काय प्रह्लादादिभ्य ऊचिवान्॥५४॥

छठे अवतारमें अनसूयाके गर्भसे अत्रिपुत्र दत्तात्रेयके रूपमें जन्म ग्रहण किया। दत्तात्रेयने अलर्क नामक राजर्षि तथा प्रह्लाद आदिको आन्वीक्षिकी विद्या (आत्मविद्या) प्रदान की॥५४॥

ततः सप्तम आकूत्यां रुचेर्यज्ञोऽभ्यजायत।
स यामाद्यैः सुरगणैरपात्स्वायम्भुवान्तरम्॥५५॥

सप्तम अवतारमें आकुतिके गर्भसे रुचि नामक ब्राह्मणके पुत्र 'यज्ञ' के रूपमें जन्म ग्रहण किया तथा अपने पुत्र यामादि देवताओंकी सहायतासे स्वायम्भुव मन्वन्तरका पालन किया॥५५॥

---

[१] इसमें वैषयिक, यौगिक, जन्म-मरण-जरा विनाशक, मुक्तिप्रद तथा कृष्णभक्तिप्रद—इन पाँच प्रकारके रात्र अर्थात् ज्ञानका वर्णन है।

अष्टमे मेरुदेव्यान्तु नाभेर्जात उरुक्रमः।
दर्शयन् वर्त्म धीराणां सर्वाश्रमनमस्कृतम्॥५६॥

आठवें अवतारमें नाभि-पत्नी मेरुदेवीके गर्भसे उरुक्रम (ऋषभदेव) अवतरित हुए, इन्होंने सर्वाश्रम-वन्दनीय धीरजनोंके धर्म-पथका प्रकाश किया॥५६॥

ऋषिभिर्याचितो भेजे नवमं पार्थिवं वपुः।
दुग्धेमामोषधीर्विप्रास्तेनायं स उशत्तमः॥५७॥

नवें अवतारमें वे ऋषियोंकी प्रार्थनापर 'पृथु महराज' के रूपमें प्रकट हुए। इन्होंने सुन्दर अर्थात् परम कल्याणकारी पुरुषके रूपमें पृथ्वीसे समस्त औषधियोंका दोहन किया॥५७॥

रूपं स जगृहे मात्स्यं चाक्षुषोदधिसंप्लवे।
नाव्यारोप्य महीमय्यामपाद्वैवस्वतं मनुम्॥५८॥

चाक्षुष मन्वन्तरमें प्रलयके समय भगवान्‌ने 'मत्स्य-अवतार' ग्रहण किया और महीमयी नौका (नौकारूपी पृथ्वी) पर अग्रिम मन्वन्तरके अधिपति वैवस्वत (सूर्यपुत्र) मनुको चढ़ाकर उनकी रक्षा की। (यह भगवान्‌का दसवाँ अवतार था।)॥५८॥

सुरासुराणामुदधिं मथ्नतां मन्दराचलम्।
दध्रे कमठरूपेण पृष्ठ एकादशे विभुः॥५९॥

जिस समय देवता तथा असुर समुद्रका मन्थन कर रहे थे, उस समय भगवान्‌ने कूर्म रूपमें ग्यारहवाँ अवतार लिया और अपनी पीठपर मन्दराचलको धारण किया॥५९॥

धान्वन्तरं द्वादशमं त्रयोदशममेव च।
अपाययत्सुरानन्यान्मोहिन्या मोहयन् स्त्रिया॥६०॥

द्वादश अवतारमें धन्वन्तरिके रूपमें तथा त्रयोदश अवतारमें स्त्रीवेशधारी मोहिनीरूप धारण करके दैत्योंको मोहित करते हुए देवताओंको अमृतपान कराया॥६०॥

चतुर्दशं नारसिंहं विभ्रद्दैत्येन्द्रमूर्जितम्।
ददार करजैरूरावेरकां कटकृद्यथा॥६१॥

जब हिरण्यकशिपुका अपराध नितान्त प्रबल हो गया, तब उन्होंने नृसिंह रूपमें चौदहवाँ अवतार लिया। भगवान्ने उस मदमत्त दैत्यराजको अपनी जाँघोंपर रखकर अपने नाखूनोंसे उसे अनायास ही ऐसे चीर डाला, जैसे चटाई बनानेवाला एरका नामक घासको चीर डालता है॥६१॥

पञ्चदशं वामनकं कृत्वागादध्वरं बलेः।
पदत्रयं याचमानः प्रत्यादित्सुस्त्रिपिष्टपम्॥६२॥

पन्द्रहवें अवतारमें भगवान् 'वामन' के रूपमें प्रकट हुए और बलि महाराजके यज्ञमें पहुँचे। वहाँ उन्होंने तीन पग भूमिकी याचना की। वे (बलिको छलकर) स्वर्गका राज्य इन्द्रको देना चाहते थे॥६२॥

अवतारे षोडशमे पश्यन् ब्रह्मद्रुहो नृपान्।
त्रिःसप्तकृत्वः कुपितो निःक्षत्रामकरोन्महीम्॥६३॥

सोलहवें अवतारमें राजाओंको ब्राह्मणद्रोही देखकर क्रोधावेशमें उन्होंने परशुरामका रूप धारण किया और इक्कीस बार पृथ्वीको क्षत्रियोंसे रहित कर दिया॥६३॥

ततः सप्तदशे जातः सत्यवत्यां पराशरात्।
चक्रे वेदतरोः शाखा दृष्ट्वा पुंसोऽल्पमेधसः॥६४॥

सत्रहवें अवतारमें सत्यवतीके गर्भसे पराशरके द्वारा वे श्रीकृष्णद्वैपायन वेदव्यासके रूपमें प्रकट हुए तथा अल्प बुद्धिवाले जीवोंके उपकारके लिए वेदरूपी वृक्षकी शाखाओंका प्रणयन किया॥६४॥

नरदेवत्वमापन्नः सुरकार्यचिकीर्षया।
समुद्रनिग्रहादीनि चक्रे वीर्याण्यतः परम्॥६५॥

अठारहवें अवतारमें भगवान्ने श्रीरामचन्द्रके रूपमें नरदेव होकर देवकार्य करनेके अभिप्रायसे सेतु-बन्धन आदि अनेक प्रकारकी लीलाएँ कीं॥६५॥

एकोनविंशे विंशतिमे वृष्णिषु प्राप्य जन्मनी।
रामकृष्णाविति भुवो भगवानहरद्भरम्॥६६॥

उन्नीसवें और बीसवें अवतारमें वृष्णिवंशमें भगवान् श्रीबलराम तथा श्रीकृष्णके रूपमें प्रकट हुए तथा भू-भार-हरण किया॥६६॥

ततः कलौ सम्प्रवृत्ते सम्मोहाय सुरद्विषाम्।
बुद्धो नाम्नाजनसुतः कीकटेषु भविष्यति॥६७॥

कलियुगके प्रारम्भ होनेपर असुरोंको मोहित करनेके अभिप्रायसे कीकट अर्थात् मगधदेशके अन्तर्गत गयामें वे अजनके पुत्र बुद्धके रूपमें आयेंगे॥६७॥

अथासौ युगसन्ध्यायां दस्युप्रायेषु राजसु।
जनिता विष्णुयशसो नाम्ना कल्किर्जगत्पतिः॥६८॥

युगसन्धिपर अर्थात् कलियुगकी समाप्तिके निकट होनेपर राजा लोग प्रायः लुटेरे हो जायेंगे। तब जगत्पति विष्णुयश नामक ब्राह्मणके पुत्रके रूपमें अवतरित होकर कल्किके नामसे प्रसिद्ध होंगे॥६८॥

अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्त्वनिधेर्द्विजाः।
यथाविदासिनः कुल्याः सरसः स्युः सहस्रशः॥६९॥

हे शौनकादि द्विजगण! जैसे बृहत् जलाशयसे हजारों-हजारों जलधाराएँ निकलती हैं, उसी प्रकार सत्त्वनिधि भगवान् श्रीहरिके असंख्य अवतार हुआ करते हैं—मैंने उनमेंसे कुछेक का ही वर्णन किया है। अभी तो और बहुत-से अवतार बाकी हैं। कलियुगमें एक अति प्रधान विलक्षण अवतार होगा, जो प्रच्छन्न रूपमें रहेगा, इसका उल्लेख मैंने नहीं किया है॥६९॥

(श्रीमद्भा. १/३/२८)

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।
इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृडयन्ति युगे युगे॥७०॥

जिन-जिन अवतारोंका मैंने वर्णन किया, इनमेंसे बहुत-से पुरुषावतारके स्वांश हैं और बहुत-से शक्त्यावेश-विभिन्नांश तथा अंश-कलाएँ हैं, किन्तु श्रीकृष्ण ही स्वयंभगवान् हैं। इस बातको सदैव स्मरण रखना। ये सभी असुरों द्वारा पीड़ित लोक-समूहका प्रत्येक युगमें पालन करते हैं॥७०॥

श्रीमद्भा. ७/९/३८ में प्रह्लाद महाराज भगवान् श्रीनृसिंहकी स्तुति करते हुए कहते हैं—

इत्थं नृतिर्यगृषिदेवझषावतारै-
र्लोकान् विभावयसि हंसि जगत्प्रतीपान्।
धर्मं महापुरुष पासि युगानुवृत्तं
छन्नः कलौ यदभवस्त्रियुगोऽथ स त्वम्॥७१॥

इति श्रीमद्भागवतार्कमरीचिमालायां सम्बन्धज्ञानविषये
भगवत्-स्वरूपतत्त्वनिरूपणं नाम चतुर्थः किरणः॥

हे कृष्ण! आप इस प्रकार मनुष्य, तिर्यक, ऋषि, देवता और मत्स्यादि अवतार ग्रहणकर समस्त लोकोंका पालन करते हैं और जगत्के द्रोहियोंका विनाश करते हैं। हे महापुरुष! कलियुगमें आप युगानुवृत्त (युगानुरूप) नामसंकीर्त्तन-धर्मका प्रच्छन्न रूपसे प्रचार करेंगे, इसलिए आपका एक नाम 'त्रियुग' है, क्योंकि छन्नावतारको कोई भी शास्त्र सहज रूपसे प्रकाशित नहीं करता॥७१॥

चतुर्थ किरणकी 'मरीचिप्रभा' नामक गौड़ीय व्याख्याका भावानुवाद समाप्त॥

पञ्चम किरण

भगवत्-शक्ति तत्त्व

ह्लादिनीसारसम्प्राप्ता राधाशक्तिपरात्परा।
सैव गौरमहालक्ष्मीर्भजे गौडे गदाधरं॥[१]

श्रीगौरचन्द्रकी महालक्ष्मी-स्वरूप उन श्रीगदाधर पण्डितका भजन करता हूँ, जो श्रीकृष्णकी परात्परशक्ति अर्थात् अन्तरङ्गाशक्ति और ह्लादिनीके सारस्वरूप श्रीराधाजी हैं।

[१] यद्यपि उपलब्ध संस्करणोंकी अन्यान्य किरणोंके प्रार्थनामूलक श्लोककी भाँति इस किरणका प्रार्थनामूलक श्लोक किसी कारणवश आरम्भमें न होकर अन्तमें है, तथापि हमने अन्यान्य सभी किरणोंकी भाँति उसे आरम्भमें ही प्रस्तुत किया है।

श्रीकृष्णचैतन्यचन्द्राय नमः

श्रीमद्भा. १०/८७/१४ में श्रुतियाँ श्रीभगवान्से कहती हैं—

जय जय जह्यजामजित दोषगृभीतगुणां
त्वमसि यदात्मना समवरुद्धसमस्तभगः।
अगजगदोकसामखिलशक्त्यवबोधक ते
क्वचिदजयाऽऽत्मना च चरतोऽनुचरेन्निगमः॥१॥

हे अजित! आपकी जय हो, जय हो। महादोषरूप-त्रिगुणोंसे युक्त अजा जो आपकी माया है, आप उसका विनाश करें, क्योंकि उसके क्षय होनेपर आपका कुछ क्षय नहीं होता। आप आत्मशक्ति अर्थात् स्वरूपशक्तिके द्वारा स्वयंमें ही अखिल ऐश्वर्योंसे युक्त हैं तथा चराचर विश्वकी अखिल शक्तिके अवबोधक अर्थात् अधीश्वर आपको उपनिषद् स्थान-स्थानपर स्वरूपशक्ति-विशिष्ट तथा (विश्वके सम्बन्धमें) मायिक शक्ति-विशिष्टके रूपमें वर्णन करते हैं॥१॥

श्रीमद्भा. २/९/२६-२७ में श्रीब्रह्मा भगवान् श्रीकृष्णसे कहते हैं—

यथात्ममायायोगेन नानाशक्त्युपवृंहितम्।
विलुम्पन् विसृजन् गृह्णन् बिभ्रदात्मानमात्मना॥

क्रीडस्यमोघसंकल्प ऊर्णनाभिर्यथोर्णुते।
तथा तद्विषयां धेहि मनीषां मयि माधव॥२॥

आत्ममाया अर्थात् स्वरूपशाक्तिके योगसे नाना शक्तियों अर्थात् द्रव्य, ज्ञान और क्रिया शक्तिसे युक्त इस विश्वका आप सृजन, पालन और संहार करते हैं तथा आत्मशक्तिके द्वारा आप स्वयंको धारण करते हैं। जिस प्रकार मकड़ी अपने हृदयसे तन्तु-विस्तार करके उसमें विहार करती है, उसी प्रकार हे अमोघ-संकल्प! आप इस विश्वकी सृष्टि आदि करके सर्वत्र क्रीड़ा करते हैं। हे माधव! आप मुझे भी सृष्टि विषयक बुद्धि प्रदान कीजिये॥२॥

भगवान्‌की शक्ति अनन्त प्रकारकी है। इस सम्बन्धमें श्रीसूत गोस्वामी श्रीमद्भा. १/१८/१९ में शौनकादि ऋषियोंसे कहते हैं—

कुतः पुनर्गृणतो नाम तस्य महत्तमैकान्तपरायणस्य।
योऽनन्तशक्तिर्भगवाननन्तो महद्‌गुणत्वाद् यमनन्तमाहुः ॥३ ॥

जब कुलदोषरूप (विलोम जातिमें उत्पन्न होनेकी) हमारी आधि (मनोव्यथा) महानुभावोंके नाम उच्चारणसे दूर हो गयी है, तब फिर जो ऐसे महानुभावोंकी भी एकान्त गति है, उन अनन्त-शक्ति-विशिष्ट भगवान्‌के नामोंका उच्चारण करनेवालोंके विषयमें क्या कहा जाये? अर्थात् उनकी तो सब प्रकारकी व्याधियाँ दूर हो ही गयी होगी, इसमें किसी प्रकारके संशयकी कोई बात नहीं है। अनन्त महत्-गुणोंवाले होनेके कारण ही भगवान्‌को अनन्त कहा जाता है ॥३ ॥

भगवान्‌की आत्ममायाका नाम ही योगमाया है। इस सम्बन्धमें ब्रह्मा श्रीमद्भा. १०/१४/२१ में श्रीकृष्णसे कहते हैं—

को वेत्ति भूमन् भगवन् परात्मन् योगेश्वरोतीर्भवतस्त्रिलोक्याम्।
क्व वा कथं वा कति वा कदेति विस्तारयन् क्रीडसि योगमायाम् ॥४ ॥

हे भूमा (विराट) पुरुष! हे कृष्ण! हे परमात्मन्! हे योगेश्वर! इस विश्व ब्रह्माण्डमें ऐसा कौन व्यक्ति है, जो यह जान सके कि आप कहाँ, कब और किस रूपमें अपनी योगमाया अर्थात् स्वरूपशक्तिका विस्तार करके कौन-सी लीला प्रकाशित करते हैं? ॥४ ॥

भगवान्‌की तीन शक्तियों अर्थात् चित्-शक्ति, जीवशक्ति और माया-शक्तिके सम्बन्धमें श्रीमद्भा. ४/९/१५ में महाराज ध्रुव भगवान्‌से कहते हैं—

त्वं नित्यमुक्तपरिशुद्धविबुद्ध आत्मा
कूटस्थ आदिपुरुषो भगवांस्त्र्यधीशः।
यद्‌बुद्ध्यवस्थितिमखण्डितया स्वदृष्ट्या
द्रष्टा स्थितावधिमखो व्यतिरिक्त आस्से ॥५ ॥

हे भगवन्! आप नित्यमुक्त, परिशुद्ध (परम पवित्र), विबुद्धात्मा (सर्वज्ञ), कूटस्थ (निर्विकार), आदि-पुरुष, (अर्थात् प्रथम पुरुष), षडैश्वर्यसम्पन्न तथा चित्-शक्ति, जीवशक्ति और मायाशक्तिके अधीश्वर हैं। आप जीवसे सर्वथा भिन्न परतत्त्व हैं। आप अपनी अखण्डित चिन्मय आत्मदृष्टिके द्वारा जीवकी बुद्धिकी सभी अवस्थाओंके द्रष्टा अर्थात् दर्शन करनेवाले हैं। आप विश्वके पालनके निमित्त यज्ञाधिष्ठाता विष्णुके रूपमें वर्त्तमान हैं। जीवमें और आपमें यही नित्य भेद है कि आप स्वरूपतः नित्यमुक्त, परिशुद्ध, सर्वज्ञ, कूटस्थ अर्थात् निर्विकार, अनादि, भगवान् (ऐश्वर्यशाली) और गुणाधीश हैं। परन्तु जीव मलिन होने योग्य, अल्पज्ञ, माया विकार-प्रवण (मायाके संस्पर्शसे अपने स्वरूपको भूल जानेवाला), अणु-चैतन्य, भगहीन (ऐश्वर्यहीन), शक्तिहीन तथा क्षुद्र स्वतन्त्रतावशतः परतन्त्र हैं, वे स्वभावतः आपकी कृपासे ही मुक्त होते हैं॥५॥

श्रीमद्भा. १/१६/३३ में पृथ्वी धर्मसे कह रही है—

ब्रह्मादयो बहुतिथं यदपाङ्गमोक्ष-कामास्तपः समचरन् भगवत्प्रपन्नाः।
सा श्रीः स्ववासमरविन्दवनं विहाय यत्पादसौभगमलं भजतेऽनुरक्ता॥६॥

देखो, उन परम-ब्रह्म भगवान्की महिमाका मैं क्या वर्णन करूँ? ब्रह्मा, शिवादि बहुत समय तक जिस (श्रीलक्ष्मी) के कृपाकटाक्षको पानेके लिए शरणागत होकर कठोर तपस्या करते हैं, वही श्रीशक्ति लक्ष्मीजी स्वयं पद्मवनरूप अपने वासस्थानका परित्याग करके अनुरक्त भावसे उनके श्रीचरणकमलोंका भजन करती हैं॥६॥

उक्त स्वरूपशक्तिकी तीन नित्य वृत्तियाँ—ह्लादिनी, सन्धिनी और सम्विद् हैं। इनके सम्बन्धमें श्रीलशुकदेव गोस्वामी श्रीमद्भा. १०/३९/५५ में महाराज परीक्षित्से कहते हैं—

श्रिया पुष्ट्या गिरा कान्त्या कीर्त्या तुष्ट्येलयोर्जया।
विद्ययाऽविद्यया शक्त्या मायया च निषेवितम्॥७॥

श्री, पुष्टि, गीः, कान्ति, कीर्त्ति, तुष्टि, इला, ऊर्जा, विद्या, अविद्या और माया—ये सब भगवान्‌की शक्तिके विशेषण अर्थात् गुण हैं। यहाँ 'श्री' का अर्थ है—सन्धिनीकी प्रभावस्वरूपिणी होनेके कारण अर्थात् सन्धिनीका काम करनेवाली होनेके कारण सम्पदसमूहकी सम्पदको देनेवाली, 'पुष्टि' अर्थात् भगवत्-स्वरूपका पोषण करनेवाली शक्ति। 'गीः' अर्थात् वाक्‌शक्ति वेदादि। 'कान्ति' अर्थात् शोभा—जिसके द्वारा श्रीकृष्णके स्वरूपका सम्पूर्ण माधुर्य वर्धित होता है। 'कीर्त्ति' अर्थात् यश-विस्तारिणी। 'तुष्टि' अर्थात् आह्लादिनी। 'इला' अर्थात् भूशक्ति। 'ऊर्जा' अर्थात् लीलाशक्ति। 'विद्या' अर्थात् यथार्थ ज्ञानशक्ति और 'अविद्या' अर्थात् ह्लादिनी-पोषिका आवरणशक्ति[१]। ये समस्त शक्तियाँ अन्तरङ्गाशक्तिके अन्तर्गत हैं। इन शक्तियोंके अतिरिक्त बहिरङ्गा मायाशक्ति तथा उस मायाशक्तिके विकार-विशेष (२४ तत्त्वरूपी मायाकी शक्तियाँ)—इन समस्त शक्तियों द्वारा भगवान् सदैव परिसेवित होते हैं॥७॥

श्रीमद्भा. १०/१६/४६ में नागपत्नियाँ श्रीकृष्णसे कहती हैं—

नमो गुणप्रदीपाय गुणात्माच्छादनाय च।
गुणवृत्त्युपलक्ष्याय गुणद्रष्ट्रे स्वसम्विदे॥८॥

समस्त अप्राकृत गुणोंके प्रदीपस्वरूप (भक्तोंके प्रति प्रेमवश्यता आदि गुणोंको प्रकृष्ट रूपमें प्रकाशित करनेवाले), गुणस्वरूप-आच्छादनकारी (प्रकाशित प्रेमवश्यतारूपी गुण द्वारा अपने ऐश्वर्यको ढक कर रखनेवाले), गुण-वृत्तियोंके द्वारा उपलक्षित (भक्तितत्त्वज्ञ व्यक्तिको अपने स्वरूपका ज्ञान करानेवाले), अपनी सम्वित्-शक्तिके द्वारा सर्वगुण द्रष्टा (अपने भक्तोंके केवलमात्र गुणोंका ही दर्शन

---

[१] विद्याशक्ति (यथार्थ ज्ञानशक्ति)—भगवान्‌को उनकी भगवत्ताका स्मरण करानेवाली तथा अविद्याशक्ति (यथार्थ ज्ञानको भुला देनेवाली शक्ति)—भगवान्‌को भी उनकी भगवत्ताका विस्मरण कराके लीलामें सहायता करती हुई आह्लाद अर्थात् आनन्द वर्धित करती है।

करनेवाले, किन्तु दोषका लेशमात्र भी नहीं देखनेवाले) आपको हम प्रणाम करती हैं॥८॥

श्रीमद्भा. ८/३/२८ में गजेन्द्र भगवान्‌की स्तुति करते हुए कहते हैं—

नमो नमस्तुभ्यमसह्यवेग–शक्तित्रयायाखिलधीगुणाय।
प्रपन्नपालाय दुरन्तशक्तये कदिन्द्रियाणामनवाप्यवर्त्मने॥९॥

असह्यवेग–शक्तित्रय विशिष्ट (असह्य वेगशाली सत्त्व, रज और तम—ये तीन गुण जिनकी शक्तिका स्वरूप है, उन) अखिल धी–गुणसम्पन्न (समस्त इन्द्रियोंके शब्द आदि विषयके रूपमें प्रतीत होनेवाले), प्रपन्न–पालक (शरणागत भक्तोंकी रक्षा करनेवाले), दुरन्त शक्ति विशिष्ट (दुर्ज्ञेय अपार कृपाशक्तिवाले), जड़ेन्द्रिय द्वारा अप्राप्य (अजितेन्द्रिय व्यक्तिकी इन्द्रियों द्वारा दुष्प्राप्य) आपको मैं बारम्बार प्रणाम करता हूँ॥९॥

भगवान् स्वयं आत्मवस्तु हैं, उनके अतिरिक्त सब कुछ उनकी शक्तिका विकार है। श्रीमद्भा. ४/९/१६ में इसी विषयका वर्णन करते हुए महाराज ध्रुव कहते हैं—

यस्मिन् विरुद्धगतयो ह्यनिशं पतन्ति
विद्यादयो विविधशक्तय आनुपूर्व्यात्।
तद्ब्रह्म विश्वभवमेकमनन्तमाद्य–
मानन्दमात्रमविकारमहं प्रपद्ये॥१०॥

मैं उन्हीं एक, केवल आनन्द स्वरूप, अनन्त, आद्य–विश्व जनक, अविकारी ब्रह्म (अर्थात् भगवान्) के प्रपन्न होता हूँ, जिनमें नित्यरूपसे विराजमान रहनेवाली विद्या आदि विविध शक्तियाँ परस्पर विरुद्धगति होनेपर भी यथाक्रमसे अवनत होकर निरन्तर उनकी सेवा करती रहती हैं॥१०॥

श्रीमद्भा. ४/११/१८ में मनु ध्रुवसे कहते हैं—

स खल्विदं भगवान् कालशक्त्या
गुणप्रवाहेण विभक्तवीर्यः।

करोत्यकर्त्तैव निहन्त्यहन्ता
चेष्टा विभूम्नः खलु दुर्विभाव्या॥११॥

विभक्त वीर्य (विभक्त अर्थात् अपनेमेंसे ही विभक्त किया गया, वीर्य अर्थात् मायाशक्तिमें प्रविष्ट जीव शक्त्यात्मक चिदाभास है जिनका, वे) भगवान् अपनी कालशक्ति द्वारा गुणप्रवाह (सत्व आदि गुण समूहके प्रवाह) के क्रमसे अकर्त्ता होकर भी विश्वकी सृष्टि और पालन करते हैं तथा अहन्ता होनेपर भी विनाश करते हैं। ऐसे विभुकी लीला दुर्विभाव्य (अचिन्तनीय) है॥११॥

श्रीमद्भा. ११/४/२ में द्रुमिल ऋषि राजा निमिसे कहते हैं—

यो वा अनन्तस्य गुणाननन्तान्
अनुक्रमिष्यन् स तु बालबुद्धिः।
रजांसि भूमेर्गणयेत् कथञ्चित्
कालेन नैवाखिलशक्तिधाम्नः॥१२॥

अनन्त पुरुषके अनन्त गुण हैं। जो लोग उनके गुणोंकी गणना करना चाहते हैं, वे बालक बुद्धिवाले हैं। असम्भव होनेपर भी हो सकता है कि किसी प्रकार पृथ्वीके धूल-कणोंको गिना जा सकता है, किन्तु अखिल-कालमें अखिल-शक्तियोंके आश्रय भगवान्‌के गुणोंकी गणना कभी भी नहीं की जा सकती है॥१२॥

जड़माया योगमायाकी ही छाया है। श्रीमद्भा. २/५/१३ में ब्रह्मा नारदसे कहते हैं—

विलज्जमानया यस्य स्थातुमीक्षापथेऽमुया।
विमोहिता विकत्थन्ते ममाहमिति दुर्धियः॥१३॥

यह जड़माया अपनी हेयताके कारण लज्जित रहती है और भगवान्‌के दृष्टि-पथके सम्मुख आनेमें सक्षम नहीं होती। इसी जड़माया द्वारा मोहित होकर दुर्बुद्धिपरायण व्यक्ति जड़देहमें 'मैं' और जड़देहके अनुगत व्यक्तियों तथा वस्तुओंको 'मेरा' कहकर प्रलाप करते रहते हैं॥१३॥

जड़माया सतोगुण, रजोगुण और तमोगुणसे युक्त है। श्रीमद्भा. २/६/३२ में श्रीब्रह्माने कहा—

सृजामि तन्नियुक्तोऽहं हरो हरति तद्वशः।
विश्वं पुरुषरूपेण परिपाति त्रिशक्तिधृक्॥१४॥

हे नारद! मैं भगवान् द्वारा नियुक्त होकर इस विश्वकी सृष्टि करता हूँ, शिवजी भी उनकी आज्ञासे संहार करते हैं। भगवान् स्वयं पुरुष रूपमें अर्थात् विष्णुके रूपमें हमारे बीचमें बैठकर स्वयं त्रिशक्तिको धारणकर विश्वका पालन करते हैं। व्यवहारिक वचनोंमें ही मेरे और शिवादिके साथ विष्णुकी समानता दिखायी देती है, परन्तु विष्णु ईश्वर हैं तथा मैं (ब्रह्मा) और शिवादि उनके आज्ञाकारी आधिकारिक दास हैं॥१४॥

श्रीमद्भा. २/७/४१ में श्रीब्रह्मा कहते हैं—

नान्तं विदाम्यहममी मुनयोऽग्रजास्ते
मायाबलस्य पुरुषस्य कुतोऽपरे ये।
गायन् गुणान् दशशतानन आदिदेवः
शेषोऽधुनापि समवस्यति नास्य पारम्॥१५॥

हे नारद! माया बलधारी पुरुषके अन्त (सीमावधि) को जब मैं नहीं जानता। तुम्हारे अग्रज मुनिगण (सनकादि) भी नहीं जानते, तो फिर दूसरे किस प्रकार जान सकते हैं? यद्यपि सहस्रानन (सैकड़ों मुखोंवाले) आदिदेव शेष उनके समस्त गुणोंका अनादि-कालसे गान कर रहे हैं, तथापि वे भी आज तक उनके गुणोंका पार नहीं पा सके॥१५॥

श्रीमद्भा. २/९/१ में श्रीशुकदेव परीक्षित्से कहते हैं—

आत्ममायामृते राजन् परस्यानुभवात्मनः।
न घटेतार्थसम्बन्धः स्वप्नद्रष्टुरिवाञ्जसा॥१६॥

हे राजन्! श्रीभगवान् अनुभवस्वरूप (युक्ति तर्क आदि उपाय रहित केवल अनुभव वेद्य) परतत्त्व हैं। उनका मायिक पदार्थोंके

साथ वैसा ही सम्बन्ध है, जैसा स्वप्न देखनेवाले व्यक्तिका स्वप्नमें देखी हुई वस्तुके साथ होता है। चित्-शक्ति ही उनकी योजयिता (अघटन-घटन-पटीयसी) शक्ति है। चित्-शक्ति अचिन्त्य है॥१६॥

श्रीमद्भा. ३/६/३९ तथा ३/६/२ में मैत्रेय ऋषि विदुरसे कहते हैं—

अतो भागवती माया मायिनामपि मोहिनी।
यत्स्वयं चात्मवर्त्मात्मा न वेद किमुतापरे॥१७क॥

कालसंज्ञां तदा देवीं विभ्रच्छक्तिमुरुक्रमः।
त्रयोविंशतितत्त्वानां गणं युगपदाविशत्॥१७ख॥

भागवती माया (अघटन-घटन पटीयसी शक्ति) बड़े-बड़े मायावियोंको भी मोहित करनेवाली है। स्वेच्छाशील पुरुष स्वयंभगवान् भी जब उस मायाको नहीं जान सकते,[१] फिर अन्य लोगोंकी तो बात ही क्या? अनन्त भगवान्की प्रत्येक शक्ति अनन्त है। यद्यपि (जड़) माया छायाशक्ति है, तो भी मूल शक्तिकी भाँति अनन्त है। अनन्तकी सीमा अनन्त भी नहीं जानते। काल शक्तिको धारणकर भगवान्ने तेईस तत्त्वोंमें युगपत् (एकसाथ) प्रवेश किया। उसीसे सृष्टि हुई॥१७॥

श्रीमद्भा. ३/६/४० में श्रीब्रह्मा कहते हैं—

यतोऽप्राप्य न्यवर्तन्त वाचश्च मनसा सह।
अहञ्चान्य इमे देवास्तस्मै भगवते नमः॥१८॥

जिन्हें प्राप्त न कर सकनेके कारण वाणी मनके साथ निवृत्त हो जाती है अर्थात् लौट आती है तथा मैं (ब्रह्मा) तथा अन्य

---

[१] श्रीकृष्ण सर्वज्ञ होनेपर भी लीला आस्वादनके लिए मुग्धतावशतः अपनी मायाकी गतिको जाननेकी चेष्टा नहीं करते। जैसे नन्दभवनमें मणिस्तम्भमें श्रीकृष्ण अपने प्रतिबिम्बको देखकर यह नहीं समझ पाते कि यह मेरा ही प्रतिबिम्ब है। बल्कि चिन्ता करने लगते है कि यह सुन्दर बालक कौन है? अतएव इसी भावनासे ही कहा गया है कि भगवान् भी अपनी मायाको नहीं जान सकते।

समस्त देवतागण भी जिन्हें प्राप्त करनेमें असमर्थ हैं, उन भगवान्‌को नमस्कार करनेके अतिरिक्त मैं और कर भी क्या सकता हूँ॥१८॥

श्रीमद्भा. ३/७/२-३ और ५ में विदुर मैत्रेयसे प्रश्न कर रहे हैं—

ब्रह्मन् कथं भगवतश्चिन्मात्रस्याविकारिणः।
लीलया वापि युज्येरन्निर्गुणस्य गुणाः क्रियाः॥१९॥

हे ब्रह्मन्! भगवान् तो चिन्मात्र (मायातीत) अविकारी हैं, फिर वे किस प्रकार लीलाके द्वारा मायासे युक्त होते हैं? निर्गुणकी गुण-क्रिया किस प्रकार होती है?॥१९॥

क्रीडायामुद्यमोऽर्भस्य कामश्चिक्रीडिषान्यतः।
स्वतस्तृप्तस्य च कथं निवृत्तस्य सदान्यतः॥२०॥

कामना ही क्रीड़ाके लिए उद्यत बालकको कार्य कराती है। परन्तु भगवान् कामहीन, स्वतःतृप्त तथा निवृत्त (सांसारिक इच्छाओंसे रहित) हैं, अतएव उन्हें दूसरे व्यक्तियोंसे किस प्रकार लाभ अर्थात् आनन्द प्राप्त होता है?॥२०॥

देशतः कालतो योऽसाववस्थातः स्वतोऽन्यतः।
अविलुप्तावबोधात्मा स युज्येताजया कथम्॥२१॥

जो देश-काल तथा अवस्थाके वशीभूत नहीं होते, जो स्वभावतः अविलुप्त अवबोधात्मा (जिनके ज्ञानका कभी किसी भी कारणसे लोप नहीं होता), वे किस प्रकार मायाशक्तिसे संयुक्त होनेमें प्रवृत्त हो सकते हैं?॥२१॥

श्रीमद्भा. ३/७/९ में इन प्रश्नोंका उत्तर देते हुए मैत्रेय ऋषि विदुरसे कहते हैं—

सेयं भगवतो माया यन्नयेन विरुध्यते॥२२॥

इसका उत्तर मैं और किस रूपमें दे सकता हूँ? भगवान्‌की मायाके अतिरिक्त इसका और कोई कारण नहीं है। यदि तुम

अपनी बुद्धिसे उत्पन्न नीतिसङ्गत विचार द्वारा इसे समझना चाहते हो, तो यह कदापि सम्भवपर नहीं है, क्योंकि बुद्धिकी विचार शक्ति ससीम है, इसकी असीम तत्त्वमें गति नहीं है। अतएव तुम केवल वितर्क कर रहे हो! इतना निश्चित जानो कि भगवान्‌की शक्ति अचिन्त्य है॥२२॥

श्रीकृष्णकी लीला उनकी अपनी ही योगमाया शक्ति द्वारा सम्पादित होती है। इसी सम्बन्धमें श्रीशुकदेव गोस्वामी श्रीमद्भा. १०/१४/५७ में महाराज परीक्षित्‌से कहते हैं—

सर्वेषामपि वस्तूनां भावार्थो भवति स्थितः।
तस्यापि भगवान् कृष्णः किमतद्वस्तुरूप्यताम्॥२३॥

यह श्रीकृष्णलीला अचिन्त्यशक्ति द्वारा परिचालित है, इसे युक्ति द्वारा कौन समझ सकता है? प्राकृत तथा अप्राकृत जितनी भी वस्तुएँ हैं, उनकी सत्ता श्रीकृष्णकी शक्तिकी ही परिणति है, यह तो निश्चित ही है। इन सभी शक्तियोंके एकान्त आश्रयस्थल भगवान् श्रीकृष्ण हैं। अतएव उन श्रीकृष्णके अतिरिक्त अर्थात् उनके सम्बन्धसे रहित किसी और वस्तुकी सत्ताका निरूपण कोई किस प्रकार कर सकता है?॥२३॥

श्रीमद्भा. ३/२/१२ में श्रीउद्धव विदुरसे कहते हैं—

यन्मर्त्यलीलौपयिकं स्वयोगमायाबलं दर्शयता गृहीतम्।
विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः परं पदं भूषणभूषणाङ्गम्॥२४॥

श्रीकृष्णका विग्रह गोलोकका नित्य-धन है। इस प्रपञ्चात्मक जगत्‌में उन्होंने अपनी उस मूर्त्तिको योगमायाके प्रभाव द्वारा प्रकट किया है। उनका यह दिव्य श्रीविग्रह मर्त्य जगत्‌के लिए उपयोगी है।[1] श्रीकृष्णकी यह दिव्य-मूर्त्ति इतनी रमणीय है कि उसे

---

[1] "मर्त्य जगत्‌के लिए उपयोगी है", ऐसा कहनेसे उनके श्रीविग्रहका अपकर्ष माननेसे नहीं चलेगा, वास्तविकपक्षमें वैकुण्ठलीलाके स्वरूपोंसे भी इस जगत्‌में प्रकाशित श्रीविग्रहका अत्यधिक उत्कर्ष ही है। इसलिए कह रहे हैं—"स्व-

(शेष भाग अगले पृष्ठपर)

देखकर श्रीकृष्ण स्वयं भी विस्मित हो जाते हैं। यह श्रीविग्रह सौभग-ऋद्धिका परम पद (सौन्दर्यकी पराकाष्ठास्वरूप) तथा समस्त भूषणोंका भूषणस्वरूप हैं अर्थात् समस्त लौकिक दृश्योंमें अलौकिक और अलौकिक दृश्योंमेंसे परम लौकिक हैं॥२४॥

श्रीमद्भा. १०/८/४६ में राजा परीक्षित् श्रीशुकदेव गोस्वामीसे पूछते हैं—

नन्दः किमकरोद् ब्रह्मन् श्रेय एवं महोदयम्।
यशोदा च महाभागा पपौ यस्याः स्तनं हरिः॥२५॥

हे ब्रह्मन्! श्रीनन्द महोदयने (महान उदय अर्थात् महान फलको प्राप्त करनेवाले श्रीनन्दने) ऐसा कौन-सा श्रेयपूर्ण (मङ्गलमय) आचरण किया था? और महाभागा यशोदाने भी ऐसा कौन-सा श्रेयाचरण किया था कि श्रीहरिने स्वयं उनका स्तनपान किया?॥२५॥

श्रीमद्भा. १०/९/१३ में श्रीशुकदेव गोस्वामी परीक्षित्से कहते हैं—

न चान्तर्न बहिर्यस्य न पूर्वं नापि चापरम्।
पूर्वापरं बहिश्चान्तर्जगतो यो जगच्च यः॥२६॥

उन श्रीकृष्णकी मूर्त्तिकी अलौकिकता यही है कि उसका न तो भीतर है, न बाहर है, न पूर्व है और न अपर है। वे जगत्के पूर्वापर (कार्य-कारण) और अन्तर-बाहरमें विराजमान हैं अर्थात् सर्वव्यापक तथा जगत्स्वरूप हैं॥२६॥

(श्रीमद्भा. १०/९/२०-२१)

नेमं विरिञ्चो न भवो न श्रीरप्यङ्गसंश्रया।
प्रसादं लेभिरे गोपी यत्तत् प्राप विमुक्तिदात्॥२७॥

योगमायाबलं"अर्थात् योगमायाने ऐश्वर्य व माधुर्यको गोपन कर दिया है, प्रकाशित नहीं किया, किन्तु सब कुछ ही इस श्रीविग्रहमें संयोजित हुआ है। अधिक क्या, वैकुण्ठमें भी इस प्रकारका सामर्थ्य योगमाया द्वारा प्रदर्शित नहीं हुआ है। (श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर)

विमुक्ति दाता श्रीकृष्णसे गोपी यशोदाने जो कृपा प्राप्त की, उस कृपा-प्रसादको विरञ्चि (ब्रह्मा), भव (शङ्कर) तथा अङ्ग-संश्रया (वक्षस्थलपर विराजमान) लक्ष्मी भी प्राप्त नहीं कर सकीं॥२७॥

नायं सुखापो भगवान् देहिनां गोपिकासुतः।
ज्ञानिनां चात्मभूतानां यथा भक्तिमतामिह॥२८॥

गोपिकासुत (यशोदानन्दन) श्रीकृष्ण आत्मदर्शी ज्ञानियों और देहाभिमानी व्यक्तियोंके लिए उस प्रकार सुलभ नहीं होते, जिस प्रकार भक्तोंके लिए सर्वदा सुलभ होते हैं॥२८॥

श्रीकृष्णस्वरूपके अप्राकृतत्व तथा सर्वोत्कृष्टत्वके सम्बन्धमें ब्रह्मा श्रीमद्भा. १०/१४/२ में भगवान् श्रीकृष्णसे कह रहे हैं—

अस्यापि देव वपुषो मदनुग्रहस्य
स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि।
नेशे महि त्ववसितुं मनसाऽऽन्तरेण
साक्षात्तवैव किमुतात्मसुखानुभूतेः॥२९॥

हे देव! (मेरे जैसे अपराधीपर) अनुग्रह करके आपने अपने जिस विस्मय जनक दिव्य श्रीविग्रहका दर्शन कराया है—वह दिव्य श्रीविग्रह स्वेच्छामय (आपकी चिन्मयी इच्छाशक्तिका मूर्त्तिमानस्वरूप सच्चिदानन्दमय) है, भूतमय (पञ्चभूतोंकी रचना) नहीं। जब आपके इस प्रपञ्चातीत स्वरूपकी महिमा मैं स्थिर नहीं कर पा रहा हूँ, तब गोलोक स्थित आत्म-सुखानुभूतिरूप आपकी श्रीगोविन्द-मूर्त्ति (सदानन्दमय होनेपर भी बछड़ोंको चराकर आप अपने मनमें कैसा सुख अनुभव कर रहे हैं, उस सुखमय) की महिमा मैं क्या समझ पाऊँगा?॥२९॥

श्रीमद्भा. १०/१४/१४ में ब्रह्मा श्रीकृष्णसे कहते हैं—

नारायणस्त्वं न हि सर्वदेहिनाम्
आत्मास्यधीशाखिललोकसाक्षी ।

नारायणोऽङ्गं नरभूजलायनात्
तच्चापि सत्यं न तवैव माया॥३०॥

हे कृष्ण! क्या आप मेरे पिता नारायण नहीं हैं? वास्तवमें आप ही मूल नारायण हैं। आप ही अखिल लोकोंके साक्षी, समस्त देहधारियोंके आत्मा तथा अधीश्वर (अध्यक्ष) हैं। क्षीरोदकशायी नारायण आपके अंश हैं। वे सर्व-नार जात जलशायी (नर अर्थात् परमात्मासे उत्पन्न महदादि चौबीस तत्त्व तथा उनसे उत्पन्न जल, जिनका अयन अर्थात् आश्रय है, वही नारायण) हैं। वे आपके स्वांश होनेके कारण ही सत्य सच्चिदानन्दमय हैं। उनमें भी आपकी जड़मायाका प्रवेश नहीं है॥३०॥

श्रीकृष्णतत्त्वके ज्ञानके अधिकारी कौन है? श्रीमद्भा. १०/१४/२९ में इसके उत्तरमें कहते हैं—

अथापि ते देव पदाम्बुजद्वय-
प्रसादलेशानुगृहीत एव हि।
जानाति तत्त्वं भगवन्महिम्नो
न चान्य एकोऽपि चिरं विचिन्वन्॥३१॥

श्रीकृष्णतत्त्व ही सर्वोपरि हैं। श्रीकृष्णकी विलासमूर्त्ति परव्योमपति नारायण तथा बलदेव हैं। श्रीकृष्णके अंश विष्णु हैं। ब्रह्म श्रीकृष्णकी अङ्गकान्ति हैं। कृष्णलोक या गोलोक परव्योममें सर्वोच्च तथा सर्वगूढ़ प्रकोष्ठ है। यद्यपि इसी गोलोकलीलाको श्रीकृष्णने अपनी अचिन्त्यशक्तिके द्वारा इस प्रपञ्चमें भक्तोंके सुख-विधानके लिए अवतरण कराया है, तथापि वे परव्योमसे अतीत तत्त्व हैं। ऐसे श्रीकृष्णको कौन जान सकता है? ब्रह्माजी कहते हैं—हे भगवन्! आपके श्रीचरणकमलोंकी कृपालेशके द्वारा जो अनुगृहीत हैं, वे ही आपकी महिमा तथा आपके परतत्त्वको समझ सकते हैं। भक्तोंके अतिरिक्त अन्य कोई शास्त्र अथवा बुद्धिके द्वारा चिरकाल तक आलोचना करके भी आपको नहीं जान सकते॥३१॥

श्रीमद्भा. ३/९/२३ में श्रीब्रह्मा नारद ऋषिसे कहते हैं—

एष प्रपन्नवरदो रमयाऽऽत्मशक्त्या
यद् यत्करिष्यति गृहीतगुणावतारः।
तस्मिन् स्वविक्रममिदं सृजतोऽपि चेतो
युञ्जीत कर्मशमलं च यथा विजह्याम्॥३२॥

भगवान् अपने शरणागत भक्तोंके प्रति वरद (वर देनेवाले) होकर रमारूपा अपनी आत्मशक्तिके द्वारा अवतार रूपमें जो कुछ करते हैं, यदि जीव अपने प्रभुकी उन महापराक्रमी लीलाओंके प्रति चित्तका संयोग कर ले तो उसके समस्त कर्म-शमल (मल, पाप) दूर हो जाते हैं॥३२॥

श्रीमद्भा. ७/१५/७५ में श्रीनारद मुनि महाराज युधिष्ठिरसे कहते हैं—

यूयं नृलोके वत भूरिभागा
लोकं पुनाना मुनयोऽभियन्ति।
येषां गृहानावसतीति साक्षाद्
गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम्॥३३॥

आपलोग इस मनुष्य लोकमें अति भाग्यशाली हैं; क्योंकि लोक पवित्रकारी भक्त और मुनिगण समय-समयपर आपके यहाँ निवास करनेवाले मनुष्य लिङ्गधारी साक्षात् परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्णके दर्शनकी अभिलाषासे आपके घरमें आते रहते हैं॥३३॥

श्रीमद्भा. १०/२/३४-३७ में देवगण श्रीकृष्णकी वन्दना करते हुए कहते हैं—

सत्त्वं विशुद्धं श्रयते भवान् स्थितौ
शरीरिणां श्रेय उपायनं वपुः।
वेदक्रियायोगतपःसमाधिभि-
स्तवार्हणं येन जनः समीहते॥३४॥

हे प्रभो! संसारकी स्थितिके समय, समस्त देहधारियोंके परम कल्याणके लिए आपने जिस विशुद्ध सत्त्वमय स्वरूपको प्रकट

किया है—वह स्वरूप ही परम श्रेयको प्राप्त करनेका एकमात्र उपाय है। रसिक भक्तोंकी बात तो बहुत दूर रहे, वैध भक्तगण भी आपके इस रूपका आश्रय लेकर वैदिक-क्रिया, योग, तप तथा समाधिके द्वारा आपकी अर्चना करते रहते हैं। (यदि आप अपने इस विशुद्ध सत्त्वमय स्वरूपको प्रकटित न करते, तो आपके अर्चनसे रहित होनेके कारण उनमें अज्ञान तथा उसके फलस्वरूप अपरोक्ष ज्ञानकी प्राप्ति सम्भवपर न होती)॥३४॥

सत्त्वं न चेद्धातरिदं निजं भवेद्
विज्ञानमज्ञानभिदापमार्जनम्।
गुणप्रकाशैरनुमीयते भवान्
प्रकाशते यस्य च येन वा गुणः॥३५॥

न नामरूपे गुणजन्मकर्मभि-
र्निरुपितव्ये तव तस्य साक्षिणः।
मनोवचोभ्यामनुमेयवर्त्मनो
देव क्रियायां प्रतियन्त्यथापि हि॥३६॥

हे देव! आपका रूप तथा गुण विज्ञान-प्रकाशक और अज्ञान भेदका नाश करनेवाला शुद्ध सत्त्वात्मक है; किन्तु मायिक चक्षुओंवाला यदि कोई आपके इस रूपको मिश्र-सत्व समझता है तो समझे, तथापि हे प्रभो! वास्तवमें मिश्र-सत्त्व आपके रूप-गुणका स्वरूप नहीं है। आपके द्वारा निर्गुणताके प्रकाशका फल यह है कि जो आपके इस निर्गुण रूपका चिन्तन करते हैं, वे क्रमशः स्वरूपगत निर्गुणताको प्राप्त करते हैं। आपके गुणसमूह क्रमसे उनके हृदयमें प्रकाशित होते हैं॥३५-३६॥

शृण्वन् गृणन् संस्मरयंश्च चिन्तयन्
नामानि रूपाणि च मङ्गलानि ते।
क्रियासु यस्त्वच्चरणारविन्दयो-
राविष्टचेता न भवाय कल्पते॥३७॥

आपके मङ्गलमय नाम तथा रूपके श्रवण, उच्चारण (कीर्त्तन), स्मरण और चिन्तनरूप उपासनात्मक क्रियाओंके द्वारा, जो आपके श्रीचरणकमलोंमें अपने चित्तको आविष्ट कर देता है, उस भक्तका जड़जगत्से कोई सम्बन्ध ही नहीं रह जाता अर्थात् उसे पुनः इस जन्म-मरण प्रवाहरूपी संसारमें आना-जाना नहीं पड़ता॥३७॥

श्रीमद्भा. ९/२४/६५ में श्रीशुकदेव परीक्षित्से कहते हैं—

यस्याननं मकरकुण्डलचारुकर्ण-
भ्राजत्कपोलसुभगं सविलासहासम्।
नित्योत्सवं न ततृपुर्दृशिभिः पिबन्त्यो
नार्यो नराश्च मुदिताः कुपिताः निमेश्च॥३८॥

यद्यपि श्रीकृष्णके सुन्दर मुखकमल और मकराकृत कुण्डलसे सुशोभित कपोलोंके सौन्दर्य तथा सुविलासमय हास्यरूप नित्य उत्सवामृतका अपने नेत्रोंके द्वारा पानकर नर-नारीगण परमानन्दित होते थे; तथापि अतृप्तिवशतः चक्षुके निमेषकर्त्ता निमिको अभिशाप देते थे॥३८॥

श्रीमद्भा. ३/२/११ में श्रीउद्धव विदुरसे कहते हैं—

प्रदर्श्यातप्ततपसामवितृप्तदृशां नृणाम्।
आदायान्तरधाद्यस्तु स्वबिम्बं लोकलोचनम्॥३९॥

यद्यपि समस्त लोक प्राकृत हैं तथापि (आप करुणावशतः) अविद्यारूपी तापसे तप्त व्यक्तियोंके अतृप्त चक्षुओंको अपनी लोकलोचन (अप्राकृत लोकके दर्शनस्वरूप) श्रीमूर्त्ति दिखाकर अन्तर्हित हो गये। आपकी श्रीव्रजेन्द्रनन्दन-मूर्त्ति गोलोक स्थित उस नित्य गोविन्द मूर्त्तिका प्रकाशान्तर ही है। जिस मूर्त्तिका दर्शन होनेसे अप्राकृत तत्त्वका दर्शन होना हो जाता है, वही लोकलोचन हैं॥३९॥

(श्रीमद्भा. ३/२/१३-१४)

यद्धर्मसूनोर्बत राजसूये
निरीक्ष्य दृक्स्वस्त्यनं त्रिलोकः।

कात्स्न्र्येन चाद्येह गतं विधातु–
रर्वाक्सृतौ कौशलमित्यमन्यत ॥४०॥

त्रिभुवन स्थित व्यक्तिगण धर्म-पुत्र युधिष्ठिर महाराजके राजसूय यज्ञमें जीवोंके नेत्रोंके उत्सवस्वरूप मङ्गलमय श्रीकृष्णके रूपको देखकर विधाताके मानव-निर्माण-कौशलकी पराकाष्ठा कहकर स्तुति करने लगे॥४०॥

यस्यानुरागप्लुतहासरास–
लीलावलोकप्रतिलब्धमानाः ।
व्रजस्त्रियो दृग्भिरनुप्रवृत्त–
धियोऽवतस्थूः किल कृत्यशेषाः ॥४१॥

(घरके कार्योंमें व्यस्त व्रजस्त्रियाँ जब मार्गसे श्रीकृष्णको जाते देखती हैं, तब) श्रीकृष्णकी अनुरागपूर्ण हास्य-विनोदरूपी लीलाओंको देखकर अपने अत्यधिक सौभाग्यको प्राप्त करती हैं, (किन्तु श्रीकृष्ण द्वारा आगे बढ़ जानेपर) उन व्रजस्त्रियोंके नेत्रोंके साथ-साथ उनका चित्त भी श्रीकृष्णका अनुगामी बन जाता है, जिसके फलस्वरूप वे इस प्रकार जड़ पुतलियोंकी भाँति खड़ी हो जाती है मानो उनके घरके समस्त कार्य सम्पूर्ण हो गये हैं॥४१॥

(श्रीमद्भा. ३/२/२१)

स्वयन्त्वसाम्यातिशयस्त्र्यधीशः स्वाराज्यलक्ष्म्याप्तसमस्तकामः।
बलिं हरद्भिश्चिरलोकपालैः किरीटकोटीडितपादपीठः ॥४२॥

श्रीकृष्ण कैसे हैं? वे स्वयं तीनों शक्तियों (चित्-शक्ति, जीव-शक्ति और मायाशक्ति) के अधीश्वर हैं। उनके समान या उनसे बढ़कर कोई नहीं है। वे अपनी चित्-राज्यलक्ष्मी (अपने अंश भक्त, शक्ति, लीला, ऐश्वर्य और माधुर्य आदि रूपी चित्-शक्तिकी सम्पत्ति) द्वारा सेवित तथा पूर्णकाम हैं। उनकी पादपीठ (चौकी) लोकपालों द्वारा प्रदत्त उपहारोंसे समावेष्टित, उनके मुकुटोंके अग्रभागसे स्पर्शित तथा उनके द्वारा संस्तुत हैं॥४२॥

(श्रीमद्भा. ३/२/२३)

अहो बकीयं स्तनकालकूटं
जिघांसयापाययदप्यसाध्वी ।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं
कं वा दयालुं शरणं व्रजेम ॥४३॥

अहो! अति आश्चर्यका विषय है कि बकासुरकी बहन पूतनाने श्रीकृष्णको मारनेकी इच्छासे असत् भावका अवलम्बनकर स्तनपर लगे कालकूट अर्थात् हलाहल विषका पान करानेपर भी धात्री (धाय) जैसी गति प्राप्त कर ली। अतएव श्रीकृष्णके अतिरिक्त कौन और ऐसा दयालु है, जिसके शरणापन्न हुआ जाये? ॥४३॥

श्रीमद् गोलोकधामकी नित्यलीला भगवान्‌की चित्-शक्तिके द्वारा यहाँ (इस भौम्य लोकमें) प्रकट होती है। कुछ-कुछ गोलोकीय अष्टकालीन लीलाका श्रीलशुकदेव गोस्वामी द्वारा वर्णन किया गया है। जैसे, श्रीमद्भा. ३/२/२७ में कहा गया है—

परीतो वत्सपैर्वत्सांश्चारयन् व्यहरद्विभुः।
यमुनोपवने कूजद्द्विजसंकुलिताङ्घ्रिपे ॥४४॥

कलरव करते हुए पक्षियोंसे सुशोभित, हरे-भरे वृक्षोंसे परिमण्डित यमुनाके उपकूलपर वत्सपालों अर्थात् गोपबालकोंके द्वारा परिवेष्टित होकर श्रीकृष्ण बछड़ोंको चराते हुए विहार करते हैं॥४४॥

(श्रीमद्भा. ३/२/२९)

स एव गोधनं लक्ष्म्या निकेतं सितगोवृषम्।
चारयन्ननुगान् गोपान् रणद्वेणुररीरमत् ॥४५॥

श्रीकृष्ण लक्ष्मीकी आवास-भूमि हैं अर्थात् परम शोभायमान हैं। कुछ बड़े होनेपर वे श्वेत वर्णके बैल और गैयाओं सहित अपने साथी ग्वालबालोंके सङ्गमें बाँसुरी बजाते हुए वृन्दावनमें गोचारण करने लगे॥४५॥

(श्रीमद्भा. ३/२/३४)

शरच्छशिकरैर्मृष्टं मानयन् रजनीमुखम्।
गायन् कलपदं रेमे स्त्रीणां मण्डलमण्डनः॥४६॥

शारदीय-चन्द्रकी समुज्ज्वल किरणोंसे समुद्भासित (देदीप्यमान) रजनीमें आनन्दित होकर श्रीकृष्णने वेणुपर कलगीत (अव्यक्त मधुरपद) गाते हुए व्रजस्त्रियोंकी मण्डलीके मण्डनस्वरूप होकर रमण किया था। इस वर्णनके द्वारा शारदीय-रासकी नित्यता प्रदर्शित हुई॥४६॥

श्रीभगवान्‌के नित्यलीलागत नामोंकी नित्यताके विषयमें श्रीमद्भा. १०/८/१३ में गर्ग मुनिने महाराज नन्दसे कहा—

आसन् वर्णास्त्रयो ह्यस्य गृह्णतोऽनुयुगं तनूः।
शुक्लो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गतः॥४७॥

हे नन्द! आपका पुत्र प्रत्येक युगमें ही अवतरित होता है। पहले यह शुक्ल, रक्त तथा पीत—इन तीन प्रकारके वर्णोंकी अङ्गकान्तिको धारणकर प्रकट हुआ था, अब इस समय (द्वापरके शेष भागमें) यह कृष्ण-वर्ण (साँवली अङ्गकान्ति धारणकर) प्रकट हुआ है॥४७॥

(श्रीमद्भा. १०/८/१५)

बहूनि सन्ति नामानि रूपाणि च सुतस्य ते।
गुणकर्मानुरूपाणि तान्यहं वेद नो जनाः॥४८॥

गुणों तथा कर्मोंके अनुसार इसके बहुत-से नाम और रूप हैं। इन सब नाम और रूपोंको मैं शास्त्रके द्वारा जानता हूँ; किन्तु साधारण मनुष्य उसे नहीं जानते॥४८॥

(श्रीकृष्णकथाके) श्रवणका फल। श्रीरुक्मिणीने श्रीमद्भा. १०/५२/३७ में श्रीकृष्णको लिखकर बताया—

श्रुत्वा गुणान् भुवनसुन्दर शृण्वतां ते
निर्विश्य कर्णविवरैर्हरतोऽङ्गतापम्।

रूपं दृशां दृशिमतामखिलार्थलाभं
त्वय्यच्युताविशति चित्तमपत्रपं मे ॥४९॥

हे भुवन सुन्दर! हे अच्युत! जिनमें श्रवण शक्ति है, उनके कर्ण-कुहरोंमें आपके गुणसमूह प्रविष्ट होकर समस्त तापका विनाश कर डालते हैं। जिनमें दर्शन शक्ति है, वे आँखों द्वारा आपके रूपका दर्शनकर अखिलार्थ लाभ अर्थात् अपनी समस्त कामनाओंको पूर्ण करते हैं। आपके रूप-गुणोंको श्रवण करके मेरा चित्त भी निर्लज्ज होकर आपमें प्रविष्ट अर्थात् आविष्ट हो गया है ॥४९॥

श्रीमद्भा. १/१८/१४ में शौनकादि ऋषिगण श्रीसूत गोस्वामीसे कहते हैं—

को नाम तृप्येद्रसवित्कथायां
महत्तमैकान्तपरायणस्य ।
नान्तं गुणानामगुणस्य जग्मु-
र्योगेश्वरा ये भवपाद्ममुख्याः ॥५०॥

इति श्रीमद्भागवतार्कमरीचिमालायां भगवत् सम्बन्धज्ञानविषये भगवच्छक्तितत्त्वनिरूपणं नाम पञ्चमः किरणः ॥

महत्तम व्यक्तियोंके एकमात्र आश्रय श्रीकृष्ण हैं। उनकी कथा सुनकर कौन तृप्त हो सकता है अर्थात् जितना सुनते जाते हैं, उतना ही अधिक सुननेका आग्रह बढ़ता जाता है। ब्रह्मा, शिवादि योगेश्वरगण भी अगुणस्वरूप (निर्गुण) श्रीकृष्णके गुणोंका गान करते-करते उनकी थाह नहीं पाते हैं ॥५०॥

पञ्चम किरणकी 'मरीचिप्रभा' नामक गौड़ीय व्याख्याका भावानुवाद समाप्त ॥

षष्ठ किरण

भगवत्-रस तत्त्व

येन विस्तारितो गौरकृपया रससागरः।
विशाखिकास्वरूपं तं रामानन्दमहं भजे॥

मैं श्रीविशाखादेवीके अवतारस्वरूप उन श्रीरामानन्द रायका भजन करता हूँ, जिनके द्वारा श्रीगौराङ्ग महाप्रभुकी कृपासे रसरूपी सागरका (इस जगत्में) विस्तार हुआ है।

श्रीकृष्णचैतन्यचन्द्राय नमः

अखिल-रसोंके कदम्ब (समूह) स्वरूप श्रीकृष्णके कुछेक रसोंका परिचय देते हुए श्रीमद्भा. १०/४३/१७ में श्रीशुकदेव गोस्वामी परीक्षित्से कहते हैं—

मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्त्तिमान्
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः।
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनां
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गं गतः साग्रजः॥१॥

जब श्रीकृष्ण बलरामजीके साथ कंसकी रङ्गशालामें उपस्थित हुए, तब वहाँ उपस्थित सभासदोंमें जिनका जो रस था, वे उसी रसके अनुकूल श्रीकृष्णका दर्शन करने लगे। यथा—

वीररस प्रिय मल्लों (बलिष्ठ पुरुषों) ने देखा कि साक्षात् वज्रस्वरूप श्रीकृष्ण उदित हुए हैं।

मधुररस प्रिय स्त्रियाँ श्रीकृष्णको साक्षात् मूर्त्तिमान मन्मथ (कामदेव) के रूपमें दर्शन करने लगीं।

साधारण मनुष्य उन्हें जगत्के एक नरपतिके रूपमें देखने लगे। (यहाँ विस्मय अर्थात् अद्भुतरस है)

हास्य प्रिय सखाओंने उन्हें अपने प्रिय मित्रके रूपमें देखा। (सख्य वात्सल्य)

भयभीत, असत् राजाओंने श्रीकृष्णको शासन कर्त्ताके रूपमें देखा। (रौद्ररसाभास)

माता-पिताने अत्यन्त सुन्दर शिशुके रूपमें दर्शन किया। (यहाँ वात्सल्य तथा करुणरस है)

भोजपति कंसने श्रीकृष्णको साक्षात् मृत्युके रूपमें देखा। (भयानक रसाभास)

जड़बुद्धिवाले मनुष्योंने विराट् विश्वरूप देखा। (वीभत्स रसाभास)

परम योगियोंने उन्हें परमतत्त्वके रूपमें देखा। (शान्तरस)

वृष्णिवंशीय पुरुष उन्हें परमदेवताके रूपमें दर्शन करने लगे (दास्यरस)॥१॥

श्रीमद्भा. १/१/१९ में शौनकादिक ऋषियोंने श्रीसूत गोस्वामीसे कहा—

वयन्तु न वितृप्याम उत्तमश्लोकविक्रमे।
यच्छृण्वतां रसज्ञानां स्वादु स्वादु पदे पदे॥२॥

जिनकी लीलाकथाओंको श्रवण करके रसिकोंका आस्वादन पद-पदपर उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है, उन्हीं श्रीकृष्णकी कथाओंके श्रवणसे हम तृप्त नहीं हो रहे हैं अर्थात् निरन्तर हरिकथा सुनकर भी तृप्ति होनेकी अपेक्षा, अधिक आस्वादन पानेकी आशासे हमारे उत्साह तथा आग्रहमें ओर भी वृद्धि हो रही है॥२॥

वीर, करुण आदि सात गौण रसोंके दृष्टान्त श्रीमद्भागवतमें अनेक स्थानोंपर वर्णित हैं। यथा, श्रीकपिलदेव श्रीमद्भा. ३/२५/४२ में देवहूतिसे कहते हैं—

मद्भयाद्वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति मद्भयात्।
वर्षतीन्द्रो दहत्यग्निर्मृत्युश्चरति मद्भयात्॥३॥

मेरे भयसे पवन प्रवाहित होता है, सूर्य ताप प्रदान करता है, इन्द्र वर्षा करता है, अग्नि दहन करती है तथा मृत्यु विचरण करती है—यह रौद्ररसका उदाहरण है॥३॥

श्रीमद्भा. १०/९/१८ में श्रीशुकदेव गोस्वामी महाराज परीक्षित्से कहते हैं—

स्वमातुः स्विन्नगात्राया विस्रस्तकवरस्रजः।
दृष्ट्वा परिश्रमं कृष्णः कृपयाऽऽसीत् स्वबन्धने॥४॥

कृपारस वात्सल्यरसके अन्तर्गत है। श्रीकृष्णने जब देखा कि माता यशोदा परिश्रमके कारण पसीनेसे लथपथ हो गयी हैं तथा

उनकी चोटीमें गुँथी हुई माला शिथिल हो गयी है, तब अपनी माताको क्लान्त जानकर श्रीकृष्णने कृपापूर्वक स्वयं ही बन्धन स्वीकार कर लिया॥४॥

श्रीमद्भा. २/३/१८ में श्रीशौनक सूत गोस्वामीसे कहते हैं—

तरवः किं न जीवन्ति भस्त्राः किं न श्वसन्त्युत।
न खादन्ति न मेहन्ति किं ग्रामे पशवोऽपरे॥५॥

वृक्ष क्या जीते नहीं हैं? धौंकनी क्या साँस नहीं लेती? गाँवके पशु क्या आहार और प्रसवादि (सन्तान उत्पन्न) नहीं करते? तब क्यों संसारी लोग वृथा ही जीवन धारण करते हैं? (कहनेका तात्पर्य यह है कि यदि आत्मतत्त्व और परमात्मतत्त्वको जाननेके लिए चेष्टा नहीं की जाये तो मनुष्य जन्म वृथा नष्ट हो जाता है।)—यह वीभत्सरसका उदाहरण है॥५॥

सभी गौण रसोंका उदाहरण देनेकी आवश्यकता नहीं है। मुख्य रसोंमें सर्वप्रथम शान्तरस है। श्रीमद्भा. ४/११/३० में इसका उदाहरण देते हुए मनु ध्रुवको कह रहे हैं—

त्वं प्रत्यगात्मनि तदा भगवत्यनन्त
आनन्दमात्र उपपन्नसमस्तशक्तौ।
भक्तिं विधाय परमां शनकैरविद्या-
ग्रन्थिं विभेत्स्यसि ममाहमिति प्ररूढम्॥६॥

प्रत्यगात्मा (अपने स्वरूपमें स्थित), अनन्त, भगवान्, आनन्दमात्र तथा समस्त शक्तिसम्पन्न पुरुषके प्रति भक्तिका विधान करके तुम क्रमानुसार 'मैं-मेरा' रूप अविद्या-ग्रन्थिका छेदन करना॥६॥

दास्यरसका उदाहरण। श्रीमद्भा. १०/१२/११ में श्रीशुकदेव परीक्षित्‌को कहते हैं—

इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या दास्यं गतानां परदैवतेन।
मायाश्रितानां नरदारकेण साकं विजह्रुः कृतपुण्यपुञ्जाः॥७॥

श्रीकृष्णकी वन-विहार लीलामें रक्तक, पत्रक आदि दास्यरससे युक्त सुकृत पुण्यशाली भक्तोंने योगमायाका आश्रय किये हुए (नर बालकरूपी) परदेवता श्रीकृष्णके साथ ब्रह्मसुख अर्थात् परमानन्दमका अनुभव करते हुए विहार किया था॥७॥

सख्यरसका उदाहरण। यथा, ब्रह्मा श्रीमद्भा. १०/१४/३२ में श्रीकृष्णसे कहते हैं—

अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्॥८॥

अहो! कैसा परम सौभाग्य है! पूर्णब्रह्म सनातन परमानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण नन्द महाराज आदि इन व्रजवासी गोपोंके, मित्रके रूपमें प्रतीत हो रहे हैं॥८॥

श्रीमद्भा. १०/१८/२४ में श्रीशुकदेव गोस्वामी परीक्षित्‌से कहते हैं—

उवाह कृष्णो भगवान् श्रीदामानं पराजितः।
वृषभं भद्रसेनस्तु प्रलम्बो रोहिणीसुतम्॥९॥

मल्लयुद्धमें पराजित होनेपर भगवान् श्रीकृष्ण श्रीदामको, भद्रसेन छद्मवेशी (भेस बदलकर आये) वृषभको तथा छद्मवेशी प्रलम्बासुर बलदेवको वहन करने लगा॥९॥

दास्यमिश्रित सख्यका उदाहरण। यथा, श्रीमद्भा. १०/१४/३४-३५ में ब्रह्मा श्रीकृष्णसे कहते हैं—

तद् भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां
यद् गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम्।
यज्जीवितं तु निखिलं भगवान् मुकुन्द-
स्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव॥१०॥

अहो! इस वृन्दावनमें जन्म ग्रहण करना बड़े सौभाग्यका विषय है। विशेष रूपसे गोकुलवनमें, क्योंकि तभी वहाँ वास करनेवाले किसी व्रजवासीकी चरणरज द्वारा अभिषिक्त हुआ जा सकता है।

भगवान् मुकुन्द इन गोकुलवासियोंके जीवनस्वरूप हैं। श्रुतियाँ श्रीकृष्णकी पदरजका अद्यावधि (आज तक) भी अनुसन्धान कर रहीं हैं॥१०॥

एषां घोषनिवासिनामुत भवान् किं देवरातेति न–
श्चेतो विश्वफलात् फलं त्वदपरं कुत्राप्ययन् मुह्यति।
सद्वेषादिव पूतनापि सकुला त्वामेव देवापिता
यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्त्वत्कृते ॥११॥

हे देव! इन घोष (गोकुल) वासियोंको आप क्या फल देंगे, मैं नहीं समझ पा रहा हूँ। विश्वके फलस्वरूप अर्थात् सर्वफलात्मक आपके अतिरिक्त और भी कोई परम उत्कृष्ट फल है, यह चिन्तन करनेसे चित्त मोहको प्राप्त होता है। हे देव! पूतनाने केवलमात्र सद्वेश (माता जैसे रूप) के द्वारा अपने कुल अर्थात् अघासुर आदि सहित आपको प्राप्त कर लिया। फिर इन गोकुलवासियोंके तो गृह, धन, सुहृद, अपने प्रिय द्रव्य, आत्मा, पुत्र, प्राण और हृदय आदि समस्त वस्तुएँ आपके उद्देश्य अर्थात् आपकी प्रीतिके लिए ही हैं—अतः आप इन्हें कौन-सा फल प्रदान करेंगे? (अर्थात् इनकी भक्तिके अनुरूप आपके पास देनेके लिए कुछ भी नहीं है, अतः आप इनके ऋणी हैं।)॥११॥

श्रीमद्भा. ४/९/१७ में ध्रुव महाराज श्रीकृष्णसे कहते हैं—

सत्याशिषो हि भगवंस्तव पादपद्म–
माशीस्तथानुभजतः पुरुषार्थमूर्तेः।
अप्येवमर्य भगवान् परिपाति दीनान्
वाश्रेव वत्सकमनुग्रहकातरोऽस्मान्॥१२॥

हे भगवन्! निरन्तर भजन करनेवालोंके लिए आप पुरुषार्थ-मूर्त्ति हैं अर्थात् उनके लिए आप ही एकमात्र पुरुषार्थ हैं। आपके श्रीचरणकमलकी प्राप्ति ही वास्तविक आशीषस्वरूप पारमार्थिक फल है। हे आर्य! आप भगवत्-स्वरूप हैं। गाय जिस प्रकार

अपने बछड़ेको दुग्धपान कराती है तथा विघ्नरूप व्याघ्रादियोंसे रक्षा करती है, उसी प्रकार आप मेरे जैसे दीन-हीनका अनुग्रहपूर्वक पालन करें॥१२॥

वात्सल्यरसका उदाहरण। यथा, श्रीशुकदेव श्रीमद्भा. १०/६/४० में परीक्षित्से कहते हैं—

तासामविरतं कृष्णे कुर्वतीनां सुतेक्षणम्।
न पुनः कल्पते राजन् संसारोऽज्ञानसम्भवः॥१३॥

मातृवत् (माताके समान) गोपियाँ श्रीकृष्णको सदैव अपने पुत्रके समान मानती थीं, इसलिए उन गोपियोंके फिरसे संसाररूपी अज्ञानकी सम्भावना अर्थात् मायाके कारण इस संसारमें जन्म लेनेके विषयमें स्वप्नमें भी सोचा नहीं जा सकता॥१३॥

(श्रीमद्भा. १०/११/५८)

इति नन्दादयो गोपाः कृष्णरामकथां मुदा।
कुर्वन्तो रममाणाश्च नाविन्दन् भववेदनाम्॥१४॥

नन्दादि गोप परमानन्दके साथ राम-कृष्णकी कथाओंमें निमग्न रहा करते थे, इसलिए उन्होंने संसार-दुःख कभी अनुभव ही नहीं किया। द्रोणादिका (बादमें) वैकुण्ठ गमन हुआ था, किन्तु गोलोकीय नन्दादिके विषयमें ऐसा नहीं है॥१४॥

श्रीमद्भा. १/८/३१ में कुन्ती श्रीकृष्णसे कहती हैं—

गोप्याददे त्वयि कृतागसि दाम तावद्
या ते दशाश्रुकलिलाञ्जनसम्भ्रमाक्षम्।
वक्त्रं निनीय भयभावनया स्थितस्य
सा मां विमोहयति भीरपि यद्बिभेति॥१५॥

हे कृष्ण! जिस समय गोपी यशोदाने तुम्हें अपराधी समझकर रज्जुसे बाँधा था, उस समय तुम्हारे नेत्रोंसे बहते हुए अश्रुओं द्वारा तुम्हारा काजल धुल गया था। तुम अपने मुखको छिपाकर

भयभीत हो रहे थे। उस समय तुम्हारी जो दशा हुई थी, वह मुझे आज भी मोहित करती है कि भय जिनसे भयभीत होता है, अहो! उनकी यह दशा?॥१५॥

श्रीमद्भा. १०/४६/१८ में गोपियाँ उद्धवसे कहने लगीं—

अपि स्मरति नः कृष्णो मातरं सुहृदः सखीन्।
गोपान् व्रजञ्चात्मनाथं गावो वृन्दावनं गिरिम्॥१६॥

अहो! श्रीकृष्ण हमलोगोंको, अपनी माताको, सुहृद सखाओंको, अपने व्रजको, गैयाओंको, वृन्दावनको और गिरिराज-गोवर्धनको क्या कभी स्मरण करते हैं?॥१६॥

(श्रीमद्भा. १०/४६/२९)

तयोरित्थं भगवति कृष्णे नन्दयशोदयोः।
वीक्ष्यानुरागं परमं नन्दमाहोद्धवो मुदा॥१७॥

नन्दबाबा और माता यशोदाका भगवान् श्रीकृष्णके प्रति अत्यधिक गाढ़ अनुराग देखकर उद्धवने आनन्दसे भरकर कुछ प्रश्न पूछे॥१७॥

ऐश्वर्यगत मधुररसमें अचिन्त्यशक्तिका प्रकाश। श्रीमद्भा. १०/६९/२ में श्रीशुकदेव गोस्वामीने महाराज परीक्षित्को बतलाया कि—

चित्रं बतैतदेकेन वपुषा युगपत् पृथक्।
गृहेषु द्व्यष्टसाहस्रं स्त्रिय एक उदावहत्॥१८॥

श्रीनारदने मन-ही-मन विचार किया—बड़े आश्चर्यकी बात है कि एक ही स्वरूपसे श्रीकृष्णने एक ही समयमें सोलह हजार स्त्रियोंके साथ भिन्न-भिन्न स्थानोंपर विवाह किया। यह तो किसी भी प्रकारकी योगसिद्धिसे सम्भव नहीं है, केवल योगमायाके ईश्वर श्रीकृष्ण ही ऐसा कर सकते हैं॥१८॥

ऐश्वर्यसे माधुर्यकी उत्कर्षता अर्थात् श्रेष्ठता। श्रीमद्भा. १०/१६/३६ में नागपत्नियाँ श्रीकृष्णसे कहती हैं—

कस्यानुभावोऽस्य न देव विद्महे
तवांघ्रिरेणुस्पर्शाधिकारः ।
यद्वाञ्छया श्रीर्ललनाऽऽचरत्तपो
विहाय कामान् सुचिरं धृतव्रता॥१९॥

हे देव! इस कालियकी ऐसी कौन-सी सुकृति थी कि इसने आपके श्रीचरणकमलोंकी रेणुके स्पर्शका अधिकार प्राप्त किया? हमलोग उस सुकृतिके प्रभावको नहीं समझ सकतीं, क्योंकि आपकी इन्हीं श्रीचरणकमलोंकी रेणुकी प्राप्तिके लिए ललना श्रीलक्ष्मीने श्रीनारायणकी सेवाकी कामना छोड़कर बहुत दिनों तक कठोर व्रत धारणकर तपस्या की थी, परन्तु तब भी वे इस रजको प्राप्त नहीं कर पायीं थीं। हम ऐसा अनुमान करती हैं कि आपकी अहैतुकी कृपा ही इसका मूल कारण है॥१९॥

ऐश्वर्य भाव रहनेसे श्रीकृष्णकी सेवा प्राप्त नहीं होती। ऐश्वर्यमयी लक्ष्मीके भाग्यमें भी श्रीकृष्णसेवाकी प्राप्ति नहीं हुई। श्रीमद्भा. १०/४७/६०-६१ में श्रीउद्धवने कहा—

नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः
स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः।
रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीतकण्ठ-
लब्धाशिषां य उदगाद् ब्रजवल्लवीनाम्॥२०॥

व्रजसुन्दरी गोपियोंके भाग्यकी कितनी प्रशंसा करूँ, श्रीकृष्णने रासोत्सवके समय इन व्रजाङ्गनाओंके गलेमें हाथ डालकर इन्हें परमश्रेष्ठ फल प्रदान किया। इन्हें कृष्णका जैसा उत्तम रति-प्रसाद (प्रेमदान) मिला वैसा लक्ष्मीको तथा कमल-सी सुगन्धवाली देवाङ्गनाओंको ही नहीं मिला तो फिर दूसरी स्त्रियोंकी तो बात ही क्या करें?॥२०॥

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।

या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥२१॥

व्रजसुन्दरियोंकी सौभाग्यसीमा अपार है, उनके समान सौभाग्य किसीको भी प्राप्त नहीं हो सका। यदि मैं (उद्धव) इस वृन्दावनमें गुल्म, लता, औषधिमेंसे कोई भी एक जन्म प्राप्त करके इनके श्रीचरणकमलोंकी रेणुकी सेवा कर सकूँ तो यह मेरा सौभाग्य होगा, क्योंकि इन व्रजगोपियोंने दुस्त्यज्य स्वजन (पति-पुत्र-पिता आदि) और आर्यपथ (धर्म आदि मर्यादा) का परित्यागकर श्रुतियों द्वारा अन्वेषणीय कृष्णपदवीका भजन किया है अर्थात् श्रीकृष्णके परमप्रेमप्रदानकारी श्रीचरणकमलोंको प्राप्त किया है॥२१॥

(श्रीमद्भा. १०/४७/६३)

वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः।
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम्॥२२॥

श्रीनन्दरायके व्रजमें रहनेवाली उन गोपियोंकी चरणरेणुकी मैं निरन्तर वन्दना करता हूँ, जिनके श्रीमुखसे निकली हुई हरिकथा त्रिभुवनको पवित्र करती है॥२२॥

श्रीमद्भा. १०/४७/६६ में श्रीनन्दबाबा उद्धवसे कहते हैं—

मनसो वृत्तयो नः स्युः कृष्णपादाम्बुजाश्रयाः।
वाचोऽभिधायिनीर्नाम्नां कायस्तत्प्रह्वणादिषु॥२३॥

हमारी मनोवृत्तियाँ श्रीकृष्णके चरणकमलोंका आश्रय करें, वाणी उनके नामोंका ही कीर्त्तन करती रहे। शरीर उन श्रीकृष्णकी ही वन्दनादिमें नियुक्त हो॥२३॥

श्रीमद्भा. १०/४७/५८ में श्रीउद्धव कहते हैं—

एताः परं तनुभृतो भुवि गोपवध्वो
गोविन्द एव निखिलात्मनि रूढभावाः।

वाञ्छन्ति यद् भवभियो मुनयो वयञ्च
किं ब्रह्मजन्मभिरनन्तकथारसस्य ॥२४॥

इस जगत्में गोपवधुओंने जिस देहको धारण किया है, जब वही धन्य है, तब सिद्धगोपियोंके अप्राकृत देहकी महिमाकी तो बात ही क्या? साधनसिद्धोंके लिए भी व्रजमें गोपीदेह प्राप्त करना उनके साधनका सर्वश्रेष्ठ फल है। श्रीनन्दके व्रजमें वास करनेवाली ये व्रजमें गोपीदेहधारी गोपियाँ सर्वतोभावेन परम धन्य हैं। इनका अखिलात्मा श्रीगोविन्दमें ऐसा अधिरूढ़ भाव अर्थात् परमप्रेम विद्यमान है, जिसकी संसारसे भयभीत मुनिगण तथा हम दास्यादि रसोंके पार्षदगण भी सर्वदा वाञ्छा करते हैं; क्योंकि यह हमारे लिए भी अत्यन्त दुर्लभ है। जो भगवान् अनन्तकी कथाओंके रसमें मग्न रहता है, उनके लिए तो ब्रह्म-जन्म भी अकिञ्चित्कर (तुच्छ) है॥२४॥

श्रीमद्भा. १०/१४/३१ में ब्रह्मा स्तुति करते हुए कहते हैं कि—

अहोऽतिधन्या व्रजगोरमण्यः स्तन्यामृतं पीतमतीव ते मुदा।
यासां विभो वत्सतरात्मजात्मना यत्तृप्तयेऽद्यापि न चालमध्वराः॥२५॥

व्रजकी गोपियाँ और गायें भी धन्य हैं, क्योंकि श्रीकृष्णने आनन्दपूर्वक उनका स्तन पान किया है। और भी, बहुत यज्ञ आदि करके कर्मीलोगोंको अब तक जिनकी कृपा प्राप्त नहीं हुई, वही प्रभु व्रजगोपी तथा गायोंकी तृप्तिके लिए उनके पुत्र और बछड़े बनकर उनका स्तन पान कर रहे हैं॥२५॥

श्रीमद्भा. १०/४४/१४-१६ में मथुराकी स्त्रियाँ कह रहीं हैं—

गोप्यस्तपः किमचरन् यदमुष्य रूपं
लावण्यसारमसमोर्ध्वमनन्यसिद्धम् ।
दृग्भिः पिबन्त्यनुसवाभिनवं दुरापम्
एकान्तधाम यशसः श्रिय ऐश्वरस्य॥२६॥

अहो! गोपियोंने ऐसी कौन-सी तपस्या की थी, जो वे अपने नेत्रोंके द्वारा श्रीकृष्णकी अनन्यसिद्ध अर्थात् स्वभाव सिद्ध, असमोर्ध्व[१], लावण्य-सारमय रूपमाधुरीका पान किया करती थीं। श्रीकृष्णका यह रूपसौन्दर्यामृत दुष्प्राप्य है और क्षण-क्षणमें नवनवायमान रूपमें प्रकाशित होता है तथा यश, श्री एवं ऐश्वर्यका एकान्तधामस्वरूप अर्थात् आश्रय है॥२६॥

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः॥२७॥

व्रजगोपियाँ गो दोहन करते समय, मुसलसे धान आदि कूटते समय, दधि-मन्थन और घर लीपते समय, दोलन (बालकोंको झूला झुलाते समय), ओक्षण (उन्हें नहलाते-धुलाते समय), रोते हुए बालकोंको चुप कराने तथा गृह मार्जनादिके समय अनुरक्त चित्त होकर गद्गद कण्ठसे सर्वदा अपने चित्तरूपी सिंहासनपर श्रीकृष्णको बिठलाकर श्रीकृष्णविषयक गीत गाया करती थीं। उस समय उनके नेत्रोंसे अश्रुओंकी धारा प्रवाहित होती रहती थी॥२७॥

प्रातर्व्रजाद् व्रजत आविशतश्च सायं
गोभिः समं क्वणयतोऽस्य निशम्य वेणुम्।
निर्गम्य तूर्णमबलाः पथि भूरिपुण्याः
पश्यन्ति सस्मितमुखं सदयावलोकम्॥२८॥

प्रातःकाल जब श्रीकृष्ण व्रजसे गोचारणके लिए जाते और सन्ध्याकालमें घरपर लौटते, उस समय ग्वालबालोंकी मण्डलीमें वेणुवादन किया करते थे। उस वेणुनादको श्रवण करके अत्यधिक

---

[१] ऐसी रूपमाधुरी, जिससे अधिक की तो बात ही क्या, समानता भी किसीमें नहीं हो सकती।

पुण्यशाली अबला व्रजरमणियाँ घरसे शीघ्र ही बाहर आकर (मार्गपर) सदय अर्थात् कृपा दृष्टि तथा सुस्मित वदनवाले श्रीकृष्णका दर्शन किया करती थीं॥२८॥

श्रीमद्भा. १/११/३५-३६ में श्रीसूत गोस्वामी आश्चर्यान्वित होकर शौनकादि ऋषियोंसे कहते हैं—

स एष नरलोकेऽस्मिन्नवतीर्णः स्वमायया।
रेमे स्त्रीरत्नकूटस्थो भगवान् प्राकृतो यथा॥२९॥

भगवान् श्रीकृष्णने अपनी चित्-शक्तिके द्वारा नरलोकमें अवतीर्ण होकर (साधारण दृष्टिकोणमें) प्राकृत मनुष्य जैसी स्त्रीरत्न (उत्तम स्त्रियोंमें भी सर्वश्रेष्ठ) व्रजगोपियोंके साथ विहारादि किया था॥२९॥

उद्दामभावपिशुनामलवल्गुहास-
व्रीडावलोकनिहतो मदनोऽपि यासाम्।
सम्मुह्य चापमजहात् प्रमदोत्तमास्ता
यस्येन्द्रियं विमथितुं कुहकैर्न शेकुः॥३०॥

जिन परम सुन्दरियोंके उद्दाम-शोभा अर्थात् गम्भीर प्रेमसूचक मधुर आलाप, अमल-मधुर-हास और लज्जाभरी चितवनके द्वारा प्राकृत मदनने भी सम्मोहित होकर अपना धनुष त्याग दिया था, वे ही प्रमदोत्तमा स्त्रियाँ समञ्जसारतिसे[१] युक्त होकर काम-विलासोंसे श्रीकृष्णकी इन्द्रियोंका मथन अर्थात् उन्हें वशीभूत करनेमें समर्थ नहीं हुईं॥३०॥

---

[१] यद्यपि श्रीमद्भागवतमें यह श्लोक द्वारकाकी महिषियोंके लिए कहा गया है, तथापि श्रीलभक्तिविनोद ठाकुर किसी विशेष गूढ़ भावसे इस श्लोकको व्रजगोपियोंके लिए व्यवहार कर रहे हैं। 'कुहकै' शब्दका अर्थ है छलसे श्रीकृष्णको वशीभूत करनेकी चेष्टा। किन्तु श्रीकृष्ण तो केवल प्रेमसे ही वशीभूत होते हैं। छलपूर्वक वशीकरणको समञ्जसारति तथा प्रेमयुक्त वशीकरणको समर्थारति कहा गया है।

(श्रीमद्भा. १०/१९/१५-१६)

गाः सन्निवर्त्य सायाह्ने सहरामो जनार्दनः।
वेणुं विरणयन् गोष्ठमगाद् गोपैरभिष्टुतः॥३१क॥

गोपीनां परमानन्द आसीद् गोविन्ददर्शने।
क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाभवत्॥३१ख॥

सायंकाल गोचारणके उपरान्त श्रीकृष्ण जब बलरामके साथ वेणु बजाते-बजाते गोष्ठमें लौटते हैं, तब उनके सखा ग्वालबाल उनकी कीर्त्तिका गान करते हुए उनके पीछे-पीछे आते हैं। व्रजदेवियाँ श्रीगोविन्दका दर्शनकर परमानन्दमें निमग्न हो जाती हैं, क्योंकि श्रीकृष्णके विच्छेदमें उनका एक-एक क्षण सैंकड़ों युगोंके समान व्यतीत होता था॥३१॥

श्रीमद्भा. १०/२१/७ में एक गोपी अपनी अन्य सखियोंको कहती है—

अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः
सख्यः पशूननुविवेशयतोर्वयस्यैः।
वक्त्रं व्रजेशसुतयोरनुवेणुजुष्टं
यैर्वै निपीतमनुरक्तकटाक्षमोक्षम्॥३२॥

अरी सखियो! राम और कृष्ण जब गैयाओंके पीछे-पीछे सखाओंके साथ वनमें प्रवेश करते हैं, उस समय वेणु बजाते हुए अनुरक्त चित्तसे स्निग्ध कटाक्षपात करनेवाले श्रीकृष्णचन्द्रके मुखमण्डलका जिन्होंने दर्शन किया है, उनके ऐसे दर्शनकी अपेक्षा नेत्रधारण करनेवाले व्यक्तियोंको और अधिक कोई फल प्राप्त हो सकता है, मैं नहीं जानती अर्थात् उनका ही नेत्रोंको धारण करना सार्थक है॥३२॥

(श्रीमद्भा. १०/२१/९)

गोप्यः किमाचरदयं कुशलं स्म वेणु-
र्दामोदराधरसुधामपि गोपिकानाम्।

भुङ्क्ते स्वयं यदवशिष्टरसं ह्रदिन्यो
हृष्यत्त्वचोऽश्रु मुमुचुस्तरवो यथार्याः॥३३॥

अरी गोपियो! इस वेणुने कौन-सा पुण्याचरण किया है, जो हम गोपियोंके द्वारा प्राप्य श्रीकृष्णके अधर सुधारसका पान करता है और उस अधरसुधाके अवशिष्टको रसमय गान सहित (इसी वेणुकी इच्छानुसार इसका अपने रससे पोषण करनेवाली) ह्रदिनी अर्थात् रसस्वरूप नदी प्राप्त करती है। (इस वेणुको अधरामृतका पान करते हुए तथा अवशिष्टको रसगान सहित नदियोंको प्रदान करते हुए देखकर) वृक्ष परमान्दित होकर अश्रु प्रवाहित करते है।

अपने वंशमें वैष्णव सन्तानको देखकर आर्य पुरुष (कुलवृद्ध) जैसे आनन्दाश्रु प्रवाहित करते हैं, वैसे ही वृक्ष भी (हमारे वंशमें एक ऐसा वंशधर उत्पन्न हुआ है, इसके साथ ऐसा) सम्बन्ध जोड़कर मधुधारा क्षरणके बहाने मानो नेत्रोंसे आनन्दाश्रु प्रवाहित कर रहे हैं॥३३॥

(श्रीमद्भा. १०/२१/१२)

कृष्णं निरीक्ष्य वनितोत्सवरूपशीलं
श्रुत्वा च तत्क्वणितवेणुविविक्तगीतम्।
देव्यो विमानगतयः स्मरनुन्नसारा
भ्रश्यत्प्रसूनकबरा मुमुहुर्विनीव्यः॥३४॥

देखो! युवतियोंके उत्सवस्वरूप अर्थात् युवतियोंको मोहित करनेवाले रूप और स्वभावसे सम्पन्न श्रीकृष्णके दर्शन करके तथा बाँसुरीपर उनका गाया हुआ मधुर संगीत सुनकर विमानचारिणी देवियाँ कामवेगके प्रभावसे कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यको भूलकर धैर्यहीन हो रही है। उनकी वेणी (चोटी) में गुँथे हुए फूल पृथ्वीपर गिरने लगे है तथा कमरसे वस्त्र स्खलित हो रहे हैं—ऐसी अवस्थामें वे मूर्च्छित होकर गिर रही हैं॥३४॥

(श्रीमद्भा. १०/२१/१५)

नद्यस्तदा तदुपधार्य मुकुन्दगीत–
मावर्तलक्षितमनोभवभग्नवेगाः ।
आलिङ्गनस्थगितमूर्मिभुजैर्मुरारे–
र्गृह्णन्ति पादयुगलं कमलोपहाराः ॥३५॥

नदियाँ श्रीकृष्णगीत (वेणुवादन) श्रवण करके तथा श्रीकृष्णको अपने तटपर भ्रमण करते हुए देखकर कामवेगसे जर्जरित होकर भग्नवेग हो रही हैं अर्थात् उनमें भँवर पड़ रहे हैं तथा श्रीकृष्णकी भुजाओं द्वारा आलिङ्गित होकर उनका प्रवाह ही रुक गया है। वे नदियाँ श्रीकृष्णके चरणयुगलोंमें कमल पुष्पोंको उपहारस्वरूप भेटकर उन श्रीचरणोंको धारण कर रही है॥३५॥

(श्रीमद्भा. १०/२१/१८–१९)

हन्तायमद्रिरबला हरिदासवर्यो यद्‌रामकृष्णचरणस्पर्शप्रमोदः।
मानं तनोति सहगोगणयोस्तयोर्यत् पानीयसूयवसकन्दरकन्दमूलैः॥३६॥

हे अबलाओ! हे सखियो! आश्चर्य तो देखो। यह हरिदासवर्य अर्थात् हरिके दासोंमें सर्वश्रेष्ठ गिरि–गोवर्धन राम–कृष्णके चरणस्पर्शके द्वारा आनन्दमें मत्त होकर गोगण अर्थात् श्रीकृष्ण–बलराम आदि गोपों तथा गैयाओंको जल, फल, कन्द मूल और घास आदि दान करके पूजा कर रहे हैं॥३६॥

गा गोपकैरनुवनं नयतोरुदार वेणुस्वनैः कलपदैस्तनुभृत्सु सख्यः।
अस्पन्दनं गतिमतां पुलकस्तरूणां निर्योगपाशकृतलक्षणयोर्विचित्रम्॥३७॥

हे गोपियो! और एक विचित्र दृश्य देखो! निर्योग (दुहते समय गायके पैर बाँन्धनेकी रस्सी) और पाश (भागनेवाली गायोंको पकड़नेकी रस्सी) वहन करते हुए गोपका स्वरूप धारणकर गायों तथा गोपोंके साथ बलदेवका अनुगमन करते–करते श्रीकृष्ण वेणुगानके द्वारा देहधारियोंके परमानन्दका विस्तार कर रहे हैं।

उनकी वंशीध्वनिके श्रवणसे चलनेवालोंमें स्पन्दनहीनता (स्थावरधर्म) तथा वृक्ष आदि स्थावरोंमें पुलक (जङ्गमधर्म) उपस्थित हो रहा है॥३७॥

विप्रलम्भ (विरह) में प्रीतिका आधिक्य। श्रीमद्भा. १०/३९/१९ में गोपियाँ कहती हैं—

अहो विधातस्तव न क्वचिद् दया
संयोज्य मैत्र्या प्रणयेन देहिनः।
तांश्चाकृतार्थान् वियुनङ्क्ष्यपार्थकं
विक्रीड़ितं तेऽर्भकचेष्टितं यथा॥३८॥

हे विधाता! तुममें तनिक भी दया नहीं है। जगत्‌में देहधारियोंका तुम स्नेह तथा मैत्रीके द्वारा पहले तो संयोग कराते हो। और फिर, अकृतार्थ अवस्थामें ही अर्थात् उनकी अभिलाषाएँ पूर्ण हो, इससे पहले ही तुम उनका परस्पर विच्छेद भी करा देते हो। अतएव तुम्हारी यह चेष्टा बालकोंकी चेष्टाके समान व्यर्थ अर्थात् निरर्थक है॥३८॥

(श्रीमद्भा. १०/३९/२९)

यस्यानुरागललितस्मितवल्गुमन्त्र–
लीलावलोकपरिरम्भणरासगोष्ठ्याम् ।
नीताः स्म नः क्षणमिव क्षणदा विना तं
गोप्यः कथं न्वतितरेम तमो दुरन्तम्॥३९॥

जिनके रासलीलामें अनुराग, ललित हास्य, मन्त्रणा अर्थात् रहस्यपूर्ण सङ्केत वार्त्ता द्वारा दिया गया परामर्श, तिरछी चितवन तथा आलिङ्गनके द्वारा आनन्दित होकर हमने पूरी रात एक क्षणके समान ही व्यतीत कर दी थी, अब उनके वियोगमें इन अपार कष्टकर विरहदुःखरूपी घोरअन्धकारमय आनेवाली रात्रियोंको किस प्रकार बितायेंगी॥३९॥

(श्रीमद्भा. १०/३९/३७)

ता निराशा निववृतुर्गोविन्दविनिवर्तने।
विशोका अहनी निन्युर्गायन्त्यः प्रियचेष्टितम्॥४०॥

श्रीकृष्णके मथुरा चले जानेपर गोपियाँ निराश हो गयीं तथा (जहाँसे श्रीकृष्ण रथपर सवार होकर मथुरा गये थे) उस स्थानसे लौट आयीं और शोकरहित होकर अर्थात् दिन-रात अपने प्रियतम श्रीश्यामसुन्दरकी लीलाओंका गान करती रहती तथा इस प्रकार अपने शोक-सन्तापको हल्का करते हुए समय व्यतीत करने लगीं॥४०॥

श्रीमद्भा. १०/४७/२१ में श्रीराधा भ्रमरसे कहने लगीं—

अपि बत मधुपुर्यामार्यपुत्रोऽधुनाऽऽस्ते
स्मरति स पितृगेहान् सौम्य बन्धूंश्च गोपान्।
क्वचिदपि स कथां नः किङ्करीणां गृणीते
भुजमगुरुसुगन्धं मूर्द्ध्ण्यधास्यत् कदा नु॥४१॥

हाय! क्या हमारे आर्य-पुत्र अभी मधुपुरीमें हैं? क्या वे अपने पितृ-गृह (नन्दालय) और गोपसखाओंका स्मरण करते हैं? हे सौम्य उद्धव[१]! हमलोग उनकी किङ्करियाँ हैं; क्या वे कभी हम लोगोंके विषयमें भी कुछ कहते हैं? क्या वे कभी आकर हमारे मस्तकपर अपने अगरु जैसे सुगन्धित हस्तकमलोंको अर्पित करेंगे?॥४१॥

श्रीकृष्णने विरहसे सन्तप्त प्यारी गोपियोंको जो पत्र लिखा उसका श्रीमद्भा. १०/४७/३४-३५ में इस प्रकार वर्णन है—

यत्त्वहं भवतीनां वै दूरे वर्ते प्रियो दृशाम्।
मनसः सन्निकर्षार्थं मदनुध्यानकाम्यया॥४२क॥

---

[१] महाभाववती श्रीवृषभानुनान्दिनी उद्धवको ही मधुकरके रूपमें कल्पना करके यह सब कह रही है। (श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर श्रीमद्भा. १०/४७/११ की टीकामें)

यथा दूरचरे प्रेष्ठे मन आविश्य वर्तते।
स्त्रीणां च न तथा चेतः सन्निकृष्टेऽक्षिगोचरे॥४२ख॥

हे प्रियदर्शी गापियो! मैं जो तुमसे दूर हूँ, वह केवल तुम्हारे मनमें रहकर अपने ध्यान-वृद्धिकी कामनासे ही हूँ। क्योंकि किसी स्त्रीके प्रियके परदेश जानेपर उसका मन अपने प्रियतममें जिस प्रकार आविष्ट होता है, वैसा नेत्रोंके समक्ष रहनेपर नहीं होता॥४२॥

व्रजमें नित्यसिद्धोंके भाव अलग प्रकारके हैं और साधनसिद्धोंके भाव कुछ अलग प्रकारके हैं। उनमेंसे साधनसिद्धोंके भावका वर्णन करते हुए श्रीमद्भा. १०/४७/३७ में श्रीकृष्ण कहते हैं—

या मया क्रीडता रात्र्यां वनेऽस्मिन् व्रज आस्थिताः।
अलब्धरासाः कल्याण्यो माऽऽपुर्मद्वीर्यचिन्तया॥४३॥

रासरजनी अर्थात् शारदीय रात्रिमें मैंने व्रजभूमिमें स्थित इस वनमें रासलीला की थी। जो समस्त सौभाग्यवती गोपियाँ मेरे उस रासमें नहीं आ सकीं, उन्होंने (साधनसिद्धा गोपियोंने) मेरे चिन्तनके द्वारा मुझे प्राप्त किया था॥४३॥

विरहमें श्रीकृष्णकी प्राप्तिकी आशा बलवती होती है। श्रीमद्भा. १०/४७/४७ में गोपियाँ कहती हैं—

परं सौख्यं हि नैराश्यं स्वैरिण्यप्याह पिङ्गला।
तज्जानतीनां नः कृष्णे तथाप्याशा दुरत्यया॥४४॥

स्वेच्छाचारिणी पिङ्गलाने कहा है कि नैराश्य (दूसरोंसे आशा न रखना) ही परम सुख है—यह हम भी जानती हैं, परन्तु कृष्णकी प्राप्तिकी आशाको त्यागना बहुत ही कठिन है॥४४॥

गोपियोंमें परकीयाभाव नित्य विराजमान है। परकीयाभावमें रसकी अत्यन्त पुष्टि होती है। इसलिए योगमायाने गोलोक तथा व्रज दोनों स्थलोंपर इस भावकी व्यवस्था की है। व्रजमें इस भावको देखकर उद्धव श्रीमद्भा. १०/४७/५९ में आश्चर्यचकित होकर कहने लगे—

क्वेमाः स्त्रियो वनचरीर्व्यभिचारदुष्टाः
कृष्णे क्व चैष परमात्मनि रूढभावः।
नन्वीश्वरोऽनुभजतोऽविदुषोऽपि साक्षा–
च्छ्रेयस्तनोत्यगदराज इवोपयुक्तः ॥४५ ॥

अहो! इन वनचरी व्रजरमणियोंने श्रीकृष्णमें उपपतिका भाव रखकर प्रेमरसको वर्द्धित किया है। स्मार्तोंके मूढ़ वितर्ककी इन्होंने किञ्चित् भी आशङ्का नहीं की। अहो! इस परकीयाभावसे परमात्मा श्रीकृष्णके प्रति इनका कैसा रूढ़ भाव (भक्तिका भी परम महाविलास महाभाव) है। देखो! सर्वज्ञ परमेश्वर अपने अनुभजनकारियों (निरन्तर भजनशील व्यक्तियों) के लिए श्रेयका उसी प्रकार विस्तार करते है, जैसे सर्वोत्तम औषधिका व्यवहार होनेपर वह अवश्य ही उपकार करती है। जैसे प्रत्येक द्रव्यमें अपनी स्वाभाविक शक्ति होती है, उसी प्रकार प्रेमकी अलौकिक शक्ति स्वयं ही कार्य करती है॥४५॥

व्रजगोपियोंमेंसे किसीका भी स्वकीयभाव नहीं है। यद्यपि गोकुल–कन्याओंमें पतिभाव–निष्ठा होनेके कारण उनका तात्कालिक स्वकीयत्व दिखायी देता था, परन्तु वे स्वरूपतः परकीया हैं। जैसे श्रीमद्भा. १०/२२/४ में शुकदेव गोस्वामी कहते हैं—

कात्यायनि महामाये महायोगिन्यधीश्वरि।
नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुरु ते नमः।
इति मन्त्रं जपन्त्यस्ताः पूजां चक्रुः कुमारिकाः ॥४६ ॥

(गोपियाँ कात्यायनी महामायाको सम्बोधित करती हुई प्रार्थना करती हैं कि—) “हे महामाये! हे कात्यायनि! हे अधीश्वरि! हे महायोगिनि! आप नन्दनन्दनको हमारे पतिके रूपमें प्राप्त[१] करा

[१] यद्यपि सुना जाता है कि गोपियाँ कभी–कभी अपने मुखसे श्रीकृष्णको पतिके रूपमें प्राप्त करनेकी इच्छा करती हैं, तथापि वह केवल कहनेके लिए कहती हैं, वास्तवमें नहीं अर्थात् “पतिके रूपमें प्राप्त करा दीजिये” का अर्थ केवलमात्र यही है कि जिस किसी भी प्रकारसे शीघ्र ही उनका सङ्ग प्रदान करा दीजिये।

दीजिये।" इसी मन्त्रका जप करके कुमारियोंने कात्यायनीकी पूजा की थीं॥४६॥

श्रीमद्भा. १०/२२/२५-२६ में श्रीकृष्णने कहा—

सङ्कल्पो विदितः साध्व्यो भवतीनां मदर्चनम्।
मयानुमोदितः सोऽसौ सत्यो भवितुमर्हति॥४७॥

हे साध्वीगण! तुम्हारा सङ्कल्प मैंने जान लिया है। तुम मेरा अर्चन करना चाहती हो अर्थात् मुझे प्रसन्न करना चाहती हो। मेरा अनुमोदन है अर्थात् मैं भी समर्थन करता हूँ कि तुम्हारा यह सङ्कल्प पूर्ण हो॥४७॥

न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते।
भर्जिता क्वथिता धानाः प्रायो बीजाय नेशते॥४८॥

मुझमें आविष्टचित्त व्यक्तिके हृदयमें कामनाओंका आविर्भाव किसी प्रकारकी भोग-वासनाको पूर्ण करनेकी भावनासे उसी प्रकार उत्पन्न नहीं हो सकता, जिस प्रकार भुने हुए और सिद्ध (एकबार उबाले हुए) धान आदिसे कभी अङ्कुर नहीं निकलते अर्थात् मेरे भक्तके हृदयमें जो भी कामनाएँ उत्पन्न होती हैं, वे केवल मेरी सेवा, मेरी प्रसन्नताके लिए ही होती हैं॥४८॥

परकीया-रागानुगा-साधनसिद्ध भक्तोंका उदाहरण देते हुए श्रीशुकदेव गोस्वामी श्रीमद्भा. १०/२३/३५ में कहते हैं—

तत्रैका विधृता भर्त्रा भगवन्तं यथाश्रुतम्।
हृदोपगुह्य विजहौ देहं कर्मानुबन्धनम्॥४९॥

किसी-किसी रमणीने पतिके द्वारा अवरुद्ध किये जानेपर हृदयमें श्रीकृष्णका आलिङ्गनकर कर्मानुबन्धन अर्थात् कर्म बन्धनस्वरूप देहका परित्याग कर दिया॥४९॥

व्रजगोपियोंकी निष्ठा। परकीया व्रजरमणियोंकी रति समर्था है। द्वारकाकी स्वकीया रमणियोंकी रति समञ्जसा है। निम्नलिखित श्रीमद्भा.

१०/२३/४३-४४ में परकीया व्रजरमणियोंकी समर्था रतिका वर्णन करते हुए याज्ञिक ब्राह्मण कहते हैं—

नासां द्विजातिसंस्कारो न निवासो गुरावपि।
न तपो नात्ममीमांसा न शौचं न क्रियाः शुभाः ॥५०॥

तथापि ह्युत्तमःश्लोके कृष्णे योगेश्वरेश्वरे।
भक्तिर्दृढा न चास्माकं संस्कारादिमतामपि ॥५१॥

इनका किसी भी प्रकारका स्वधर्मगत संस्कार, गुरुकुल वास, तपस्या, आत्म मीमांसा, शौचकर्म तथा शुभ कर्म नहीं था। फिर भी योगेश्वरोंके ईश्वर उत्तमश्लोक श्रीकृष्णमें इनकी जो दृढ़ भक्ति है, वह संस्कारयुक्त हमारे जैसे व्यक्तियोंके भाग्यमें कभी उदित नहीं हो पायी॥५०-५१॥

कुब्जाकी रति साधारणी है। श्रीमद्भा. १०/४२/९-१० में श्रीशुकदेव परीक्षित्से कहते हैं—

ततो रूपगुणौदार्यसम्पन्ना प्राह केशवम्।
उत्तरीयान्तमाकृष्य स्मयन्ती जातहृच्छया॥५२क॥

एहि वीर गृहं यामो न त्वां त्यक्तुमिहोत्सहे।
त्वयोन्मथितचित्तायाः प्रसीद पुरुषर्षभ॥५२ख॥

रूप, गुण तथा औदार्यसम्पन्न (होनेके बाद) कुब्जा श्रीकृष्णके उत्तरीय वस्त्रके अन्तिम छोर (किनारे) को खींचकर कामवेगसे युक्त होकर कहने लगीं—अरे वीर! आओ घरके भीतर चलें, मैं आपको छोड़ नहीं पा रही। आपने मेरे चित्तको उन्मथित (क्षुब्ध) कर दिया है। हे पुरुष श्रेष्ठ! आप मेरे प्रति प्रसन्न हों॥५२॥

श्रीमद्भा. १०/४८/२६ में अक्रूर श्रीकृष्णसे कहते हैं—

कः पण्डितस्त्वदपरं शरणं समीया
द्भक्तप्रियादृतगिरः सुहृदः कृतज्ञात्।
सर्वान् ददाति सुहृदो भजतोऽभिकामा-
नात्मानमप्युपचयापचयौ न यस्य॥५३॥

जिनकी न क्षति है, न लाभ है अर्थात् जिनकी वृद्धि और ह्रास नहीं है, ऐसे श्रीकृष्ण भक्तप्रिय, सत्यव्रतधारी, सुहृद तथा कृतज्ञ हैं। वे भजनकारी सुहृद वर्गको आत्मा पर्यन्त समस्त काम्य वस्तुएँ दे देते हैं। हाय! ऐसे श्रीकृष्णको छोड़कर कौन-सा बुद्धिमान अन्य किसीकी शरणमें जायेगा॥५३॥

श्रीमद्भा. ४/१२/६ में कुबेर ध्रुवसे कहते हैं—

भजस्व भजनीयाङ्घ्रिमभवाय भवच्छिदम्।
युक्तं विरहितं शक्त्या गुणमय्यात्ममायया॥५४॥

श्रीभगवान् कभी त्रिगुणमयी मायाशक्तिसे युक्त होकर उसके ईश्वरके रूपमें अधिष्ठित रहते हैं तथा कभी आत्ममायासे युक्त होकर व्रजलीला आदि करते हैं। परमानन्दकी प्राप्तिके लिए उन भवच्छेदी (भवसागरसे उद्धार करनेवाले), भजनीय श्रीचरण-कमलवाले श्रीकृष्णका भजन करो॥५४॥

श्रीमद्भा. २/७/४२ में ब्रह्मा नारदसे कहते हैं—

येषां स एष भगवान् दययेदनन्तः
सर्वात्मनाऽऽश्रितपदो यदि निर्व्यलीकम्।
ते दुस्तरामतितरन्ति च देवमायां
नैषां ममाहमिति धीः श्वशृगालभक्ष्ये॥५५॥

जो निष्कपट रूपसे अनन्त भगवान्को सर्वस्व मानकर उनके श्रीचरणकमलोंका आश्रय ले लेते हैं, भगवान् उनके प्रति दया करते हैं। ऐसे व्यक्ति ही दुस्तर देवमायाको पार कर सकते हैं। किन्तु जो लोग कुत्तों तथा सियारोंके द्वारा भक्ष्य इस शरीरमें 'मैं' और 'मेरा' भाव रखते हैं, उनके प्रति भगवान् कभी भी दया नहीं करते॥५५॥

(श्रीमद्भा. १/७/४६)

ते वै विदन्त्यतितरन्ति च देवमायां
स्त्रीशूद्रहूणशबरा अपि पापजीवाः।

यद्यद्भुतक्रम–परायण–शीलशिक्षा–
स्तिर्यग्जना अपि किमु श्रुतधारणा ये॥५६॥

इति श्रीमद्भागवतार्कमरीचिमालायां सम्बन्धज्ञानप्रकरणे भगवद्रसतत्त्वनिरूपणं नाम षष्ठः किरणः॥

जो अद्भुत प्रभावशाली भगवान् श्रीकृष्णके निष्कपट भक्तोंके (आनुगत्यको स्वीकार करके उनके द्वारा पालन किये जा रहे भक्ति धर्मके) नियमोंकी शिक्षा प्राप्त करता है—वह स्त्री, शूद्र, हूण, शबर अथवा अन्यान्य पापी जीव तथा तिर्यक् योनि प्राप्त करनेवाला होनेपर भी कृष्णतत्त्वको समझ जाता है तथा दुरन्त देवमायासे उद्धार प्राप्त करता है। अतः श्रौत–पुरुषके[१] विषयमें तो फिर सन्देह ही क्या?॥५६॥

षष्ठ किरणकी 'मरीचिप्रभा' नामक गौड़ीय व्याख्याका भावानुवाद समाप्त॥

[१] श्रीगुरुदेवके मुखसे भगवान्के नाम और रूप आदिका श्रवण करके शीघ्र ही जो अपने हृदयमें धारण करते हैं।

सप्तम किरण

जीवतत्त्व

गौडराष्ट्रसचीवत्वं हित्वा गौरपदाश्रयात्।
सनातनं नुमस्तं यो जीवतत्त्वमशिक्षयत्॥
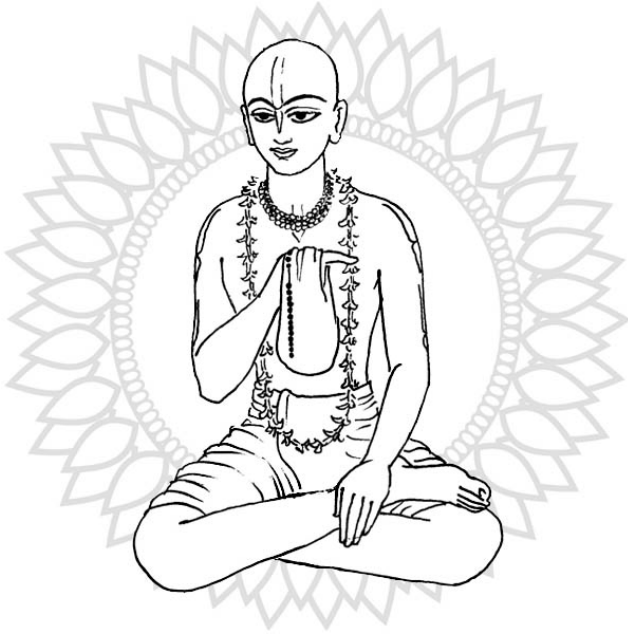
मैं उन श्रीसनातन गोस्वामीके चरणकमलोंमें सादर नमस्कार करता हूँ, जिन्होंने गौड़देश (बङ्गाल) के राजाके प्रधान मन्त्रीका पद त्याग करके श्रीगौराङ्ग महाप्रभुके श्रीचरणकमलोंका आश्रय ग्रहणकर (अपने ऐसे आचरण द्वारा) जीवतत्त्वकी शिक्षा प्रदान की।

श्रीकृष्णचैतन्यचन्द्राय नमः

श्रीमद्भा. ११/२/३७ में योगीश्वर कविने राजा निमिसे कहा—

भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यादीशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः।
तन्मायायातो बुध आभजेत्तं भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा॥१॥

परमेश्वरसे विमुख होनेके कारण जीवकी स्मृति (अपने स्वरूपके विषयमें) विपर्यय ग्रस्त होती है। उनसे विमुख होनेके कारण माया–गुण–रूप द्वितीय (अन्यान्य) विषयमें अभिनिवेश हो जाता है और इस कारणसे देहात्माभिमानजनित भय होता है। जीव कृष्णकी मायामें बद्ध है, अतएव गुरुचरणाश्रयके द्वारा पण्डितजन अनन्य भक्तिके साथ श्रीकृष्णका भजन करनेसे मायासे पार हो सकते हैं॥१॥

श्रीमद्भा. ११/११/४ में भगवान् श्रीकृष्णने उद्धवसे कहा—

एकस्यैव ममांशस्य जीवस्यैव महामते।
बन्धोऽस्याविद्ययानादिर्विद्यया च तथेतरः॥२॥

हे महामति! जीव मेरा ही अंश है। वह अनादि अविद्या द्वारा बद्ध और अनादि विद्या द्वारा मुक्त होता है। यहाँपर 'अंश' शब्दका तात्पर्य जानना आवश्यक है। ईश्वर अविभाज्य (अखण्ड) चिद्वस्तु है। अतएव काष्ठ तथा पाषाणकी भाँति उन्हें खण्ड–खण्ड करके छोटे अंशोंमें विभाजित नहीं किया जा सकता है। यदि ऐसा ही होता तो मूल वस्तु ही छोटी हो जाती। अतएव जिस प्रकार एक दीपकसे बहुत–से दीपक प्रज्वलित होते हैं, उस प्रकार भगवान्के अंशको कथञ्चित् रूपमें स्वीकार किया जा सकता है। जड़ीय दृष्टान्त अपने आपमें पूर्ण नहीं होते। चिन्तामणि जिस प्रकार स्वर्णको प्रसव करती हुई भी स्वयं अविकृत रहती है (उसी प्रकार भगवान्से भी अनन्त कोटि अंश प्रकाशित होनेपर भी भगवान् अपने आपमें अखण्ड, अविकृत, पूर्ण ही रहते हैं)।

परन्तु यह दृष्टान्त भी आंशिकमात्र ही स्वीकृत किया जायेगा। ईश्वरके अंश दो प्रकारके होते हैं। पहले प्रकारके अंशका नाम स्वांश और दूसरे प्रकारके अंशका नाम विभिन्नांश है। **स्वांश** के सम्बन्धमें वक्तव्य यह है कि जैसे महादीपसे अन्य महादीप उत्पन्न होकर पूर्व महादीपके समान ही शक्तिसम्पन्न होते हैं और पूर्व महादीप भी पूर्ण रूपसे यथावत् ही विद्यमान रहता है। उसी प्रकार भगवान्से ही पुरुषावतार और लीलावताररूपी स्वांश प्रकाशित होते है, तथापि मूल भगवान् भी यथावत् रहते हैं, तथा स्वांश भी उन्हींके समान ही शक्तिशाली होते हैं। **विभिन्नांश** के सम्बन्धमें वक्तव्य यह है कि चिन्तामणिसे जो क्षुद्र मणि तथा स्वर्ण उत्पन्न होता है, उसे चिन्तामणिकी मूल महाशक्ति प्राप्त नहीं होती, बल्कि उसमें चिन्तामणिके धर्म आंशिक रूपमें प्रकाशित होते हैं। ठीक वैसे ही अर्थात् क्षुद्र मणि और स्वर्णकी भाँति ब्रह्मादि समस्त जीव चिन्तामणिस्वरूप भगवान्से उत्पन्न होते हैं, परन्तु भगवान्के अनुगत न होनेपर वे विकृत हो जाते हैं अथवा मायाबद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार वे अपने द्वारा किये गये कर्मोंके भागीदार अर्थात् अपने कर्मोंके अनुसार फल भोगते हैं तथा अस्वतन्त्रता अर्थात् कर्मोंके फलोंको भोगनेसे बचनेमें अस्वतन्त्र रहते हैं।

किसी–किसी विभिन्नांशमें अधिक गुण तथा शक्ति होती है और किसी–किसीमें बहुत कम। विभिन्नांश अति अल्प शक्तिके कारण कभी भी चिन्तामणिके वास्तविक धर्मको प्राप्त नहीं कर सकता। जीव ईश्वरका विभिन्नांश है॥२॥

श्रीमद्भा. ११/१६/११ में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

गुणिनामप्यहं सूत्रं महताञ्च महानहम्।
सूक्ष्माणामप्यहं जीवो दुर्जयानामहं मनः॥३॥

गुणियोंमें मैं सूत्ररूपी प्रधान (उपादान कारण) हूँ, बृहत् वस्तुओंमें मैं महत्तत्त्व हूँ, सूक्ष्म वस्तुओंमें मैं जीव हूँ, दुर्जयों

(कठिनाईसे वशमें होनेवालों) में मैं मन हूँ। (इस श्लोकके माध्यमसे) यह स्पष्ट हो गया कि जीव सूक्ष्म चित्कण हैं॥३॥

श्रीमद्भा. १/३/३२ में भगवान् और भगवान्के स्वांश अवतारोंका वर्णन करके श्रीसूत महाभाग शौनकादि ऋषियोंसे कहते हैं—

अतः परं यदव्यक्तमव्यूढगुणबृंहितम्।
अदृष्टाश्रुतवस्तुत्वात् स जीवो यत्पुनर्भवः॥४॥

अवतार-तत्त्वके अतिरिक्त एक और तत्त्व है, जिसका नाम है जीव। यह अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण जड़जगत्में अव्यक्त (अस्पष्ट) है, यह जड़ेन्द्रियसे अतीत होनेके कारण अदृष्ट (दिखायी नहीं देनेवाला) तथा अश्रुत (सुनायी नहीं देनेवाला) है। इस कारणसे अव्यूढ-गुण-बृंहित अर्थात् हस्त-पदादि स्थूल आकारसे रहित जीवका ही पुनः-पुनः देहान्तर होता है, स्थूल शरीरका नहीं। वह चित्कण होनेके कारण अप्रशस्त अर्थात् दुर्बल है। भगवान्के अनुगत चित्-शक्ति द्वारा ही वह जीव किञ्चित् उपलब्धिका विषय होता है तथा पुष्ट अर्थात् बलवान बनता है॥४॥

श्रीमद्भा. ११/३/३८ में पिप्पलायन ऋषि राजा निमिसे कहते हैं—

नात्मा जजान न मरिष्यति नैधतेऽसौ
न क्षीयते सवनविद् व्यभिचारिणां हि।
सर्वत्र शश्वदनपाय्युपलब्धिमात्रं
प्राणो यथेन्द्रियबलेन विकल्पितं सत्॥५॥

आत्मा दो प्रकारकी होती हैं—परमात्मा तथा जीवात्मा। दोनों आत्माओंके एक ही लक्षण होते हैं। भेद यह है कि परमात्मा विभु होनेके कारण सर्व सक्षम (बलशाली) है, जब कि जीवात्मा अणु होनेके कारण अक्षम (दुर्बल) है, इसलिए वह शक्त्यन्तर अर्थात् माया अथवा चित्-शक्ति द्वारा परिचालित होने योग्य है। आत्माका साधारण लक्षण यह है कि उसका न जन्म है और न मरण। न कभी क्षय होता है और न कभी वृद्धि। आत्मा

आगमापायी व्यभिचारी वस्तुके सम्बन्धमें सवनज्ञ अर्थात् प्रकट और अप्रकट होनेवाली क्षणभङ्गुर अनित्य वस्तुओंका द्रष्टा है। इन्द्रिय द्वारा परिचालित होकर भी जिस प्रकार प्राण पृथक् रहते हैं, उसी प्रकार आत्मा सत्, ज्ञानमात्र तथा अविनाशी होनेके कारण जन्म-मरण इत्यादिके वशीभूत शरीरसे सर्वत्र सर्वदा पृथक् रहता है। तात्पर्य यह है कि आत्मा अज अर्थात् अजन्मा, अमर, वृद्धि-क्षयशून्य, कालज्ञ (परिवर्तनशील शरीरके बाल्य-यौवन आदि अवस्थाओंका द्रष्टा), जिस किसी भी शरीरमें रहनेपर सर्वत्र व्याप्त होनेवाला तथा ज्ञानस्वरूप है॥५॥

श्रीमद्भा. ७/७/१९-२१ में श्रीप्रह्लाद अपने सहपाठियोंसे कहते हैं—

आत्मा नित्योऽव्ययः शुद्ध एकः क्षेत्रज्ञ आश्रयः।
अविक्रियः स्वदृग् हेतुर्व्यापकोऽसङ्ग्यनावृतः॥६॥

आत्मा नित्य (अविनाशी), अव्यय (जिसका क्षय नहीं होता), शुद्ध (राग अर्थात् ईर्ष्या, द्वेष आदिसे रहित), एक (देह-इन्द्रिय आदिके संयोगसे रहित), क्षेत्रज्ञ (ज्ञाता), आश्रय, अविक्रिय (क्रिया शून्य), स्वदृक् (आत्मदर्शी), हेतु (देह उत्पत्ति, शरीर और मनकी सभी क्रियाओंका कारण), व्यापक, असङ्गी (सङ्गरहित) तथा अनावृत (पूर्ण) है॥६॥

एतैर्द्वादशभिर्विद्वानात्मनो लक्षणैः परैः।
अहं ममेत्यसद्भावं देहादौ मोहजं त्यजेत्॥७॥

पण्डित अर्थात् विद्वान व्यक्तियोंको उपर्युक्त द्वादश लक्षणोंके द्वारा (देह आदिसे पृथक्) आत्माको लक्ष्य करके इस जड़देहादिमें 'अहं-मम' रूप मोहसे उत्पन्न असत् भावोंका परित्याग कर देना चाहिये॥७॥

स्वर्णं यथा ग्रावसु हेमकारः
क्षेत्रेषु योगैस्तदभिज्ञ आप्नुयात्।

क्षेत्रेषु देहेषु तथाऽऽत्मयोगै-
रध्यात्मविद् ब्रह्मगतिं लभेत॥८॥

स्वर्णकार जिस प्रकार पाषाणमें निहित अर्थात् स्वर्णकी खानोंमें पत्थरमें मिले हुए स्वर्ण कणोंको द्रव्य तथा क्रियायोगके द्वारा प्राप्त कर लेते हैं, उसी प्रकार आत्मतत्त्वविद व्यक्ति आत्म-प्राप्तिके योग द्वारा देहमें निहित (अवस्थित) चित्-कणरूपी आत्माका अनुसन्धान करते हैं और उसे प्राप्तकर परमात्मगतिको प्राप्त कर लेते हैं॥८॥

(श्रीमद्भा. ७/७/२३)

देहस्तु सर्वसङ्घातो जगत् तस्थूरिति द्विधा।
अत्रैव मृग्यः पुरुषो नेति नेतीत्यतत् त्यजन्॥९॥

जङ्गम (मनुष्य आदि) तथा स्थावर (वृक्ष आदि) रूप दो प्रकारकी सर्वसंघात सर्वमिलित (प्रकृति और विकृतिके मिलनसे उत्पन्न) देहके कौन-से अंशमें आत्मा है और कौन-से अंशमें आत्मा नहीं है, पण्डितोंको इसकी विवेचनाकर असत् (अनात्म जड़वस्तु) का परित्याग करके 'आत्मपुरुष' का अन्वेषण करना चाहिये॥९॥

(श्रीमद्भा. ७/७/२५)

बुद्धेर्जागरणं स्वप्नः सुषुप्तिरिति वृत्तयः।
ता येनैवानुभूयन्ते सोऽध्यक्षः पुरुषः परः॥१०॥

जागरण, स्वप्न तथा सुषुप्ति (गाढ़ निद्रा)—ये तीन बुद्धिकी वृत्तियाँ हैं। इन वृत्तियोंको जो अनुभव करता है, वही प्रकृतिसे अतीत श्रेष्ठतत्त्वस्वरूप अध्यक्ष (देह आदिको चलानेवाला) आत्मारूपी पुरुष हैं॥१०॥

श्रीमद्भा. १०/८७/२० में श्रुतियाँ भगवान्से कहती हैं—

स्वकृतपुरेष्वमीष्वबहिरन्तरसंवरणं
तव पुरुषं वदन्त्यखिलशक्तिधृतोंऽशकृतम्।

इति नृगतिं विविच्य कवयो निगमावपनं
भवत उपासतेऽङ्घ्रिमभवं भुवि विश्वसिताः ॥११॥

यद्यपि जीवात्मा अपने-अपने कर्मोंके द्वारा उपार्जित शरीरमें स्थित रहता है, तथापि वास्तवमें (स्वरूपतः) बाहर और भीतरके आवरणसे शून्य जीवात्माको अखिल-शक्तिधारी आपका अंश कहते है। इस प्रकारके जीव सम्बन्धित तत्त्वको विचार करके कविओं अर्थात् मनीषियोंने (कर्मचक्रसे निकलनेके लिए) श्रद्धापूर्वक आपके चरणोंकी उपासनारूपी भक्तिको ही निगमोक्त नित्यकर्मके रूपमें स्थिर किया है। 'भीतरमें आवरणशून्य' कहनेसे तात्पर्य यह है कि प्रत्यक् गतिमें अर्थात् अन्तर्मुखी होनेपर आपके असीम चित्-जगत्में जाने योग्य और 'बाहरमें आवरणशून्य' का तात्पर्य है कि पराक् गतिमें अर्थात् बहिर्मुख होनेपर सामने स्थित असीम मायिक विश्वमें अर्थात् जन्म-मृत्युके चक्रमें भ्रमण करने योग्य है ॥११॥

जीवात्मा भगवान्का अशं है तथा जड़से पृथक् है। इस विषयके सम्बन्धमें श्रीकपिलमुनि श्रीमद्भा. ३/२८/४० में माता देवहूतिसे कह रहे हैं—

यथोल्मुकाद्विस्फुलिङ्गाद्धूमाद्वापि स्वसम्भवात्।
अप्यात्मत्वेनाभिमताद् यथाग्निः पृथगुल्मुकात् ॥१२॥

जड़जगत्के सम्बन्धमें इस श्लोकके पूर्व श्लोक (३/२८/३९) में दिखलाया गया है, कि जिस प्रकार पुत्र, धनादिसे मर्त्य जीव पृथक् प्रतीत होता है, उसी प्रकार 'आत्मा' नामक जो पुरुष है, वह देहादिसे पृथक् है। अब यहाँ बतलाया जा रहा है कि ज्वलित काष्ठसे अग्निकी जो चिनगारियाँ बाहर निकलती हैं, वे सब विस्फुलिङ्ग कहलाती है और उस ज्वलित काष्ठसे निकलनेवाला धुआँ तमस्थानीय होता है।[1] जिसे जीवात्मा कहा जाता है, वह

---

[1] इसके लिए अगले पृष्ठपर देखें।

विस्फुलिङ्ग–स्थानीय हैं तथा ज्वलित काष्ठ (परमात्मा) से पृथक् अग्नि विशेष है। वेद–पुराणोंमें यह निश्चित किया गया है कि जीव चित्–सूर्यरूप श्रीकृष्णके किरण–कण सदृश है अर्थात् श्रीकृष्ण सूर्यके समान हैं और जीव उनकी रश्मियोंके कणोंके समान है, इस प्रकार जीवका चित्कण होनेके कारण ईश्वरसे नित्य भेद है; परन्तु चित्–धर्मके विषयमें जीवका ईश्वरसे नित्य अभेद भी है। जीव ईश्वरकी शक्ति विशेष है। शक्ति शक्तिमानसे पृथक् नहीं हो सकती। अतः जीव तथा ईश्वरमें अचिन्त्य भेदाभेद प्रमाणित होता है॥१२॥

जीव तथा भगवान्‌में पारमार्थिक भेद है, इसे स्पष्ट करनेके लिए भगवान् स्वयं अपने स्वरूपका वर्णन करते हुए श्रीमद्भा. ४/२०/७ में पृथु महाराजसे कह रहे हैं—

एकः शुद्धः स्वयंज्योतिर्निर्गुणोऽसौ गुणाश्रयः।
सर्वगोऽनावृतः साक्षी निरात्मात्माऽऽत्मनः परः॥१३॥

(१) भगवान् एक हैं, जीव अनेक हैं, (२) भगवान् नित्य शुद्ध हैं, जीव बद्ध होने योग्य हैं, (३) भगवान् नित्य निर्मल ज्योति हैं, जीव स्वरूपभ्रमके कारण मलिन हो जाते हैं, (४) भगवान् निर्गुण हैं, वे कभी भी प्राकृत गुणोंसे सङ्ग नहीं करते, जब कि जीव वासना–दोषसे प्राकृत गुणोंमें आबद्धप्राय हो जाते हैं, (५) भगवान् अप्राकृत गुणोंके आश्रय और जीव प्राकृत गुणाभिमानी होने योग्य हैं, (६) भगवान् सर्वग् अर्थात् विभु हैं, जीव स्वरूपतः अणु (क्षुद्र) हैं, (७) भगवान् साक्षी हैं, वह

---

[१] यहाँपर ज्वलित अग्निकी तुलना ईश्वरसे, चिनगारियोंकी तुलना जीवसे तथा धुएँकी तुलना पञ्चभूत, दस इन्द्रियों तथा अन्तःकरणसे की जा रही है। जिस प्रकार चिनगारी–ज्वलित काष्ठ तथा धुएँसे पृथक् है, उसी प्रकार जीव–ईश्वर तथा पञ्चभूत, दस इन्द्रियों तथा अन्तःकरणसे पृथक् है। परन्तु मूल अग्निमें जो गुण है, वही गुण चिनगारीमें भी है, इसलिए इस दृष्टिकोणसे जीवको ईश्वरसे अभिन्न भी कहा जाता है।

जीवोंकी क्रियाओंके द्रष्टा हैं, वे निरात्मा तथा जड़ासक्तिरहित हैं, जब कि जीव दृश्य हैं तथा जड़ासक्त होने योग्य हैं, (८) भगवान् अन्तररहित आत्मा अर्थात् उनके देह और आत्मामें कोई अन्तर नहीं है, जब कि जीव तदात्मक अर्थात् भेदपूर्ण जड़देहसे युक्त होने योग्य है, (९) भगवान् जीवात्मासे श्रेष्ठ हैं और जीव उनके वशीभूत हैं। उपरोक्त नौ भेद जीवको ईश्वरसे पृथक् करते हैं॥१३॥

श्रीमद्भा. ८/३/२३ में भगवान्‌की स्तुति करते हुए गजेन्द्रने कहा है—

यथार्चिषोऽग्नेः सवितुर्गभस्तयो निर्यान्ति संयान्त्यसकृत् स्वरोचिषः।
तथा यतोऽयं गुणसम्प्रवाहो बुद्धिर्मनः खानि शरीरसर्गाः॥१४॥

जिस प्रकार अग्निसे अर्चियाँ (शिखाएँ) और सूर्यसे किरणें निकलती हैं तथा पुनः उसी तेजमें प्रवेशकर लीन हो जाती हैं, उसी प्रकार श्रीकृष्णसे जीवसमूह, गुण-प्रवाहरूपा जड़ाप्रकृति, बुद्धि, मन, दस इन्द्रियाँ और शरीर निरन्तर निकलते रहते हैं और पुनः उन्हींमें प्रविष्ट हो जाते हैं॥१४॥

श्रीमद्भा. ३/२८/४१ में कपिलदेव माता देवहूतिसे कहते हैं—

भूतेन्द्रियान्तःकरणात् प्रधानाज्जीवसंज्ञितात्।
आत्मा तथा पृथग्द्रष्टा भगवान् ब्रह्मसंज्ञितः॥१५॥

इसलिए भूतेन्द्रिय, अन्तःकरण, प्रधान और सर्वोपरि जीवतत्त्वसे आत्मा अर्थात् ईश्वर पृथक्, द्रष्टास्वरूप, भगवान् तथा ब्रह्मरूप बृहद्वस्तु हैं॥१५॥

चित्कणस्वरूप जीव किस प्रकार आबद्ध हुआ है, श्रीमद्भा. ३/२६/५ में उसका इस प्रकार वर्णन किया गया है—

गुणैर्विचित्राः सृजतीं सरूपाः प्रकृतिं प्रजाः।
विलोक्य मुमुहे सद्यः स इह ज्ञानगूहया॥१६॥

जब सत्त्व, रज और तमोगुणके द्वारा विचित्रस्वरूपको प्राप्त करनेवाली, प्रजा (देव, मनुष्य, तिर्यक आदि) की सृष्टि-कारिणी माया (प्रकृति) को देखकर जीव विमोहित हो जाता है, तब माया अपनी ज्ञान-आच्छादिका शक्ति अविद्याके द्वारा जीवमें स्वरूपभ्रम उत्पन्न कराती है। भगवत्-अनुवृत्ति अर्थात् भगवान्‌का दास होना ही जीवका स्वरूपगत धर्म है, परन्तु उसे भूलकर मायाके प्रति दृष्टि करना ही जीवके बन्धनका कारण बनता है॥१६॥

(आत्मा वास्तवमें स्थूलशरीर एवं लिङ्गशरीरसे भिन्न एक अलग तत्त्व है, इसकी उपलब्धि करनेकी प्रक्रियाके सम्बन्धमें) पिप्पलायन ऋषि श्रीमद्भा. ११/३/३९ में राजा निमिसे कहते हैं—

अण्डेषु पेशिषु तरुष्वविनिश्चितेषु
प्राणो हि जीवमुपधावति तत्र तत्र।
सन्ने यदिन्द्रियगणेऽहमि च प्रसुप्ते
कूटस्थ आशयमृते तदनुस्मृतिर्नः॥१७॥

यद्यपि देहात्म अभिमानके कारण जीवको आत्माकी स्मृति प्रायः न के बराबर रहती है तथापि इन्द्रियोंके स्थगित होनेपर अर्थात् उनके कार्यको बन्द कर देनेपर जब अभिमान (इन्द्रियोंका अपने-अपने विषयोंको ग्रहण करनेका अभिमान) नष्ट हो जाता है और लिङ्गशरीरके आश्रयके अभावमें अर्थात् इन्द्रियों द्वारा सहायता प्रदान नहीं करनेपर अहंभाववाली बुद्धि भी लुप्त हो जाती है, तब कूटस्थ अर्थात् निर्विकार आत्मानुस्मृति उदित होती है।

इसका एक प्रादेशिक उदाहरण यह है कि जिस प्रकार अण्डज[१], जरायुज[२], उद्भिज[३] और स्वेदज[४] नामक चार

---

[१] अण्डज—अण्डेसे उत्पन्न होनेवाले (पक्षी, साँप, मछली आदि)।

[२] जरायुज—झिल्लीमें लिपटा हुआ, गर्भाशयसे जन्म लेनेवाले (मुनष्य आदि)।

[३] उद्भिज—भूमिको भेदकर बाहर निकलनेवाले अर्थात् बीजसे उत्पन्न होनेवाले (वृक्ष, लता आदि)।

[४] स्वेदज—पसीनेसे उत्पन्न होनेवाले (खटमल आदि)।

प्रकारके शरीरोंमेंसे जीव जिस-जिस शरीरमें गमन करता है, प्राण भी साथ-ही-साथ उस शरीरमें धावित होता है अर्थात् शरीर छोड़ देनेपर भी प्राणका लोप नहीं होता है। सभी इन्द्रियोंके शिथिल तथा अभिमानशून्य होनेपर और लिङ्गशरीरके लिङ्गभङ्ग अर्थात् विनाशके साथ-साथ आत्मानुस्मृतिका लोप नहीं होता, बल्कि वह और भी स्पष्ट होती जाती है॥१७॥

श्रीमद्भा. १/३/३३-३४ में श्रीसूत गोस्वामी शौनकादि ऋषियोंसे कहते हैं—

यत्रेमे सदसद्रूपे प्रतिषिद्धे स्वसंविदा।
अविद्ययाऽऽत्मनि कृते इति तद्ब्रह्म-दर्शनम्॥१८॥

सत् अर्थात् लिङ्गदेह और असत् अर्थात् स्थूलदेह—ये दोनों ही देह अविद्याके द्वारा आत्माको ढक देती हैं। चित्-रूपगत सम्वित् अर्थात् आध्यात्मिक ज्ञान द्वारा जब ऐसा बोध हो जाता है कि ये दोनों देह हमारी नहीं हैं, तब जीवात्मा ब्रह्म-दर्शन अर्थात् भगवत्-दर्शन प्राप्त करता है॥१८॥

यद्येषोपरता देवी माया वैशारदी मतिः।
सम्पन्न एवेति विदुर्महिम्नि स्वे महीयते॥१९॥

जीवकी मायिक विषयमें वैशारदी मतिरूपा ओतप्रोत वृत्ति अविद्या जब दूर हो जाती है, तभी जीव (स्थूल और लिङ्ग शरीरके अभिमानसे रहित होकर) अपने आपको सम्पन्न अर्थात् चिन्मय तत्त्वके रूपमें समझ पाता है तथा अपनी चिन्मय महिमासे महिमान्वित हो जाता है॥१९॥

श्रीमद्भा. ३/७/६ में श्रीविदुर श्रीमैत्रेयसे कहते हैं—

भगवानेक एवैष सर्वक्षेत्रेष्ववस्थितः।
अमुष्य दुर्भगत्वं वा क्लेशो वा कर्मभिः कुतः॥२०॥

अब यह प्रश्न हो सकता है कि जब सभी समय क्षेत्र अर्थात् देहमें जीवके साथ भगवान् विद्यमान हैं, तब जीवके लिए दुर्भाग्य

तथा कर्मजनित क्लेश किस कारणसे उपस्थित होते है? ॥२०॥

श्रीमद्भा. ३/७/९-११ में श्रीमैत्रेय श्रीविदुरसे कहते हैं—

सेयं भगवतो माया यन्नयेन विरुध्यते।
ईश्वरस्य विमुक्तस्य कार्पण्यमुत बन्धनम् ॥२१॥

इस प्रश्नका एकमात्र उत्तर यही है—भगवान्‌की माया अघटन-घटन-पटीयसी शक्ति-विशेष है। विमुक्त ईश्वरकी कृपणता (परम दयालु होनेपर भी दयालुताका अभाव) और जीवका बन्धन भगवान्‌की इसी मायासे ही होता है। यह बात युक्तिके द्वारा समझमें नहीं आ सकती। अचिन्त्यभावके विषयमें तर्ककी तनिक भी गति नहीं है। भगवान्‌की अचिन्त्यशक्तिके द्वारा जीवोंका मायाके प्रति मोह हो जाता है तथा इसीके फलस्वरूप उनपर भगवान्‌की कृपाका अभाव हो जाता है॥२१॥

यदर्थेन विनामुष्य पुंस आत्मविपर्ययः।
प्रतीयत उपद्रष्टुः स्वशिरश्छेदनादिकः ॥२२॥

वास्तवमें जीवात्मा शुद्ध वस्तु है, उसका कोई बन्धन नहीं होता, परन्तु मायासे मोहित होकर मायासे प्राप्त लिङ्गशरीरमें जो आत्माभिमान होता है, वही बन्धन कहलाता है। अतएव जीवका बन्धन सत्य नहीं है। जीवोंका आत्म-विपर्यय अर्थात् स्वरूपभ्रम (शरीरको ही आत्मतत्त्व समझना आदि) केवल अर्थके अभावमें अर्थ-दर्शनमात्र है अर्थात् वास्तविक तत्त्वके ज्ञानके अभावमें अवास्तव तत्त्वको ही वास्तविक मानना है। जिस प्रकार स्वप्न देखनेवाले पुरुषको भ्रमवशतः अपने सिरका कटना आदि व्यापार, वास्तविक न होनेपर भी सत्य जैसा प्रतीत होता है, उसी प्रकार जीवका बन्धन न होनेपर भी भ्रमवश केवल प्रतीत होता है॥२२॥

यथा जले चन्द्रमसः कम्पादिस्तत्कृतो गुणः।
दृश्यतेऽसन्नपि द्रष्टुरात्मनोऽनात्मनो गुणः ॥२३॥

जिस प्रकार जलमें प्रतिबिम्बित चन्द्रमाका कम्पन आदि दिखायी देना जलकृत गुणमात्र अर्थात् जलधर्म है। यद्यपि ऐसा प्रतीत होता है कि चन्द्रमा कम्पित हो रहा है परन्तु वास्तवमें यह कम्पन चन्द्रमामें नहीं, बल्कि जलमें ही होता है। उसी प्रकार द्रष्टा जीवात्मामें यह जो अनात्मिक गुणों (शोक, मोह आदि) का आरोप है, वह मिथ्या है। इस प्रकारके विवर्त्त (विपरीत) धर्मसे ही जीवका अमङ्गल होता है। "अतत्त्वतोऽन्यथा बुद्धि 'विवर्त' इत्युदाहृतः।" जो वास्तवमें हुआ ही नहीं, उसे हुआ समझनेवाली मिथ्या बुद्धि ही विवर्त्त है। रज्जुमें सर्पका भ्रम तथा सीपमें रजतका भ्रम—ये सब विवर्त्तके उदाहरण हैं॥२३॥

श्रीमद्भा. ६/१६/८ में चित्रकेतु महाराजके मृत पुत्रकी जीवात्माने नारदमुनिसे कहा—

एवं योनिगतो जीवः स नित्यो निरहंकृतः।
यावद् यत्रोपलभ्येत तावत् स्वत्वं हि तस्य तत्॥२४॥

(ऐसी विवर्त्त बुद्धिसे युक्त) जीव वस्तुतः नित्य और निरहंकृत (अभिमानशून्य) होनेपर भी जन्म लाभ करनेपर जब तक जिस स्थूलशरीरमें रहता है, तब तक उसकी उस शरीरमें देहात्मबुद्धि रहती है॥२४॥

श्रीमद्भा. ११/११/१० में श्रीभगवान् उद्धवसे कहते हैं—

दैवाधीने शरीरेऽस्मिन् गुणभाव्येन कर्मणा।
वर्तमानोऽबुधस्तत्र कर्तास्मीति निबद्ध्यते॥२५॥

मूढ़ अविद्या ग्रस्त जीव दैवाधीन अर्थात् पूर्व-पूर्व जन्मोंमें किये गये कर्मोंके अनुसार प्राप्त हुए अपने इस शरीरकी इन्द्रियोंसे किये गये कर्मोंको अहङ्कारवशतः अपने द्वारा किया हुआ माननेके कारण उसी शरीरमें ही बद्ध रहता है॥२५॥

श्रीमद्भा. ३/२६/६-८ में भगवान् कपिलदेव माता देवहूतिसे कहते हैं—

एवं पराभिध्यानेन कर्तृत्वं प्रकृतेः पुमान्।
कर्मसु क्रियमाणेषु गुणैरात्मनि मन्यते॥२६॥

इस प्रकार आत्मासे भिन्न प्रकृति (देह) को ही अपना स्वरूप समझ लेनेसे देहात्मबुद्धिवशतः प्रकृतिके गुणों अर्थात् सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणके द्वारा किये जानेवाले कर्मोंपर जीव अपने कर्त्तृत्वका अभिमान करने लगता है॥२६॥

तदस्य संसृतिर्बन्धः पारतन्त्र्यं च तत्कृतम्।
भवत्यकर्तुरीशस्य साक्षिणो निर्वृतात्मनः॥२७॥

जीव वस्तुतः अकर्त्ता (किसी भी कर्मका कर्त्ता नहीं है), मायाके द्वारा अपराधीन अर्थात् मायासे स्वतन्त्र, साक्षी, स्वरूपतः कृष्णदास होनेके कारण मुक्त स्वरूपवाला (अर्थात् अप्राकृत रूप, गुणवाला) होनेपर भी (कर्त्तृत्व अभिमानके कारण) प्रकृतिकी परतन्त्रतावशतः बद्धताको स्वीकार करता है, इसीको ही जीवका संसार-बन्धन कहते हैं। (यह सब जीवकी अपनी स्वतन्त्रताका अपव्यवहार करनेके कारण ही होता है) इसे परमेश्वरका विषमता व निर्दयतारूपी दोष नहीं कहा जा सकता॥२७॥

कार्यकारणकर्तृत्वे कारणं प्रकृतिं विदुः।
भोक्तृत्वे सुखदुःखानां पुरुषं प्रकृतेः परम्॥२८॥

इस प्रकार जीवका जो संसार बन्धन हुआ है, उसमें प्रकृति ही कर्म-कर्त्तृत्वका कारण है[१]। प्रकृतिसे एकदम भिन्न होकर भी

---

[१] क्योंकि प्रकृति ही जीवकी देह, इन्द्रियाँ और इन्द्रियोंके अधिष्ठात्री देवता आदिके कार्य, कारण और कर्त्तृत्व आदि भावोंकी उत्पत्तिका कारण है इसलिए प्रकृतिके परिणामस्वरूप देहके द्वारा कर्त्तृत्व अहङ्कारसे युक्त होकर जीवके द्वारा की जानेवाली क्रियाएँ वास्तवमें प्रकृतिके अधीन हैं। इसी कारणवश प्रकृतिको कर्म-कर्त्तृत्वका कारण कहा जाता है।

पुरुष (जीव) विवर्त्तका आश्रय (अर्थात् अपनेमें कर्त्तापनका आरोप) करनेके कारण सुख-दुःखका भोग करता है॥२८॥

श्रीनारदके पूर्व-चरित्रमें जीवका प्रपञ्चातीत शुद्ध स्वरूप प्रदर्शित हुआ है। यथा श्रीमद्भा. १/६/२९, ३२-३३ में श्रीनारद कहते हैं—

प्रयुज्यमाने मयि तां शुद्धां भागवतीं तनुम्।
आरब्धकर्मनिर्वाणो न्यपतत् पाञ्चभौतिकः॥२९क॥

अन्तर्बहिश्च लोकांस्त्रीन् पर्येम्यस्कन्दितव्रतः॥२९ख॥

देवदत्तामिमां वीणां स्वरब्रह्मविभूषिताम्।
मूर्च्छयित्वा हरिकथां गायमानश्चराम्यहम्॥२९ग॥

हे व्यास! भगवान्की कृपासे प्रारब्धकर्म समाप्त होनेपर मेरी पाञ्चभौतिक देह मुझसे पृथक् होकर गिर पड़ी तथा मुझे भागवती तनु अर्थात् अप्राकृत सिद्धदेह प्राप्त हुई। तबसे मैं नैष्ठिक-ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करता हुआ त्रिलोकके अन्दर और बाहर भगवान्के द्वारा प्रदत्त, स्वर-ब्रह्मसे[१] विभूषित इस वीणामें मूर्च्छना आदि तान छेड़कर हरिगुण गाता हुआ भ्रमण करता रहता हूँ॥२९॥

परव्योमके नित्य मुक्त जीवोंके स्वरूपका वर्णन करते हुए श्रील शुकदेव गोस्वामी श्रीमद्भा. २/९/११ में कहते हैं—

श्यामावदाताः शतपत्रलोचनाः
पिशङ्गवस्त्राः सुरुचः सुपेशसः।
सर्वे चतुर्बाहव उन्मिषन्मणि-
प्रवेकनिष्काभरणाः सुवर्चसः॥३०॥

---

[१] षड़ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद नामक सात स्वर, ब्रह्म और वेदको प्रकट करनेवाले होनेके कारण स्वर-ब्रह्म कहलाते हैं। श्रीनारदजीकी वीणा इन सात स्वरोंसे स्वतःसिद्ध है।

वे श्यामल वर्ण, निर्मल, कमलनयन, पीले रङ्गके वस्त्रोंसे युक्त, सुन्दर, मधुरभाषी, चतुर्बाहु-विशिष्ट (चार भुजाओंवाले), उत्कृष्ट मणियों द्वारा सुशोभित तथा अपने शरीरसे सुन्दर ज्योतिका विस्तार करनेवाले है। ऐश्वर्यप्रधान नित्य शुद्ध जीवोंकी चिन्मय-स्वरूपगत-देहमें यह सभी विशेषताएँ होती है। माधुर्य प्रधान नित्य जीवोंका गोलोक व्रजमें इससे भी अधिक माधुर्यमण्डित सौन्दर्य प्रकाशित होता है॥३०॥

श्रीमद्भा. ११/३/४० में श्रीपिप्पलायन ऋषि राजा निमिसे कहते हैं—

यर्ह्यब्जनाभचरणैषणयोरुभक्त्या—
चेतो मलानि विधमेद्गुणकर्मजानि।
तस्मिन् विशुद्ध उपलभ्यत आत्मतत्त्वं
साक्षाद् यथाऽमलदृशोः सवितृप्रकाशः॥३१॥

जब श्रीकृष्णके श्रीचरणकमलोंकी सेवाको प्राप्त करनेकी तीव्र अभिलाषारूप शुद्धभक्ति द्वारा चित्तमें गुण-कर्मजनित-मलसमूह ध्वंस हो जाता है, तब उसी समय विशुद्ध आत्मतत्त्व अमल-दृष्टिसम्पन्न पुरुषके निकट निर्मल सूर्यके प्रकाशकी भाँति सम्यक् उदित होता है॥३१॥

श्रीमद्भा. ३/७/१२-१४ में मैत्रेय विदुरसे कहते हैं—

स वै निवृत्तिधर्मेण वासुदेवानुकम्पया।
भगवद्भक्तियोगेन तिरोधत्ते शनैरिह॥३२॥

निवृत्ति-धर्म, श्रीकृष्णकी अनुकम्पा तथा शुद्धभक्तियोगके द्वारा अविद्या-अभिनिवेश क्रमशः तिरोहित होने लगता है। तात्पर्य यह है कि शरीरयात्रासे सम्बन्धित समस्त व्यवहारमें सात्त्विक व्यापार आदिको स्वीकार करते हुए क्रमशः राजस-तामस स्वभाव और धर्मको दूर करना चाहिये। साथ-ही-साथ शुद्धभक्तियोग द्वारा सात्त्विक व्यापार आदिको निर्गुण बना डालना चाहिये। भक्ति-साधन जितना निर्मल होता है, उतनी ही श्रीकृष्ण-अनुकम्पा उदित होती

है। तभी अविद्याके बलका ह्रास तथा विशुद्ध विद्या-वधूका उदय होता है॥३२॥

यदेन्द्रियोपरामोऽथ द्रष्टात्मनि परे हरौ।
विलीयन्ते तदा क्लेशाः संसुप्तस्येव कृत्स्नशः॥३३॥

जिस समय इन्द्रियोंकी उपरति अर्थात् उनका विषयोंमें विराग स्वाभाविक रूपसे होता है, उस समय श्रीहरिके प्रति उन्मुखता सहत रूपमें होती है। प्रगाढ़ निद्रामें सोते हुए व्यक्तिके नींद खुलनेपर जिस प्रकार स्वप्नमें अनुभूत मिथ्या भय सम्पूर्ण रूपसे दूर हो जाता है, उसी प्रकार श्रीहरिकी उन्मुखतावशतः अविद्यादि सारे क्लेश दूर हो जाते हैं॥३३॥

अशेषसंक्लेशशमं विधत्ते गुणानुवादश्रवणं मुरारेः।
किं वा पुनस्तच्चरणारविन्दपरागसेवारतिरात्मलब्धा॥३४॥

इति श्रीमद्भागवतार्कमरीचिमालायां सम्बन्धज्ञानप्रकरणे
जीवतत्त्वनिरूपणं नाम सप्तमः किरणः॥

जब श्रीहरिके गुणोंका श्रद्धापूर्वक श्रवण करनेसे ही अशेष अर्थात् सब प्रकारके क्लेश नष्ट हो जाते हैं, तब फिर यदि किसीकी उनके श्रीचरणकमलोंकी परागके सेवनमें आत्मलब्ध रति अर्थात् भगवान्‌के श्रीचरणकमलोंकी रेणुकी सेवामें दृढ़ आसक्ति हो जाये, तो क्या होगा, उसका तो फिर कहना ही क्या है?

इस सप्तम किरणमें वर्णन किया गया कि श्रीकृष्ण अखिलगुण तथा शक्तिसम्पन्न विभुचैतन्य हैं। श्रीकृष्णकी जीवशक्तिके द्वारा जीव अणुचैतन्य रूपमें परिणत होता है। जीवके स्व-गठन अर्थात् आत्माके गठनमें मायाशक्तिकी कोई भी क्रिया नहीं हैं। अणु-धर्मी जीव कृष्णसे बहिर्मुख होनेपर माया द्वारा बद्ध होनेके योग्य है। स्वेच्छाचारवशतः मायाबद्ध जीव विवर्त्त धर्मानुसार देहात्माभिमानके कारण संसारको स्वीकार करता है। सुकृति होनेपर पुनः श्रीकृष्णभक्ति

द्वारा अपने आत्मधर्म अर्थात् स्व-स्वरूपमें प्रतिष्ठित होता है॥३४॥

सप्तम किरणकी 'मरीचिप्रभा' नामक गौड़ीय व्याख्याका भावानुवाद समाप्त॥

अष्टम किरण

बद्धजीवके लक्षण

मायया जीवसम्बन्धः येन प्रदर्शितः स्फुटम्।
श्रीगौरकृपया साक्षात्तं जीवं प्रणमाम्यहम्॥

मैं उन श्रीजीव गोस्वामीको प्रणाम करता हूँ, साक्षात् श्रीगौराङ्ग महाप्रभुकी कृपासे जिनके द्वारा मायासे जीवका सम्बन्ध स्पष्ट रूपमें प्रदर्शित हुआ है।

श्रीकृष्णचैतन्यचन्द्राय नमः

श्रीमद्भा. ३/३१/२१ में गर्भ-स्थित जीव भगवान्से प्रार्थना करते हुए कहता है—

तस्मादहं विगतविक्लव उद्धरिष्ये
आत्मानमाशु तमसः सुहृदात्मनैव।
भूयो यथा व्यसनमेतदनेकरन्ध्रं
मा मे भविष्यदुपसादितविष्णुपादः॥१॥

हे श्रीकृष्ण! यद्यपि आपसे विमुख होनेके कारण मुझे गर्भमें आना पड़ा है, तथापि अब मैं स्थिर चित्तसे सद्बुद्धि द्वारा अपना उद्धार करूँगा और अनेकानेक जन्म अर्थात् गर्भवास आदिके कष्टको दूर करनेके लिए आपके श्रीचरणकमलोंका आश्रय प्राप्त करनेका भरसक प्रयत्न करूँगा॥१॥

श्रीमद्भा. ३/२७/२-३ में भगवान् कपिलदेव माता देवहूतिसे कहते हैं—

स एष यर्हि प्रकृतेर्गुणेष्वभिविसज्जते।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥२॥

जब जीव (गर्भसे बाहर निकलकर) प्रकृतिके तीनों गुणोंमें आसक्त हो जाता है, तब 'मैं' और 'मेरा', इस प्रकारके अहङ्कारके द्वारा विमूढ़ होकर 'मैं कर्त्ता हूँ', ऐसा मानने लगता है॥२॥

तेन संसारपदवीमवशोऽभ्येत्यनिर्वृतः निर्वृतः।
प्रासङ्गिकैः कर्मदोषैः सदसन्मिश्रयोनिषु॥३॥

उस अहङ्कारके वशीभूत होकर जीव सुख अनुभव करते हुए 'संसार-पदवी' को प्राप्त करता है। साथ-ही-साथ अपने कर्मोंके दोषके कारण कभी ब्राह्मणादि सत्-योनियोंमें तो कभी कूकर आदि असत्-योनियोंमें जन्म ग्रहण करता है॥३॥

श्रीमद्भा. ३/३०/३ में कहा गया है—

यदध्रुवस्य देहस्य सानुबन्धस्य दुर्मतिः।
ध्रुवाणि मन्यते मोहाद् गृहक्षेत्रवसूनि च॥४॥

दुर्मति जीव नाशवान शरीर, घर, पत्नी-पुत्र आदि कुटुम्बियों और जमीन-जयदाद आदिको नित्य माननेके कारण मोहको प्राप्त होता है॥४॥

श्रीमद्भा. ३/९/७-८ में श्रीब्रह्मा भगवान्से कहते हैं—

दैवेन ते हतधियो भवतः प्रसङ्गात्-
सर्वाशुभोपशमनाद् विमुखेन्द्रिया ये।
कुर्वन्ति कामसुखलेशलवाय दीना
लोभाभिभूतमनसोऽकुशलानि शश्वत्॥५॥

हे भगवन्! बहिर्मुख इन्द्रियोंवाले व्यक्ति दैववशतः (अपराधवशतः) दुर्बुद्धिपरायण होकर सब प्रकारके अमङ्गलोंको दूर करनेवाली आपकी कथासे विमुख होते हैं तथा दीनतावशतः सदैव काम सुखकी लेशमात्र प्राप्ति हेतु लालायित चित्तसे अमङ्गलस्वरूप दुष्कर्मोंमें लगे रहते हैं॥५॥

क्षुत्तृट्त्रिधातुभिरिमा मुहुरर्द्यमानाः
शीतोष्णवातवरषैरितरेतराच्च।
कामाग्निनाच्युत रुषा च सुदुर्भरेण
सम्पश्यतो मन उरुक्रम सीदते मे॥६॥

अहो! दुर्बुद्धिपरायण जीव भूख, प्यास, वात, पित्त, कफ, सर्दी, गर्मी, वायु, वर्षा, कामाग्नि तथा दुःसह क्रोधके कारण बारम्बार दुःख प्राप्त करते हैं। हे उरुक्रम! उनकी अवस्था देखकर मेरा मन काँपने लगा है॥६॥

श्रीमद्भा. ३/९/१० में श्रीब्रह्मा कहते हैं—

अह्न्यापृतार्त्तकरणा निशि निःशयाना नानामनोरथधिया क्षणभग्ननिद्राः।
दैवाहतार्थरचना ऋषयोऽपि देव युष्मत्प्रसङ्गविमुखा इह संसरन्ति॥७॥

हे भगवन्! औरोंकी तो बात ही क्या कहूँ! आपकी कथाओंके श्रवण-कीर्त्तनसे रहित तर्कादि-प्रिय ऋषिगण भी दिनमें अविद्यासे ग्रस्त इन्द्रियोंको उनके अपने-अपने कार्योंमें व्यस्त रखते हैं (अर्थात् ऋषि भी अनेक प्रकारके कार्योंमें लगे रहनेके कारण विक्षिप्त चित्त रहते हैं) और रात्रिकालमें घोर-निद्रामें शयन करते हैं। कभी-कभी विभिन्न मनोरथोंकी चिन्तामें उनकी निद्रा क्षण-क्षणमें भङ्ग हो जाती है। और, जब वे किसी मनोरथको पूर्ण करनेकी चेष्टा करते हैं, तब उनके धनादिको संग्रह करनेकी चेष्टा भी विफल हो जाती है। अनेक शास्त्र प्रणयन करके भी वे संसार-दशाको प्राप्त करते हैं। भगवत्-बहिर्मुखताका यही कुफल है॥७॥

श्रीमद्भा. ३/३०/४ में भगवान् कपिल माता देवहूतिसे कहते हैं—

जन्तुर्वै भव एतस्मिन् यां यां योनिमनुव्रजेत्।
तस्यां तस्यां स लभते निर्वृतिं न विरज्यते॥८॥

इस संसारमें प्राणी जिस-जिस योनिको प्राप्त करता है, उस-उस योनिमें ही सुखका भोग करने लगता है, उसे विरक्ति नहीं होती। अहो! मायाका कैसा मोह है?॥८॥

श्रीमद्भा. ४/२९/२९ में श्रीनारद प्राचीनबर्हि राजासे कहते हैं—

क्वचित्पुमान् क्वचिच्च स्त्री क्वचिन्नोभयमन्धधीः।
देवो मनुष्यस्तिर्यग्वा यथाकर्मगुणं भवः॥९॥

कर्मगुणका आश्रय करके मन्दबुद्धि जीव कभी पुरुष, कभी स्त्री, कभी नपुंसक होकर जन्म ग्रहण करता है। कभी देवता, कभी मनुष्य और कभी तिर्यक् अर्थात् पशु-पक्षी आदि योनियोंमें भ्रमण करता हुआ अपने कर्मोंका फल भोगता है॥९॥

श्रीमद्भा. ३/३०/५ में भगवान् श्रीकपिलदेव माता देवहूतिसे कहते हैं—

नरकस्थोऽपि देहं वै न पुमांस्त्यक्तुमिच्छति।
नारक्यां निर्वृतौ सत्यां देवमायाविमोहितः॥१०॥

नारकी योनियोंमें जन्म लेनेपर भी जीव अपनी देहको छोड़ना नहीं चाहता। वह नरकमें ही सन्तुष्टि प्राप्त करके देवमाया द्वारा विमोहित रहता है॥१०॥

श्रीमद्भागवत (?) में[१] भगवान्‌ने कहा—

मामनाराध्य दुःखार्त्तः कुटुम्बासक्तमानसः।
सत्संगरहितो मर्त्यो वृद्धसेवापरिच्युतः॥११॥

जीव मेरी आराधना न करके कुटुम्बमें आसक्त मनके कारण सत्सङ्गरहित तथा साधुसेवासे विच्युत होकर परम दुःखमें निमज्जित हो जाता है॥११॥

श्रीमद्भा. ३/३०/६ में भगवान् श्रीकपिलदेव माता देवहूतिसे कहते हैं—

आत्मजायासुतागारपशुद्रविणबन्धुषु ।
निरूढमूलहृदय आत्मानं बहुमन्यते॥१२॥

शरीर, स्त्री, पुत्र, गृह, पशु, धन और बन्धु इत्यादिमें अपनी आसक्तिको दृढ़ करके जीव अपने आपको बहुत सौभाग्यशाली समझता है॥१२॥

श्रीमद्भा. ३/३०/९ में पुनः कहते हैं—

गृहेषु कूटधर्मेषु दुःखतन्त्रेष्वतन्द्रितः।
कुर्वन् दुःखप्रतीकारं सुखवन्मन्यते गृही॥१३॥

---

[१] हमने श्रीमद्भागवतके उपलब्ध प्रायः सभी संस्करणोंमें इस श्लोक संख्याको ढूँढ़नेका प्रयास किया, तथापि सफल मनोरथ नहीं हो पाये। ऐसा प्रतीत होता है कि श्रील भक्तिविनोद ठाकुरजीके समयमें उपलब्ध किसी संस्करणमें यह श्लोक लिपिबद्ध था, किन्तु सम्भवतः कालके प्रभावसे उपलब्ध संस्करणोंमेंसे लुप्त हो गया है।

बद्धजीव सुख किसे मानता है, इस विषयमें श्रवण कीजिये! बहुत अधिक कष्ट प्रदान करनेवाले नानाविध गृहकार्योंमें दिन-रात निरन्तर निरालस्य भावसे लिप्त रहनेपर यदि उसे दुःखोंको दूर करनेमें सफलता मिलती है तो वह विचार करता है कि मैंने सुख प्राप्त कर लिया। वस्तुतः इस संसारमें जिसे सुख कहते हैं, वह सुख नहीं, बल्कि कुछ-कुछ दुःखका प्रतिकारमात्र है॥१३॥

श्रीमद्भा. ३/३०/११ में पुनः कहते हैं—

वार्तायां लुब्धमानायामारब्धायां पुनः पुनः।
लोभाभिभूतो निःसत्त्वः परार्थे कुरुते स्पृहाम्॥१४॥

गृही लोग जीवन-निर्वाहके लिए नाना प्रकारके व्यवसायमें व्यस्त रहते हैं। एक व्यवसाय नष्ट होनेपर दूसरा व्यवसाय आरम्भ करते हैं और इस प्रकार लोभके वशीभूत होकर वस्तुतः दूसरोंका धन हड़पने जैसे असत् कार्य करनेकी इच्छा करने लगते हैं॥१४॥

श्रीमद्भा. ३/३०/१४-१६ में पुनः कहते हैं—

तत्राप्यजातनिर्वेदो म्रियमाणः स्वयम्भृतैः।
जरयोपात्तवैरूप्यो मरणाभिमुखो गृहे॥१५॥

ऐसा करते-करते जराग्रस्त होनेपर भी जीवका संसारसे निर्वेद (विरक्ति) उत्पन्न नहीं होता। पहले जिन (बच्चों) का वे पालन-पोषण करते थे, अब वे ही उनका पालन करते हैं। वैराग्य उत्पन्न हुए बिना ही मृत्युके मुखमें पतित होनेके लिए अग्रसर होते हैं॥१५॥

आस्तेऽवमत्योपन्यस्तं गृहपाल इवाहरन्।
आमयाव्यप्रदीप्ताग्निरल्पाहारोऽल्पचेष्टितः॥१६॥

ऐसी अवस्थामें गृहपाल (घरका पालन-पोषण करनेवाले व्यक्ति) के द्वारा फेंके गये द्रव्योंको ही कुत्तेके समान अपमानित होकर

खाता रहता है। पीड़ा द्वारा उसकी अग्नि मन्द पड़ जाती है, भोजन और शारीरिक क्रिया कम हो जाती हैं। किसी प्रकार दुःखसे जीवन यापन करता है॥१६॥

वायुनोत्क्रमतोत्तारः कफसंरुद्धनाडिना।
कासश्वासकृतायासः कण्ठो घुरघुरायते॥१७॥

वायुके उत्क्रमण (ऊपरकी ओर आने) से उसकी श्वास-प्रश्वासकी नलिकाएँ कफसे रुक जाती हैं। खाँसने और श्वास लेनेमें भी बड़ी पीड़ा होती है और कफ बढ़ जानेके कारण कण्ठमें घुरघुराहट होने लगती है॥१७॥

श्रीमद्भा. ३/३०/१८ में पुनः कहते हैं—

एवं कुटुम्बभरणे व्यापृतात्माजितेन्द्रियः।
म्रियते रुदतां स्वानामुरुवेदनयास्तधीः॥१८॥

भावानुवाद—इस प्रकार कुटुम्ब-भरणमें व्यस्त, अजितेन्द्रिय, अत्यन्त वेदनासे युक्त व्यक्तिकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है तथा वह अपने कुटुम्ब-परिजनोंके क्रन्दनके बीचमें अचेत होकर प्राण त्याग देता है॥१८॥

(श्रीमद्भा. ३/३१/४४)

जीवो ह्यस्यानुगो देहो भूतेन्द्रियमनोमयः।
तन्निरोधोऽस्य मरणमाविर्भावस्तु सम्भवः॥१९॥

भावानुवाद—जीव भूतेन्द्रिय-मनोमय लिङ्गशरीर और स्थूलशरीरके अनुगत रहता है। इस स्थूलदेहके त्यागको 'मृत्यु' और प्राप्तिको 'जन्म' कहते हैं॥१९॥

(श्रीमद्भा. ३/३२/३८)

जीवस्य संसृतीर्बह्वीरविद्याकर्मनिर्मिताः।
यास्वङ्ग प्रविशन्नात्मा न वेद गतिमात्मनः॥२०॥

अविद्याजनित कर्मके कारण जीवोंकी बहुत प्रकारकी गतियाँ[१] होती हैं। उन सब गतियोंमें प्रवेश करनेपर जीव अपने जीवनके वास्तविक उद्देश्यको नहीं जान पाता है॥२०॥

श्रीमद्भा. २/३/१९-२४ में शौनकादि ऋषि श्रीसूत गोस्वामीसे कहते हैं—

श्वविड्वराहोष्ट्रखरैः संस्तुतः पुरुषः पशुः।
न यत्कर्णपथोपेतो जातु नाम गदाग्रजः॥२१॥

जिस मनुष्यके कर्णविवरोंमें भगवान् श्रीकृष्णकी कथा कभी प्रवेश नहीं करती, वे पुरुषके रूपमें पशु ही हैं। और-तो-और कुत्ते, ग्राम्यशूकर, ऊँट और गधे भी स्तुतिके छलसे उसका परिहास करते हैं॥२१॥

बिले बतोरुक्रमविक्रमान् ये न शृण्वतः कर्णपुटे नरस्य।
जिह्वासती दार्दुरिकेव सूत न चोपगायत्युरुगायगाथाः॥२२॥

जिस मनुष्यके कान भगवान् श्रीकृष्णकी वीर्यवती कथा श्रवण नहीं करते, वे दोनों कान व्यर्थके छिद्रमात्र ही हैं। हे सूत! जो जिह्वा उरुगाय[२] भगवान् श्रीकृष्णके नामादिका कीर्त्तन नहीं करती, वह सदैव मेढ़ककी जिह्वाके समान असती ही है॥२२॥

भारः परं पट्टकिरीटजुष्ट-
मप्युत्तमाङ्गं न नमेन्मुकुन्दम्।
शावौ करौ नो कुरुतः सपर्यां
हरेर्लसत्काञ्चनकङ्कणौ वा॥२३॥

जिनका मस्तक भगवान् श्रीमुकुन्दके चरणकमलोंमें नहीं झुकता, वह अति उत्तम मुकुटके द्वारा शोभायमान होनेपर भी भारमात्र है।

[१] जीव अपने कर्मोंके दोषके कारण कभी स्वर्गलोकमें जाता है तो कभी निम्नलोकोंमें। कभी राजा होता है, कभी प्रजा, कभी विप्र, कभी शूद्र, कभी सुखी तो कभी दुःखी।

[२] उत्तम भक्तों द्वारा संस्तुत।

अति सुन्दर कङ्कणसे विभूषित होनेपर भी जो हाथ श्रीकृणकी सेवा नहीं करते, वे मृत शरीरके हाथोंके समान व्यर्थ हैं॥२३॥

बर्हायिते ते नयने नराणां
लिङ्गानि विष्णोर्न निरीक्षतो ये।
पादौ नृणां तौ द्रुमजन्मभाजौ
क्षेत्राणि नानुव्रजतो हरेर्यौ॥२४॥

जिन मनुष्योंकी आँखोंने, भगवान् श्रीकृष्णके श्रीविग्रहका दर्शन नहीं किया, वे मयूरके पंखोंमें अङ्कित आँखोंके समान निरर्थक हैं। जिनके पैरोंने श्रीहरिके क्षेत्रमें गमनागमन अर्थात् परिक्रमा नहीं की, वे केवल वृक्षसे उत्पन्न काष्ठके समान हैं॥२४॥

जीवञ्छवो भागवताङ्घ्रिरेणून्
न जातु मर्त्योऽभिलभेत यस्तु।
श्रीविष्णुपद्या मनुजस्तुलस्याः
श्वसञ्छवो यस्तु न वेद गन्धम्॥२५॥

वे व्यक्ति जीवित रहते हुए भी मृतवत् ही हैं, जिन्होंने कभी वैष्णवोंकी चरणधूलिको ग्रहण नहीं किया। वे साँस लेते हुए भी शवके समान हैं, जिन्होंने मत्त (मतवाले) बना देनेवाली भगवान्के श्रीचरणोंकी तुलसीकी सुगन्धका आस्वादन नहीं किया॥२५॥

तदश्मसारं हृदयं बतेदं
यद् गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः।
न विक्रियेताथ यदा विकारो
नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः॥२६॥

उन व्यक्तियोंका हृदय हृदय नहीं, बल्कि अपराधयुक्त कठोर पत्थर है, जिसमें भगवान् श्रीहरिके नामको ग्रहण करते समय किसी कारणवश नेत्रोंसे अश्रुओंका प्रवाह और शरीरके रोम-रोमसे पुलक आदिका प्रादुर्भाव तो होता है, किन्तु हृदय द्रवीभूत नहीं

होता। कपटी और पिच्छिल[१] स्वभावके व्यक्तियोंमें सत्त्वाभासके कारण जो पुलकाश्रु उत्पन्न होते हैं, वे वृथा हैं। हरिनाम ग्रहण करते समय यदि हृदय सरलतापूर्वक द्रवीभूत होकर नेत्रोंसे अश्रु और रोम-रोमसे पुलकको उत्पन्न करता है, तभी मङ्गलस्वरूप है ॥२६॥

ऐसे व्यक्ति कलिके स्थानोंका आश्रय ग्रहण करते हैं। श्रीमद्भा. १/१७/३८-३९ में श्रीसूतगोस्वामी श्रीशौनकादि ऋषियोंसे कहते हैं—

अभ्यर्थितस्तदा तस्मै स्थानानि कलये ददौ।
द्यूतं पानं स्त्रियः सूना यत्राधर्मश्चतुर्विधः ॥२७॥

मायाबद्ध जीव कलिके स्थानमें ही रहना पसन्द करते हैं। कलि द्वारा प्रार्थित होनेपर राजा परीक्षित्‌ने उसे (१) द्यूत-क्रीड़ाका स्थान, (२) मदिरा-धूम्रपान आदिका स्थान, (३) इन्द्रियोंको सन्तुष्ट करनेवाली अवैध स्त्रियोंके सङ्ग करनेका स्थान, तथा (४) पशु-वधका स्थान नामक चार अधर्मयुक्त स्थान प्रदान किये। (धूत-क्रीड़ामें सत्यनाश, मदिरा आदिके पानमें तपस्या नाश, स्त्रीसङ्गमें शौच नाश तथा पशु-वधमें दया नाश आदि अधर्म वास करते हैं।) ॥२७॥

पुनश्च याचमानाय जातरूपमदात् प्रभुः।
ततोऽनृतं मदं कामं रजो वैरं च पञ्चमम् ॥२८॥

(महाराज परीक्षित्‌से चार अधर्मयुक्त स्थान प्राप्त होनेपर भी कलि सन्तुष्ट नहीं हुआ, क्योंकि उक्त चार प्रकारके अधर्म चार स्थानोंपर पृथक्-पृथक् रूपमें विराजित हैं। कलिने पुनः एक ऐसे स्थानके लिए प्रार्थना की, जहाँपर उक्त चारों अधर्म युगपत् एक ही स्थानपर विराजमान हों।)

महाराज परीक्षित्‌ने कलि द्वारा पुनः प्रार्थना किये जानेपर उसे वह स्थान भी दे दिया, जहाँपर स्वर्ण हो। क्योंकि जहाँ स्वर्ण है

[१] पिच्छिल—ऊपरसे कोमल परन्तु अन्दरसे कठोर (दुर्गम सङ्गमनी)।

वहाँ असत्य, मद (अहङ्कार), स्त्रीसङ्ग इच्छारूपी काम और हिंसा नामक चार अधर्म और साथ-ही-साथ शत्रुता नामक और भी एक अधर्म युगपत् विराजमान है॥२८॥

श्रीमद्भा. ११/२५/३२-३३ में भगवान् श्रीकृष्ण उद्धवसे कहते हैं—

एताः संसृतयः पुंसो गुणकर्मनिबन्धनाः।
येनेमे निर्जिताः सौम्य गुणा जीवेन चित्तजाः।
भक्तियोगेन मन्निष्ठो मद्भावायोपपद्यते॥२९॥

ऐसे भगवत् बहिर्मुख जीवोंकी त्रिगुण और उस त्रिगुणसे उत्पन्न कर्मोंके कारण ही संसार दशा होती है। ये सब गुण चित्त अर्थात् महत्-तत्त्वसे ही उत्पन्न होते हैं। जो जीव इन गुणसमूहोंपर विजय प्राप्त कर लेता है, वही धन्य है। मन्निष्ठव्यक्ति भक्तियोगके द्वारा मेरे भाव अर्थात् मेरे प्रति दास्य, सख्य आदि भावको प्राप्त करनेकी योग्यता प्राप्त करता है॥२९॥

तस्माद् देहमिमं लब्ध्वा ज्ञानविज्ञानसम्भवम्।
गुणसङ्गं विनिर्धूय मां भजन्तु विचक्षणाः॥३०॥

अतएव इस क्षणभङ्गुर देहको प्राप्तकर गुरुकृपा प्राप्त विवेकी पुरुष गुणसङ्गरूपी दोषको विदूरित करते हुए ज्ञान और विज्ञानके उत्पत्ति क्षेत्रस्वरूप इस मनुष्य शरीर द्वारा मेरा भजन करे॥३०॥

श्रीमद्भा. ११/१२/२१-२४ में श्रीभगवान्‌ने उद्धवसे कहा—

य एष संसारतरुः पुराणः
कर्मात्मकः पुष्पफले प्रसूते॥३१॥

द्वे अस्य बीजे शतमूलस्त्रिनालः
पञ्चस्कन्धः पञ्चरसप्रसूतिः।
दशैकशाखो द्विसुपर्णनीड़-
स्त्रिवल्कलो द्विफलोऽर्कं प्रविष्टः॥३२॥

हे उद्धव! यह समष्टि और व्यष्टि स्वरूप विश्व ही अनादि संसाररूपी वृक्ष है। यह वृक्ष कर्मप्रवाहमय अर्थात् प्रवाह रूपसे नित्य शुभ-अदृष्ट (सौभाग्य) और दुर-दृष्ट (दुर्भाग्य)—इन दो प्रकारके फलोंको प्रसव करता है। पाप और पुण्य इसके दो बीज हैं। शत-शत वासनाएँ इसकी जड़ हैं। त्रिगुण ही इसके त्रिनाल (तने) हैं। पञ्चभूत इसके पाँच स्कन्ध हैं। पाँच विषय इसके पाँच रस हैं। सुख, दुःख इसकी प्रसूति अर्थात् इसके दो फल हैं। एकादश इन्द्रियाँ इसकी एकादश शाखाएँ हैं। इस वृक्षपर जीवात्मा तथा परमात्मा नामक दो पक्षी रहते हैं। वात, पित्त, कफ इसके तीन वल्कल (छाल) हैं। यह संसाररूपी वृक्ष सूर्यमण्डल तक फैला हुआ है॥३१-३२॥

अदन्ति चैकं फलमस्य गृध्रा ग्रामेचरा एकमरण्यवासाः।
हंसा य एकं बहुरूपमिज्यैर्मायामयं वेद स वेद वेदम्॥३३॥

(लौकिक व्यवहारमें रत) कामी पुरुषगण इस संसारवृक्षके दुःखरूपी एक फलका सेवन करते हैं। इसके सुखरूप निवृत्ति नामक दूसरे फलका वनमें रहनेवाले संन्यासीगण आस्वादन करते हैं। इस संसाररूपी वृक्षमें गुप्त भावसे और भी एक फल लगता है; जो मैं स्वयं हूँ। क्षीर-नीरके विचार करनेमें चतुर (दूधका दूध और पानीका पानी अर्थात् सत् और असत्में अन्तर देख पानेमें निपुण) राजहंसकी भाँति जीव गुरुदेवकी कृपासे एक होनेपर भी बहुत रूपोंमें प्रकाशित मुझे जान पाता है। संसाररूपी वृक्षको जो मायामयके रूपमें जानता है, केवलमात्र वही वेदोंके यथार्थ तात्पर्यसे अवगत है॥३३॥

एवं गुरूपासनयैकभक्त्या विद्याकुठारेण शितेन धीरः।
विवृश्च्य जीवाशयमप्रमत्तः सम्पद्य चात्मानमथ त्यजास्त्रम्॥३४॥

इस प्रकार सद्गुरुकी उपासनारूप भक्तिके द्वारा धीर पुरुष विद्यारूपी कुठारके द्वारा जीवाशय अर्थात् लिङ्गशरीरका छेदन

करके आत्मसम्पत्ति प्राप्तकर उस ज्ञानरूप कुठारका भी त्याग करनेपर पराभक्ति प्राप्त करेंगे॥३४॥

(श्रीमद्भा. ११/११/५-७)

अथ बद्धस्य मुक्तस्य वैलक्षण्यं वदामि ते।
विरुद्धधर्मिणोस्तात स्थितयोरेकधर्मिणि॥३५॥

अब एक ही धर्ममें स्थित अर्थात् एक ही संसाररूपी वृक्षके ऊपर वास करनेपर भी परस्पर विरुद्ध धर्मवाले दो प्रकारके व्यक्तियों अर्थात् बद्ध तथा मुक्त जनोंका भेद बतला रहा हूँ॥३५॥

सुपर्णावेतौ सदृशौ सखायौ
यदृच्छयैतौ कृतनीडौ च वृक्षे।
एकस्तयोः खादति पिप्पलान्न-
मन्यो निरन्नोऽपि बलेन भूयान्॥३६॥

इस संसाररूपी वृक्षमें आकस्मिक संयोगसे (बाहरी दृष्टिमें) परस्पर एक जैसे स्वभाववाले सखारूपी दो पक्षी वास करते हैं। उनमेंसे एक पक्षी इस पीपल वृक्षके फलका भक्षण करता है और दूसरा पक्षी इस वृक्षके फलका भक्षण न करनेपर भी अपने बलसे ही बलवान रहता है॥३६॥

आत्मानमन्यं च स वेद विद्वा-
नपिप्पलादो न तु पिप्पलादः।
योऽविद्यया युक् स तु नित्यबद्धो
विद्यामयो यः स तु नित्यमुक्तः॥३७॥

पीपलवृक्षके[१] फलको न खानेवाला विद्वान पक्षी (परमात्मा) स्वयंको तथा दूसरे पक्षी (आत्मा) को भी जानता है। परन्तु पीपल वृक्षके फलको खानेवाला पक्षी (आत्मा) न तो स्वयं (अर्थात् आत्मतत्त्वके विषय) को और न ही दूसरे पक्षी

---

[१] संसाररूपी वृक्षकी तुलना पीपलके वृक्षसे की गयी है।

(परमात्मा) को जानता है। पीपल वृक्षका फल खानेवाला पक्षी (आत्मा) अविद्यायुक्त होनेके कारण अनादि बद्ध है और उस फलको नहीं खानेवाला (परमात्मा) विद्यामय है, इसलिए नित्यमुक्त है। उस फलको नहीं खानेवाले पक्षी (परमात्मा) को तथा स्वयं (आत्मतत्त्व) को जाननेसे पीपलफल खानेवाला पक्षी (आत्मा) भी विद्यासे युक्त होकर मुक्त हो जाता है और अब उसे पीपलका फल कभी भी नहीं खाना पड़ता॥३७॥

श्रीमद्भा. ४/२९/४९ में श्रीनारद विद्याकी परिभाषा देते हुए प्राचीनबर्हि राजासे कहते हैं—

तत्कर्म हरितोषं यत् सा विद्या तन्मतिर्यया॥३८॥

हरि-तोषण कर्म ही कर्म है तथा जिस विद्याके द्वारा हरिमें मति लगती है, उसीका नाम विद्या है॥३८॥

श्रीमद्भा. ३/९/६ में श्रीब्रह्मा भगवान्‌से कहते हैं—

तावद्भयं द्रविणदेहसुहृन्निमित्तं
शोकः स्पृहा परिभवो विपुलश्च लोभः।
तावन्ममेत्यसदवग्रह आर्तिमूलं
यावन्न तेऽङ्घ्रिमभयं प्रवृणीत लोकः॥३९॥

हे प्रभो! जब तक जीव आपके अभयप्रद चरणारविन्दोंका आश्रय ग्रहण नहीं करता, तभी तक उसे धन, घर, शरीर तथा बन्धु-बान्धवोंकी रक्षाके निमित्त भय होता है और इसी कारण ही उसे शोक, स्पृहा, आसक्ति तथा विपुल लोभ होता है तथा उसका सारे दुःखोंका मूल कारण स्वरूप मैं और मेरा नामक असत् आग्रह दूर नहीं होता॥३९॥

श्रीमद्भा. ४/९/९ में महाराज ध्रुव भगवान्‌से कहते हैं—

नूनं विमुष्टमतयस्तव मायया ते
ये त्वां भवाप्ययविमोक्षणमन्यहेतोः।

अर्चन्ति कल्पकतरुं कुणपोपभोग्य-
मिच्छन्ति यत्स्पर्शजं नरकेऽपि नृणाम्॥४०॥

हे प्रभो! आप जन्म-मरणके बन्धनसे छुड़ा देनेवाले कल्पतरु हैं। जो अन्य तुच्छ-फलोंकी प्राप्तिके लिए आपकी उपासना करते हैं, निश्चय ही उनकी बुद्धि आपकी मायासे ठगी गयी है। जिन वस्तुओंकी प्राप्ति नरकमें भी हो सकती है, वे सुदुर्लभ मनुष्य शरीरको प्राप्त करके भी शवतुल्य शरीरोंके द्वारा भोगा जानेवाला इन्द्रिय और विषयोंके संसर्गसे उत्पन्न सुखरूपी उस फलको प्राप्त करनेकी इच्छा करते हैं॥४०॥

(श्रीमद्भा. ४/९/७)

एकस्त्वमेव भगवन्निदमात्मशक्त्या
मायाख्योरुगुणया महदाद्यशेषम्।
सृष्ट्वानुविश्य पुरुषस्तदसद्गुणेषु
नानेव दारुषु विभावसुवद्विभासि॥४१॥

अलग-अलग प्रकारकी लकड़ियोंमेंसे एक ही अग्नि जिस प्रकार अनेक रूपोंमें प्रकाशित होती है, उसी प्रकार हे श्रीकृष्ण! आप (अनेक रूपोंमें प्रकाशित होनेपर भी) एक ही हैं। हे भगवन्! आप अपनी विचित्र गुणशलिनी मायाशक्ति द्वारा महत्-तत्त्व आदि अशेष तत्त्वोंमें अन्तर्यामी रूपमें प्रवेशकर उन-उन वस्तुओंके असत् गुणोंमें, नाना रूपमें, अवतारलीलामें प्रकाशित होते रहते हैं। आप नित्य सत्य हैं, किन्तु देखनेवाले अपने असत्-चक्षुओंके द्वारा आपको देव-तिर्यक् रूपमें देखते हैं॥४१॥

(श्रीमद्भा. ४/९/६)

योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां
संजीवयत्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना।
अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणत्वगादीन्
प्राणान्नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम्॥४२॥

भावानुवाद—मेरे अन्तःकरणमें प्रवेशकर जिस अखिल शक्तिधरने अपनी चित्-शक्तिसे मेरे प्रसुप्त हाथ, पैर, त्वचा, प्राण और वाक्य आदिको संजीवित किया है, उसी पुरुषरूपी भगवान् आपको मैं नमस्कार करता हूँ॥४२॥

श्रीमद्भा. ६/४/३३ में दक्ष प्रजापति कहते हैं—

योऽनुग्रहार्थं भजतां पादमूलमनामरूपो भगवाननन्तः।
नामानि रूपाणि च जन्मकर्मभिर्भेजे स मह्यं परमः प्रसीदतु॥४३॥

इति श्रीमद्भागवतार्कमरीचिमालायां सम्बन्धज्ञानप्रकरणे मायाबद्धजीवलक्षणं नाम अष्टमः किरणः।

जो अपने श्रीचरणकमलका भजन करनेवालोंके प्रति अनुग्रह करनेके अभिप्रायसे अनाम, अरूप, अनन्तरूपी, परमात्मा, भगवान् होनेपर भी अपनी चित्त्-शक्तिके माध्यमसे जड़जगत्में अनेक नामोंसे, अनेक रूपोंमें प्रकट होकर, अनेक प्रकारकी लीलाएँ करते हैं, वे परमपुरुष श्रीकृष्ण! मेरे प्रति प्रसन्न हों॥४३॥

अष्टम किरणकी 'मरीचिप्रभा' नामक गौड़ीय व्याख्याका भावानुवाद समाप्त॥

नवम किरण

सौभाग्यशाली जीवके लक्षण

जीवान् कृष्णोन्मुखान् कृत्वा कीर्त्तनानन्दवर्षणात्।
गौड़भूमौ ननर्तास्मिन् नित्यानन्दप्रभुं भजे॥

मैं उन श्रीनित्यानन्द प्रभुका भजन करता हूँ, जिन्होंने गौड़देशमें भगवान् श्रीहरिके कीर्त्तनरूपी आनन्दामृतकी वर्षासे जीवोंको कृष्णोन्मुख बनाकर नृत्य किया था।

श्रीकृष्णचैतन्यचन्द्राय नमः

श्रीमद्भा. १०/१४/२८ में श्रीब्रह्मा श्रीकृष्णसे कहने लगे—

अन्तर्भवेऽनन्त भवन्तमेव ह्यतत्त्यजन्तो मृगयन्ति सन्तः।
असन्तमप्यन्त्यहिमन्तरेण सन्तं गुणं तं किमु यन्ति सन्तः॥१॥

जिस प्रकार एक रस्सीके टुकड़ेको साँप समझनेसे भय होता है। जब तक व्यक्ति यह न समझ जाये कि यह साँप नहीं, बल्कि रस्सीका टुकड़ा है, तब तक वह भयका परित्याग कैसे कर सकता है? उसी प्रकार इस जड़देहमें आत्माभिमान करना भी स्वरूप भ्रम है, जब तक व्यक्ति यह न समझ जायें कि यह शरीर आत्मा (चेतन वस्तु) नहीं, बल्कि जड़ है, तब तक उसका यह विवर्त्तरूपी अनर्थ कैसे दूर हो सकता है? इसलिए उसे दूर करनेके लिए सर्वप्रथम इस विवर्त्तरूपी अनर्थके विषयमें जानना आवश्यक है। हे अनन्त! इस संसारमें जिनका जड़देहमें आत्माभिमानरूपी अनर्थ नष्ट हो चुका है, वे साधुपुरुष अन्यान्य सभी वस्तुओंका परित्यागकर केवलमात्र आपके चरण-कमलोंका अनुसन्धान करते हैं॥१॥

श्रीमद्भा. ३/३१/४६ में श्रीकपिल मुनि देवहूतिसे कह रहे हैं—

तस्मान्न कार्यः संत्रासो न कार्पण्यं न सम्भ्रमः।
बुद्ध्वा जीवगतिं धीरो मुक्तसङ्गश्चरेदिह॥२॥

धीर व्यक्ति भय, कार्पण्य और सम्भ्रमका परित्याग करके विशेष उत्साहके साथ जीवकी गतिसे अवगत होकर मायामय संसारमें अनासक्त भावसे विचरण करेंगे। जब तक आसक्ति रहेगी, तब तक मायासे मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। अतः सर्वप्रथम अति उत्साहके साथ आसक्तिका त्याग करना चाहिये॥२॥

श्रीमद्भा. ४/२४/२९ में श्रीरुद्र प्रचेताओंसे कहने लगे—

स्वधर्मनिष्ठः शतजन्मभिः पुमान् विरिञ्चतामेति ततः परं हि माम्।
अव्याकृतं भागवतोऽथ वैष्णवं पदं यथाहं विबुधाः कलात्यये॥३॥

वर्णाश्रमरूप स्वधर्मनिष्ठ पुरुष सौ जन्मोंके बाद ब्रह्माका पद प्राप्त करते हैं, यदि और अधिक पुण्याचरण हो तो वे मुझे अर्थात् मेरे रुद्रपदको प्राप्त करते हैं। किन्तु अनन्यभक्तोंको इस प्रकारके उत्क्रान्ति-चक्र (आरोहपथ) में प्रवेश नहीं करना पड़ता, वे तो साक्षात् प्रपञ्चातीत वैष्णवपदको प्राप्त करते हैं। मैं महादेव और अन्य देवतागण अपने-अपने आधिकारिक कालके समाप्त होनेपर लिङ्गदेहके भङ्ग होनेपर वैष्णव पद प्राप्त करेंगे॥३॥

श्रीमद्भा. ३/२५/४१ में भगवान् कपिलदेव माता देवहूतिसे कहते हैं—

नान्यत्र मद्भगवतः प्रधानपुरुषेश्वरात्।
आत्मनः सर्वभूतानां भयं तीव्रं निवर्तते॥४॥

मैं प्रधान (जड़ प्रकृति अर्थात् सभी सांसारिक वस्तुओं) और जीवरूपी पुरुषका नियन्ता हूँ। मैं साक्षात् भगवान् हूँ तथा समस्त प्राणियोंकी आत्मा हूँ। मेरे अतिरिक्त और किसीका आश्रय लेनेसे मृत्युरूपी महाभयसे छुटकारा नहीं मिल सकता॥४॥

श्रीमद्भा. ११/११/१२-१७ में भगवान् श्रीकृष्ण उद्धवसे कहते हैं—

प्रकृतिस्थोऽप्यसंसक्तो यथा खं सवितानिलः॥५क॥

वैशारद्येक्षयासङ्गशितया छिन्नसंशयः।
प्रतिबुद्ध इव स्वप्नान्नानात्वाद्विनिवर्तते॥५ख॥

जिस प्रकार आकाश, सूर्य तथा वायु अन्य द्रव्योंसे मिश्रित होनेपर भी मिश्रित नहीं होते, उसी प्रकार प्रकृतिमें रहते हुए भी अनासक्त व्यक्ति वैशारदी (निपुण) विचारके द्वारा असङ्गरूप (वैराग्यरूप) तीक्ष्ण अस्त्रसे सब प्रकारके संशयोंको छिन्न करके स्वप्नसे जगे हुए व्यक्तिकी भाँति नानात्वका परित्याग करते हैं अर्थात् "मैं चित्कण जीव तथा कृष्णदास हूँ", इसे जानकर जड़से सम्बन्ध त्याग देते हैं॥५॥

यस्य स्युर्वीतसङ्कल्पाः प्राणेन्द्रियमनोधियाम्।
वृत्तयः स विनिर्मुक्तो वै देहस्थोऽपि हि तद्गुणैः॥६॥

जिनके प्राण, इन्द्रिय, मन और बुद्धिकी समस्त वृत्तियाँ (वासनाएँ) संकल्परहित अर्थात् जड़लालसासे शून्य होती हैं, वे देहस्थ होकर भी जड़ (अर्थात् गुण तथा उससे प्रेरित वासनाओं तथा लालसाओं) से मुक्त होते हैं॥६॥

यस्यात्मा हिंस्यते हिंस्रैर्येन किंचिद् यदृच्छया।
अर्च्यते वा क्वचित्तत्र न व्यतिक्रियते बुधः॥७॥

कभी किसी हिंसक व्यक्तिके द्वारा देह पीड़ित किये जानेपर या यदृच्छाक्रमसे कभी किसीके द्वारा चन्दनादिसे अर्चन-पूजन किये जानेपर—इन दोनों प्रकारकी क्रियाओंके द्वारा जिनमें कोई विकार नहीं आता, वे ही मुक्त महापुरुषके लक्षणोंसे युक्त सज्जन पुरुष हैं॥७॥

न स्तुवीत न निन्देत कुर्वतः साध्वसाधु वा।
वदतो गुणदोषाभ्यां वर्जितः समदृङ्मुनिः॥८॥

वे ही मुनि तथा समदर्शी हैं, जो दूसरोंके द्वारा साधु व असाधु व्यवहार किये जानेपर अथवा उनके द्वारा साधु या असाधु वचन कहनेपर भी स्वयं गुण दोषसे ऊपर उठकर न तो उनकी स्तुति करते हैं और न ही निन्दा करते हैं॥८॥

न कुर्यान्न वदेत् किंचिन्न ध्यायेत् साध्वसाधु वा।
आत्मारामोऽनया वृत्त्या विचरेज्जडवन्मुनिः॥९॥

वे साधु व असाधु विषयक न तो कोई कार्य करते हैं, न बोलते हैं और न ही चिन्तन करते हैं। स्वयं आत्मरति प्राप्त करके निर्गुण वृत्ति द्वारा इस जड़ अर्थात् अचेतन पदार्थके समान मौन भावसे विचरण करते हैं॥९॥

श्रीमद्भा. ३/७/१७–२० में श्रीविदुर मैत्रेयसे कहते हैं—

यश्च मूढतमो लोके यश्च बुद्धेः परं गतः।
तावुभौ सुखमेधेते क्लिश्यत्यन्तरितो जनः॥१०॥

जो किसी भी प्रकारके ज्ञानका अनुसन्धान न करके स्वाभाविक (अर्थात् राग) भक्तिका अवलम्बन करते हैं तथा जो सम्बन्धज्ञानके विषयको भलीभाँति समझ–बूझकर (वैधी) भक्ति करते हैं, ऐसे दोनों प्रकारके लोग ही सुख प्राप्त करते हैं। केवल इन दोनोंके बीचकी श्रेणीके संशयापन्न लोग ही दृढ़ श्रद्धा और अपार ज्ञानके अभावमें क्लेश पाते हैं॥१०॥

अर्थाभावं विनिश्चित्य प्रतीतस्यापि नात्मनः।
ताञ्चापि युष्मच्चरणसेवयाहं पराणुदे॥११॥

ईश्वरके निकट इस प्रकारका मनोभाव (प्रार्थना) प्रकाशित करना चाहिये—हे श्रीकृष्ण! यह प्रापञ्चिक जगत् मेरा विरोधी है, अतएव इस जगत्से मेरा कोई लेना–देना नहीं है, तथापि जड़देहकी अवस्थिति पर्यन्त जो थोड़ा–बहुत सम्बन्ध रहता है, मैं आपके चरणोंकी सेवाके प्रभावसे उसे भी दूर कर दूँगा॥११॥

यत्सेवया भगवतः कूटस्थस्य मधुद्विषः।
रतिरासो भवेत् तीव्रः पादयोर्व्यसनार्दनः॥१२॥

प्रपञ्चातीत भगवान् श्रीकृष्णकी सेवा द्वारा उनके श्रीचरणकमलोंमें तीव्र रतिरास (शान्त, दास्यादि रस) उदित होता है॥१२॥

दुरापा ह्यल्पतपसः सेवा वैकुण्ठवर्त्मसु।
यत्रोपगीयते नित्यं देवदेवो जनार्दनः॥१३॥

जो सदा–सर्वदा भगवान् श्रीकृष्णके नाम–रूप–गुण–लीला आदिका कीर्त्तन करते हैं, ऐसे वैकुण्ठ–वर्त्म अर्थात् वैकुण्ठ प्राप्तिके पथस्वरूप महत् पुरुषोंकी सेवा अल्प तप करनेवाले व्यक्तिके लिए अप्राप्य है॥१३॥

श्रीमद्भा. ३/२५/३८ में भगवान् कपिलदेव माता देवहूतिसे कहते हैं—

न कर्हिचिन्मत्पराः शान्तरूपे नङ्क्ष्यन्ति नो मेऽनिमिषो लेढि हेतिः।
येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च सखा गुरुः सुहृदो दैवमिष्टम्॥१४॥

हे शान्तरूपे! मेरे भक्तोंका कभी विनाश नहीं होता। मेरा अक्षुण्ण कालचक्र उन्हें ग्रास नहीं करता। वे लोग मुझे प्रिय–आत्मा, पुत्र, सखा, गुरु, सुहृत्, परदेवता तथा इष्टधन समझकर रसमार्ग (रागमार्ग) से भजन करते हैं तथा मैं भी उनके उस–उस रसका विषय बनकर उनके सम्मुख प्रत्यक्ष होता हूँ॥१४॥

(श्रीमद्भा. ३/२८/४२)

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षेतानन्यभावेन भूतेष्विव तदात्मताम्॥१५॥

मेरे भक्तजन सब प्राणियोंमें आत्मस्वरूप मुझे तथा समस्त प्राणियोंको मुझमें ही अनन्य भावसे दर्शन करते हैं। इसलिए वे सब प्राणियोंमें मदात्मक अर्थात् सभी प्राणी भगवान्‌के ही अंश हैं, ऐसी दृष्टिसे युक्त होकर सभी प्राणियोंके प्रति दया करनेमें प्रवृत्त होते हैं॥१५॥

(श्रीमद्भा. ३/२८/४४)

तस्मादिमां स्वां प्रकृतिं दैवीं सदसदात्मिकाम्।
दुर्विभाव्यां पराभाव्य स्वरूपेणावतिष्ठते॥१६॥

अतएव भक्तजन भक्तियोग द्वारा मेरी इस माया–प्रकृतिको सदसदात्मिका (कार्य–कारण स्वरूपवाली) दुर्विभाव्या (दुरत्यया) दैवी प्रकृति जानकर उससे क्रमशः पृथक् होते हैं और मेरे अनुगत अणु चैतन्यस्वरूपमें अर्थात् अपने वास्तविक स्वरूपमें दृढ़तापूर्वक अवस्थान करते हैं॥१६॥

(श्रीमद्भा. ३/२५/२७)

असेवयायं प्रकृतेर्गुणानां ज्ञानेन वैराग्यविजृम्भितेन।
योगेन मय्यर्पितया च भक्त्या मां प्रत्यगात्मानमिहावरुन्धे॥१७॥

ज्ञान–वैराग्यसे वर्द्धित योग तथा अनन्य भक्तिकी सेवा और प्रकृतिके तीनों गुणोंकी असेवाके द्वारा मेरा भक्त प्रत्यक्–आत्मस्वरूप (सर्वज्ञ परमात्मस्वरूप) मुझे आबद्ध कर लेता है॥१७॥

श्रीमद्भा. ११/११/८–९ में भगवान् श्रीकृष्ण उद्धवसे कहते हैं—

देहस्थोऽपि न देहस्थो विद्वान् स्वप्नाद् यथोत्थितः।
अदेहस्थोऽपि देहस्थः कुमतिः स्वप्नदृग्यथा॥१८॥

तत्त्वज्ञानी पुरुष (संस्कारवशतः) देहस्थ होनेपर भी स्वप्नसे उठे व्यक्तिकी भाँति अदेहस्थ (देहसे कोई सम्बन्ध न रखनेवाले) ही रहते हैं और मूढ़ व्यक्ति (स्वरूपतः) अदेहस्थ होनेपर भी स्वप्न द्रष्टाके समान देहस्थ ही रहते हैं॥१८॥

इन्द्रियैरिन्द्रियार्थेषु गुणैरपि गुणेषु च।
गृह्यमाणेष्वहं कुर्यान्न विद्वान् यस्त्वविक्रियः॥१९॥

विद्वान पुरुष गुणजात इन्द्रियों द्वारा गुणजात विषयोंको ग्रहण करनेपर भी अविक्रिय भावसे रहते हैं अर्थात् उनसे निर्लिप्त रहते हैं। वे जड़शरीरमें मैं और मेरेपनका अभिमान नहीं करते॥१९॥

श्रीमद्भा. ११/११/११ में कहा गया है—

एवं विरक्तः शयन आसनाटनमज्जने।
दर्शनस्पर्शनघ्राणभोजनश्रवणादिषु।
न तथा बद्ध्यते विद्वांस्तत्र तत्रादयन् गुणान्॥२०॥

विद्वान पुरुष शयन, आसन, भ्रमण, स्नान, दर्शन, घ्राण, भोजन और श्रवणादि क्रिया करते–करते विरक्तिपूर्वक इन सब गुणोंको ग्रहण करके भी उनमें बद्ध नहीं होते॥२०॥

श्रीमद्भा. २/२/३३-३४ में श्रीशुकदेव गोस्वामी महाराज परीक्षित्से कहते हैं—

न ह्यतोऽन्यः शिवः पन्था विशतः संसृताविह।
वासुदेवे भगवति भक्तियोगो यतो भवेत्॥२१॥

भक्तिपथका आश्रय करनेपर ऐसे युक्तवैराग्यका अवलम्बन ही मायासे मुक्त होनेका कारण बनता है। इसलिए संसारमें प्रविष्ट व्यक्तियोंके लिए जिससे (अर्थात् जिन वृत्तियोंसे) भगवान् वासुदेवमें भक्तियोग हो, उसका आश्रय करनेके अतिरिक्त अन्य कोई मङ्गल पथ (श्रेय पथ) नहीं है॥२१॥

भगवान् ब्रह्म कार्त्स्न्येन त्रिरन्वीक्ष्य मनीषया।
तदध्यवस्यत् कूटस्थो रतिरात्मन् यतो भवेत्॥२२॥

भगवान् ब्रह्माने वेदत्रय अर्थात् ऋक्, यजुः और सामवेदको विशेष यत्नके साथ बुद्धि द्वारा आलोचना करके यह सिद्धान्त स्थिर किया कि आत्मतत्त्वरूप श्रीकृष्णमें अप्राकृत रतिको उत्पन्न करानेवाला धर्म (भक्ति) ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है॥२२॥

(श्रीमद्भा. २/२/३७)

पिबन्ति ये भगवत आत्मनः सतां
कथामृतं श्रवणपुटेषु सम्भृतम्।
पुनन्ति ते विषयविदूषिताशयं
व्रजन्ति तच्चरणसरोरुहान्तिकम्॥२३॥

जो लोग आत्मस्वरूप (आत्माके प्रकाशक) भगवान्के शुद्ध भक्त हैं, वे श्रवणेन्द्रिय द्वारा कृष्णकथामृतका पान करते हैं। इसके द्वारा वे अपने विषय द्वारा विदूषित आशय (अन्तःकरण) को पवित्र करते हुए क्रमशः भगवान्के श्रीचरणकमलोंके प्रति अग्रसर होते हैं॥२३॥

अब सद्गुरुका चरणाश्रय ग्रहण करना नितान्त आवश्यक है। जैसा कि श्रीमद्भा. १०/८७/३३ में श्रुतियाँ भगवान्से कहती हैं—

विजितहृषीकवायुभिरदान्तमनस्तुरगं
य इह यतन्ति यन्तु मतिलोलमुपायखिदः।
व्यसनशतान्विताः समवहाय गुरोश्चरणं
वणिज इवाज सन्त्यकृतकर्णधरा जलधौ॥२४॥

हे अज! जो प्राणायामके बलपर जितेन्द्रिय अर्थात् इन्द्रियों तथा प्राणोंको जय करनेके उपरान्त सद्गुरु चरणाश्रयके बिना ही अदान्त (उच्छृङ्खल), अतिचञ्चल मनरूपी घोड़ेको नियमित करनेकी चेष्टा करते हैं, वे सैकड़ों प्रकारके उत्पातोंमें पतित होकर उसी प्रकार निरुपाय हो जाते हैं, जिस प्रकार समुद्रमें बिना कर्णधारके नावपर चलनेवाले व्यापारीको बहुत कष्ट उठाना पड़ता है॥२४॥

श्रीमद्भा. ३/२५/३३ में श्रीकपिलदेव भक्तिकी शक्तिकी व्याख्या करते हुए कहते हैं—

जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा॥२५॥

जिस प्रकार जठरानल खाये हुए अन्नको अनायास ही पचा देता है, उसी प्रकार भक्ति लिङ्गशरीरको शीघ्र ही भस्म कर देती है। अन्य किसी भी उपायसे ऐसा सम्भव नहीं है॥२५॥

(श्रीमद्भा. ३/२५/४४)

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां निःश्रेयसोदयः।
तीव्रेण भक्तियोगेन मनो मय्यर्पितं स्थिरम्॥२६॥

यह निश्चित जानो कि तीव्र भक्तियोगके द्वारा मुझ श्रीकृष्णमें दृढ़तासे अपने चित्तको अर्पण करना ही इस लोकमें जीवोंके लिए सब प्रकारसे मङ्गलजनक है॥२६॥

अनन्य विष्णुभक्ति ही जीवके लिए एकमात्र श्रेयस्कर है, इसलिए श्रीविष्णुभक्ति ही निर्दिष्ट हुई है। इसी विषयका श्रीमद्भा. १/२/२३-२९ में वर्णन करते हुए श्रीसूतगोस्वामी कहते हैं—

सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणा–
स्तैर्युक्तः परः पुरुष एक इहास्य धत्ते।
स्थित्यादये हरिविरिञ्चिहरेति संज्ञाः
श्रेयांसि तत्र खलु सत्त्वतनोर्नृणां स्युः॥२७॥

हे शौनकादि ऋषियो! सत्त्व, रज और तम—ये तीन प्रकृतिके गुण हैं। प्रकृतिके इन तीनों गुणोंसे युक्त होकर, पुरुषावतार परपुरुष विष्णु इस जगत्‌के पालन, उत्पत्ति और प्रलयके निमित्त क्रमशः हरि (विष्णु), विरञ्चि (ब्रह्मा) और हर (शिव)—ये तीन नाम धारण करते हैं। हर तथा विरञ्चि विभिन्नांश तथा हरि (विष्णु) स्वांश कहलाते हैं। इन तीनोंके बीचमें सत्त्वतनु हरिसे ही जीवका परम कल्याण उदित होता है॥२७॥

पार्थिवाद्दारुणो धूमस्तस्मादग्निस्त्रयीमयः।
तमसस्तु रजस्तस्मात्सत्त्वं यद्ब्रह्मदर्शनम्॥२८॥

जिस प्रकार पृथ्वीके विकार काष्ठकी अपेक्षा धुआँ श्रेष्ठ है और धुएँसे भी श्रेष्ठ है त्रयीमय[१] अग्नि। वैसे ही संसार-कार्य निर्वाह करनेमें सत्वगुणकी तुलना अग्निसे, रजोगुणकी तुलना धूम (धुएँ) से और तमोगुणकी तुलना काष्ठसे की गयी है। तमोगुणसे रजोगुण और रजोगुणसे भी सत्त्वगुण श्रेष्ठ है; क्योंकि वह भगवान्‌का दर्शन करानेवाला है। तमोगुण अधिष्ठित भूतपति रुद्रकी अपेक्षा रजोगुण अधिष्ठित ब्रह्मा वरणीय हैं। इन दोनोंकी अपेक्षा सत्त्वगुण अधिष्ठित विष्णु वरणीय हैं। सत्त्वरूप ब्रह्मा शुद्ध सत्त्वरूप विष्णुमें लक्षित होते हैं क्योंकि विष्णु ही ब्रह्मा हैं। सत्त्वमें अवस्थित साधक ही शुद्धसत्त्वको प्राप्त होते हैं॥२८॥

भेजिरे मुनयोऽथाग्रे भगवन्तमधोक्षजम्।
सत्त्वं विशुद्धं क्षेमाय कल्पन्ते येऽनु तानिह॥२९॥

---

[१] यज्ञमें प्रयोग होनेवाली शुद्ध अग्नि।

प्राचीन कालसे ही मुनिगण मङ्गल प्राप्त करनेके लिए अधोक्षज भगवान् विशुद्ध सत्त्वरूप विष्णुका भजन करते आ रहे हैं। उनके अनुगत समस्त सभ्य व्यक्ति श्रीविष्णुकी ही आराधना करते हैं॥२९॥

मुमुक्षवो घोररूपान् हित्वा भूतपतीनथ।
नारायणकलाः शान्ता भजन्ति ह्यनसूयवः॥३०॥

मुमुक्षु जीवमात्र ही भयङ्कर आकृतिवाले पितृ, भूत और प्रजापति आदिकी पूजाका परित्याग करके श्रीनारायणके स्वांश कलावतारोंका ही भजन करते हैं। अन्यान्य देवताओंके प्रति द्वेष न करते हुए विष्णुका भजन करना चाहिये॥३०॥

रजस्तमः प्रकृतयः समशीला भजन्ति वै।
पितृभूतप्रजेशादीन् श्रियैश्वर्यप्रजेप्सवः॥३१॥

यदि कहें कि फिर बहुत-से लोग पितृपुरुषों, भूतपतियों और प्रजापतियोंकी आराधना क्यों करते हैं? तो इसका उत्तर है कि—वे मुमुक्षु ही नहीं हैं। श्री, ऐश्वर्य, सन्तान आदिकी प्राप्तिकी कामनासे वे इन सब पृथक्-पृथक् देवताओंकी पूजा करते हैं। इसका भी कारण यह है कि जो सारे व्यक्ति रज-तम स्वभावके हैं, वे अपने स्वभावके अनुसार; समशील (अर्थात् अपने स्वभावसे मिलते-जुलते) देवताओंका ही भजन करते हैं। यह तो स्वाभाविक है। जीव जब सात्त्विक होता है, तब वह भगवान् विष्णुके अतिरिक्त अन्य किसी देवताका भजन नहीं करता॥३१॥

वासुदेवपरा वेदा वासुदेवपरा मखाः।
वासुदेवपरा योगा वासुदेवपराः क्रियाः॥३२॥

वासुदेवपरं ज्ञानं वासुदेवपरं तपः।
वासुदेवपरो धर्मो वासुदेवपरा गतिः॥३३॥

देखो, समस्त वेद वासुदेव-विष्णुपरायण हैं, समस्त यज्ञ वासुदेवपरायण हैं, समस्त योग ही वासुदेवपरायण हैं, समस्त कर्म वासुदेवपरायण हैं, ज्ञान वासुदेवपरायण हैं, तपस्या वासुदेवपरायण है, धर्म वासुदेवपरायण है और गति भी वासुदेवपरायण है॥३२-३३॥

श्रीमद्भा. ४/२४/२८ में रुद्र प्रचेताओंसे कहते हैं—

यः परं रंहसः साक्षात् त्रिगुणाज्जीव संज्ञितात्।
भगवन्तं वासुदेवं प्रपन्नः स प्रियो हि मे॥३४॥

सूक्ष्म त्रिलिङ्ग जीवसंज्ञित अर्थात् विभिन्नांश नामक बद्धजीवरूप देवताओंकी अपेक्षा जो परतत्त्वस्वरूप भगवान् वासुदेवके शरणागत है, वह मेरा प्रिय है॥३४॥

श्रीमद्भा. १०/१६/४३-४४ में नागपत्नियाँ भगवान् श्रीकृष्णसे प्रार्थना करती हैं—

नमोऽनन्ताय सूक्ष्माय कूटस्थाय विपश्चिते।
नानावादानुरोधाय वाच्यवाचकशक्तये॥३५॥

अनन्त, सूक्ष्म, शाश्वत, सर्वज्ञ, नाना प्रकारके मतवादियोंके वाद-विवादोंके स्थल, वाच्य-वाचक-शक्तियुक्त उस परमेश्वरको मैं नमस्कार करती हूँ। वाचक-ब्रह्मनाम तथा वाच्य-ब्रह्म-स्वरूप श्रीकृष्ण ही हैं। वेद और कृष्णनामको ही कृष्णका वाचक बतलाया गया है। अतएव कृष्ण और कृष्णनाममें भेद नहीं है॥३५॥

नमः प्रमाणमूलाय कवये शास्त्रयोनये।
प्रवृत्ताय निवृत्ताय निगमाय नमो नमः॥३६॥

इति श्रीमद्भागवतार्कमरीचिमालायां सम्बन्धज्ञानप्रकरणे
मुक्त्युन्मुखजीवलक्षणं नाम नवमः किरणः॥

प्रमाणमूल (सभी प्रमाणोंके मूल श्रीमद्भागवत-स्वरूप), शास्त्रयोनि (समस्त वैदिक शास्त्रोंके उत्पत्तिस्थान अथवा प्रवर्त्तक), प्रवृत्तिस्वरूप तथा निवृत्तिस्वरूप शास्त्र, निगमस्वरूप (प्रवृत्ति तथा निवृत्तिमूलक शास्त्रोंके मूलशास्त्र स्वरूप) ईश्वरको मैं नमस्कार करतीं हूँ॥३६॥

नवम किरणकी 'मरीचिप्रभा' नामक गौड़ीय-व्याख्याका भावानुवाद समाप्त॥

दशम किरण

शक्ति परिणामवाद पर आधारित

अचिन्त्य-भेदाभेदतत्त्वके लक्षण

भेदाभेदमचिन्त्यं यन्मतवादनिवर्तनम्।
गौराज्ञयोद्धृतं येन नौमि गोपालभट्टकम्॥

मैं उन श्रीगोपालभट्ट गोस्वामीके श्रीचरणकमलोंमें प्रणाम करता हूँ, जिनके द्वारा श्रीगौराङ्ग महाप्रभुकी आज्ञानुसार अन्यान्य मतवादोंका खण्डन करनेवाले अचिन्त्य-भेदाभेद नामक तत्त्वका संग्रह हुआ है।

श्रीकृष्णचैतन्यचन्द्राय नमः

श्रीमद्भा. ३/४/१३ में श्रीभगवान्ने उद्धवसे कहा—

पुरा मया प्रोक्तमजाय नाभ्ये पद्मे निषण्णाय ममादिसर्गे।
ज्ञानं परं मन्महिमावभासं यत्सूरयो भागवतं वदन्ति॥१॥

पूर्वकालमें पाद्मकल्पके आरम्भमें मैंने अपने नाभिकमलपर बैठे हुए ब्रह्माको अपनी महिमाप्रकाशक परमज्ञानका उपदेश किया था, वही ज्ञान मैंने तुम्हें बतलाया है। पण्डितगण इसीको ही 'भागवत' कहते हैं। चतुःश्लोकीमें जो शक्ति-परिणामात्मक अचिन्त्य-भेदाभेद सिद्धान्त वर्णित हुआ है, वही श्रीमद्भागवत है॥१॥

अद्वयज्ञान ही परमतत्त्व है। श्रीमद्भा. २/९/३०-३५ में इसका निरूपण करते हुए श्रीभगवान्ने ब्रह्मासे कहा—

ज्ञानं परमगुह्यं मे यद्विज्ञानसमन्वितम्।
सरहस्यं तदङ्गं च गृहाण गदितं मया॥२॥

हे ब्रह्मन्! मेरा ज्ञान अद्वय तथा परम गुह्य है। वह अद्वय होनेपर भी नित्य ही चार प्रकारके भेदसे युक्त है—ज्ञान, विज्ञान, रहस्य और तदङ्ग। इसे जीव अपनी बुद्धिके द्वारा नहीं समझ सकता, अतएव तुम मेरी कृपासे इनका अनुभव करो। ज्ञान मेरा स्वरूप है[१], विज्ञान शक्तिसम्बन्ध है[२], जीव मेरा रहस्य है[३] और प्रधान मेरा ज्ञानाङ्ग (तदङ्ग) है[४]। इन चार तत्त्वोंका नित्य अद्वयत्व तथा नित्य रहस्यगत भेद मेरी अचिन्त्यशक्तिका परिणाम है॥२॥

यावानहं यथाभावो यद्रूपगुणकर्मकः।
तथैव तत्त्वविज्ञानमस्तु ते मदनुग्रहात्॥३॥

---

[१] इसका विस्तृत विवरण श्लोक संख्या ४ में द्रष्टव्य।

[२] अर्थात् मुझमें और मेरी शक्तिके बीचमें जो अचिन्त्य सम्बन्ध है, उसके अनुभवको विज्ञान कहते हैं, इसका विस्तृत वर्णन श्लोक संख्या ५ में द्रष्टव्य है।

[३] इसका विस्तृत विवरण श्लोक संख्या ६ में द्रष्टव्य।

[४] इसका विस्तृत विवरण श्लोक संख्या ७ में द्रष्टव्य।

मैं स्वरूपतः जैसा हूँ, मेरा भाव जिस प्रकारका है, मेरे चित्–अचित् भेदसे जो गुण–कर्म हैं, मेरा जो तत्त्वविज्ञान है, मेरे अनुग्रहसे तुम उसे समझ लो॥३॥

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत्सदसत्परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥४॥

प्रस्तुत (श्लोक संख्या चारसे) प्रारम्भ करके चार श्लोकोंमें क्रमशः एक–एक करके चार प्रकारके तत्त्वोंका भेद दिखा रहे हैं—इसीका नाम **चतुःश्लोकी भागवत** है। मैं परम नित्य एक अद्वयतत्त्व हूँ। पहले मैं ही था। सत् और असत्—इन दोनोंसे श्रेष्ठ केवल मैं ही था, अन्य कुछ भी नहीं था। असत् अर्थात् आगमपायी (नश्वर) अवस्था तथा सत् अर्थात् सृष्टिसे मेरा अन्वय (अर्थात् साधर्म्यके कारण एक जातिय) सम्बन्ध—ये दो क्रियाएँ, जिस सृष्टिमें उदित हुई है, वह भी मैं ही हूँ। अग्निसे जिस प्रकार—विस्फुल्लिङ्ग और सूर्यसे जिस प्रकार किरणें निःसृत होती हैं, उसी प्रकारसे सभी प्राणी मेरी ही शक्तिके परिणाम हैं। मैं परिणत नहीं होता हूँ, किन्तु चिन्तामणि जिस प्रकार स्वर्णका प्रसव करती है और स्वयं अविकृत रहती है, उसी प्रकार मेरी अक्षय शक्ति स्वयं अविकृत रहकर इस चराचर जगत्को प्रसव करती है। सृष्टि होनेसे मेरा अद्वयत्व नष्ट नहीं होता। सृष्टि तत्त्व मुझसे पृथक् होनेपर भी मैं सर्वस्वरूप एक ही तत्त्व हूँ—यही मेरी अचिन्त्यशक्तिके भेदाभेदका परिचय है। पुनः प्रलयकालमें एकमात्र मैं ही अवशिष्ट रहता हूँ। केवलाद्वैतवाद, केवल–द्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद तथा शुद्धाद्वैतवाद—ये सब नाममात्रके विवाद हैं। समस्त वादोंके वादत्वके दूर होनेपर जो परम सत्य बचा रहता है, वही मेरी अचिन्त्यशक्तिका परिणामरूप नित्य–भेदाभेदज्ञान है। यही ज्ञान समस्त वेदवाक्यों तथा महावाक्यों द्वारा सम्मत है॥४॥

ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
तद्विद्यादात्मनो मायां यथाऽऽभासो यथा तमः॥५॥

मतवादिगण मेरी अचिन्त्यशक्तिको नहीं समझ पानेके कारण, उसके सम्बन्धमें 'अस्ति', 'नास्ति' इत्यादि अनेक प्रकारकी जल्पना किया करते हैं। वह भी मेरा ही प्रभाव है। एक पराशक्ति माया ही मेरी अचिन्त्यशक्ति है। इसकी दो अवस्थाएँ हैं—स्वरूपावस्था और तटस्थावस्था। जगत् सृष्टिमें तटस्थ-अवस्था ही अणु तथा छाया रूपमें दो प्रकारकी होती है। अणु तटस्थाशक्तिको किसी-किसी शास्त्रमें जीवशक्ति कहा गया है, तथापि मैं उसे पराप्रकृति कहता हूँ। छाया तटस्थाशक्ति, अचित् मायाशक्तिके नामसे विख्यात है, उसीका एक नाम बहिरङ्गाशक्ति भी है। चिद्धर्म आदिको प्रकाश करनेवाली स्वरूपशक्तिको चित्-शक्ति या अन्तरङ्गाशक्ति कहते हैं। 'माया' कहनेसे प्रधानतः मेरी पराशक्तिको ही समझना चाहिये। इस मायिक संसारमें स्वरूपशक्तिका परिचय अत्यन्त गूढ़ है तथा अचित् मायाशक्तिका परिचय ही प्रकट है। अतएव माया कहनेसे इस जगत्‌में अचित् माया अर्थात् छाया तटस्थाशक्तिको ही समझा जाता है। मैं तुम्हें मूल मायाशक्तिके विषयमें बतला रहा हूँ। मैं चैतन्यस्वरूप, आत्मा पुरुष हूँ। अठाईस तत्त्वोंमें पुरुष, प्रकृति और अर्थ—ये तीन प्रकारके तत्त्व-विभाग हैं। आत्मा और प्रकृतिको छोड़कर छब्बीस प्रकारके तत्त्वोंको 'अर्थ' कहते हैं। अर्थको छोड़कर जो कुछ भी मुझसे पृथक् चिन्तनीय है, और साथ-ही-साथ आत्मतत्त्वमें जिसकी स्वरूप-प्रतीति नहीं होती, वही माया है। यद्यपि आत्मवस्तु तथा मायाको छोड़कर जितने भी तत्त्व हैं, वे सब वस्तुप्राय हैं। तथापि माया भी वस्तु नहीं है—आत्मा ही वस्तु है तथा माया उसकी शक्तिमात्र है। वस्तुमें इसका दो प्रकारसे परिचय है—आभास इसका प्रथम परिचय और तम इसका द्वितीय परिचय है। जीव ही शक्तिका आभास परिचय है। चित्-शक्ति अणुतटस्थ अवस्थामें आभासरूप जीव है, अतएव उसका चित्-परिचय है। तम अचित्-मायाका परिचय है—इसीसे जड़जगत् प्रकाशित होता है। इस प्रकारसे शक्तितत्त्वको समझनेपर परब्रह्मस्वरूपके तत्त्वज्ञानका नाम ही विज्ञान है॥५॥

यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु।
प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम्॥६॥

अब रहस्य तत्त्वका श्रवण करो। यह जड़जगत् मिथ्या नहीं है। मेरी शक्तिका ही परिणाम है। मैं सत् रूपमें इसके भीतर रहता हूँ, इसलिए यह सत्य है। सत्य होनेपर भी इसका आगमापायी (पुनः-पुनः आने और जाने वाला) प्रकाश नश्वर है। इस जगत्में जिस प्रकार पञ्च-महाभूत उच्चावच (देव, तिर्यक आदि) प्राणियोंमें प्रविष्ट होकर भी महाभूतके रूपमें अप्रविष्ट ही रहते हैं। उसी प्रकार मैं भी शक्तिपरिणामरूपी जगत्में अणु रूपमें प्रविष्ट होकर भी अपने चिद्धाम गोलोक वृन्दावन और परव्योमादिमें स्व-स्वरूपमें पूर्ण रूपसे विद्यमान हूँ। जीवशक्तिकी परिणतिरूप जीव स्वभावतः मेरे प्रणत दास हैं। इनके भीतर परमात्मा रूपमें प्रविष्ट रहकर भी मैं चिद्धाममें ऐसे जीवोंके साथ निरन्तर लीला करता हूँ, जिन्होंने प्रेम प्राप्त कर लिया है॥६॥

एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनाऽऽत्मनः।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा॥७॥

अब देखो—मैं स्वरूप, स्वरूप-वैभव, जीव और प्रधान रूपमें दिखायी देनेपर भी नित्य, अखण्ड, अद्वयतत्त्व हूँ। मायाबद्ध जीव इस तत्त्वकी उपलब्धि न कर पानेसे कितने ही प्रकारसे वितर्क करते हैं। उन लोगोंका यह कर्त्तव्य है कि मेरी कृपासे प्राप्त शास्त्रके अभिधेयको (प्रतिपाद्य विषयको) अन्वय-व्यतिरेक अर्थात् विधि-निषेध अथवा विधि-रागके भेदके अनुसार सद्गुरुके चरणोंमें जिज्ञासा द्वारा सर्वदा सर्वत्र सत्य तत्त्वको स्थिर करके उसके साधनमें प्रवृत्त होवें॥७॥

प्रापञ्चिक जगत् मायाशक्तिका परिणाम है, इसे दिखलानेके लिए ब्रह्मा श्रीमद्भा. २/५/२२-२९ में नारदसे कहते हैं—

कालाद् गुणव्यतिकरः परिणामः स्वभावतः।
कर्मणो जन्म महतः पुरुषाधिष्ठितादभूत्॥८॥

बहिरङ्गा मायाके अन्तर्गत जो कालशक्ति है, उसके क्षोभसे स्वभावतः मायाका परिणाम होता है। पुरुष द्वारा अधिष्ठित महत्-तत्त्वसे कर्मका जन्म होता है॥८॥

महतस्तु विकुर्वाणाद्रजःसत्त्वोपबृंहितात्।
तमःप्रधानस्त्वभवद् द्रव्यज्ञानक्रियात्मकः॥९॥

महत्-तत्त्व परिणत होकर रज और सत्त्वगुण द्वारा वर्द्धित होता है। फिर इसके साथ तमः प्रधान बनकर अधिभूत द्रव्य (तमोगुणकी क्रिया), अधिदैव ज्ञान (सत्त्वगुणकी क्रिया), अध्यात्म क्रिया (रजोगुणकी क्रिया) स्वरूपको प्राप्त करता है॥९॥

सोऽहङ्कार इति प्रोक्तो विकुर्वन् समभूत् त्रिधा।
वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेति यद्भिदा।
द्रव्यशक्तिः क्रियाशक्तिर्ज्ञानशक्तिरिति प्रभो॥१०॥

उसका नाम अहङ्कार हुआ। अहङ्कार-परिणत होकर वैकारिक, तैजस तथा तामस अर्थात् सात्विक अहङ्कार, राजसिक अहङ्कार और तामसिक अहङ्कारके भेदसे तीन प्रकारका होता है॥१०॥

तामसादपि भूतादेर्विकुर्वाणादभून्नभः।
तस्य मात्रा गुणः शब्दो लिङ्गं यद्द्रष्टृदृश्ययोः॥११॥

तामस अहङ्कारसे आकाशकी उत्पत्ति हुई। आकाशके तन्मात्रा-गुणसे शब्दकी उत्पत्ति होती है। यह शब्द ही द्रष्टा तथा दृश्यका लक्षण है॥११॥

नभसोऽथ विकुर्वाणादभूत्स्पर्शगुणोऽनिलः।
परान्वयाच्छब्दवांश्च प्राण ओजः सहो बलम्॥१२॥

आकाशमें विकार होनेपर स्पर्श गुण विशिष्ट वायु उत्पन्न होती है। (वायुमें आकाशका शब्द गुण भी विद्यमान है।) आकाशका गुण अनुस्यूत होनेके कारण ही वायु प्राण, ओज तथा बलसे युक्त

हुआ है अर्थात् आकाशके गुण शब्दकी विद्यमानताके कारण वायु ही प्राण (देहधारण), ओज तथा बल (इन्द्रिय, मन और शरीरकी पटुताके विधान) का कारणस्वरूप है॥१२॥

वायोरपि विकुर्वाणात् कालकर्मस्वभावतः।
उदपद्यत वै तेजो रूपवत् स्पर्शशब्दवत्॥१३॥

काल, कर्म तथा स्वभावसे वायु विकृत होनेपर तेज (अग्नि) उत्पन्न होता है। इसमें रूप, स्पर्श और शब्द—ये तीन गुण विद्यमान होते हैं॥१३॥

तेजसस्तु विकुर्वाणादासीदम्भो रसात्मकम्।
रूपवत् स्पर्शवच्चाम्भो घोषवच्च परान्वयात्॥१४क॥

विशेषस्तु विकुर्वाणादम्भसो गन्धवानभूत्।
परान्वयाद्रसस्पर्शशब्दरूपगुणान्वितः ॥१४ख॥

तेज (अग्निके) विकृत होनेपर रसात्मक जल बनता है। इसमें रस, स्पर्श, शब्द और रूप—ये चार गुण उत्पन्न हुए हैं। जलके विकृत होनेपर (गन्धसे युक्त) पृथ्वी उत्पन्न हुई। इसमें रस, स्पर्श, शब्द, रूप तथा गन्ध—यह पाँच गुण प्रकट हुए॥१४॥

प्रापञ्चिक सृष्टिमें विवर्त्तका कोई स्थान नहीं है। श्रीमद्भा. ३/१०/११-१२ में इसीको दर्शाते हुए मैत्रेयमुनि विदुरसे कहते हैं—

गुणव्यतिकराकारो निर्विशेषोऽप्रतिष्ठितः।
पुरुषस्तदुपादानमात्मानं लीलयासृजत्॥१५॥

काल स्वयं निर्विशेष तथा अप्रतिष्ठित है। काल प्रकृतिकी विकृतिका आकारमात्र है। ईश्वर अपने उपादानरूप कालकी लीलाके द्वारा सृष्टि करते हैं॥१५॥

विश्वं वै ब्रह्मतन्मात्रं संस्थितं विष्णुमायया।
ईश्वरेण परिच्छिन्नं कालेनाव्यक्तमूर्तिना॥१६॥

यह विश्व ब्रह्मकी तन्मात्रा है, जो विष्णुमायाके द्वारा संस्थित है। (तात्पर्य यह है कि पहले यह सारा विश्व भगवान्‌की मायासे ब्रह्ममें ही लीन/अवस्थित था।) वही पुनः अव्यक्त स्वरूप ईश्वरके प्रभावरूपी कालके द्वारा पृथक् रूपसे प्रकाशित हुआ॥१६॥

श्रीमद्भा. ११/१९/१४-१६ में श्रीभगवान्‌ने तत्त्व-संख्याका निरूपण करते हुए उद्धवसे कहा—

नवैकादश पञ्च त्रीन् भावान् भूतेषु येन वै।
ईक्षेताथैकमप्येषु तज्ज्ञानं मम निश्चितम्॥१७॥

पुरुष, प्रकृति, महत्-तत्त्व, अहङ्कार, रूप, रस, गन्ध, शब्द तथा स्पर्श—ये नौ, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और अन्तःकरण—ये एकादश, क्षिति, अप (जल), तेज, मरुत् और व्योम—ये पाँच महाभूत, सत्त्व, रज तथा तम ये तीन गुण। सब मिलाकर अट्ठाईस तत्त्व होते हैं। (सबसे पहले जिस पुरुष अर्थात् चैतन्यका वर्णन किया गया है) वह पुरुष दो प्रकारका होता है। पूर्ण पुरुष ईश्वर मायाका अधीश्वर और क्षुद्र पुरुष जीव मायाके अधीन होता है। प्रकृति भी दो प्रकारकी होती है—परा अर्थात् केवल चित्-सम्बन्धिनी और अपरा अर्थात् जड़-सम्बन्धिनी। जिस ज्ञानके द्वारा अर्थात् "सर्वं खल्विदं ब्रह्म"—इस एक ज्ञान द्वारा तत्त्वसमूहोंमें जो एक ही ज्ञान अर्थात् अद्वय ज्ञान है, उसे ही भगवत्-ज्ञान कहते हैं॥१७॥

एतदेव हि विज्ञानं न तथैकेन येन यत्॥१८क॥

भगवत् शक्तिपरिणत समस्त तत्त्व ही भिन्न तथा पृथक् रूपमें सत्य हैं—इस प्रकारके ज्ञानका नाम विज्ञान है। विज्ञानके द्वारा अचिन्त्य-भेदाभेद तत्त्व उदित होता है॥१८क॥

स्थित्युत्पत्त्यप्ययान् पश्येद् भावानां त्रिगुणात्मनाम्॥१८ख॥

आदावन्ते च मध्ये च सृज्यात् सृज्यं यदन्वियात्।
पुनस्तत् प्रतिसंक्रामे यच्छिष्येत तदेव सत्॥१९॥

सभी त्रिगुणात्मक भावोंकी स्थिति, उत्पत्ति और ध्वंस कार्यमें उन-उन कार्योंके आदि, मध्य और अन्तमें एक सृज्य वस्तुसे दूसरी सृज्य वस्तुमें अर्थात् सृज्य कार्यसे कार्यान्तरमें जो (पुरुष) अनुगमन करता है, वही 'सत्' है और वह प्रलयके समयमें भी सत्‌के रूपमें ही रहता है॥१८ख-१९॥

(श्रीमद्भा. ११/१९/१८)

कर्मणां परिणामित्वादाविरिञ्च्यादमङ्गलम्।
विपश्चिन्नश्वरं पश्येददृष्टमपि दृष्टवत्॥२०॥

कर्म परिणामी अर्थात् नश्वर फल देनेवाले होते हैं, अतएव सृष्टिके अन्तर्गत किये गये समस्त कर्मोंके परिणामस्वरूप प्राप्त होनेवाले ब्रह्मलोक आदि सभी लोक ही अमङ्गलस्वरूप हैं। इसलिए विद्वज्जन दृष्ट मर्त्यलोक आदि एवं अदृष्ट ब्रह्मलोक पर्यन्त सभी लोकोंको ही नश्वर समझते है॥२०॥

नश्वर होनेपर भी जगत् सत्य है अर्थात् कल्पित नहीं है। श्रीमद्भा. ११/२४/१८ में इसका इस प्रकार वर्णन किया गया है—

यदुपादाय पूर्वस्तु भावो विकुरुतेऽपरम्।
आदिरन्तो यदा यस्य तत् सत्यमभिधीयते॥२१॥

पूर्ववर्ती महत्तत्त्व और परवर्ती अहङ्कार आदि तत्त्व परम सत्य वस्तुकी शक्तिके परिणाम हैं। अतएव आदि और अन्त जिस सत्यसे होता है, वही सत्य ही सर्वत्र है। यही वेदका सिद्धान्त है॥२१॥

जीवशक्ति चित्-शक्तिका अंश है। उसका परिणाम जीव है। जीव भी शक्तिका परिणाम है। यह सप्तम किरणके एकादश श्लोकमें दिखलाया गया है। (इस प्रस्तुत श्लोकमें) उसी जीवका संसारी होनेका अभिमान विवर्त्त धर्मके कारण ही होता है। श्रीमद्भा. ११/१०/८-९ में श्रीकृष्ण द्वारा इसका इस प्रकार वर्णन किया गया है—

विलक्षणः स्थूलसूक्ष्माद् देहादात्मेक्षिता स्वदृक्।
यथाग्निर्दारुणो दाह्याद् दाहकोऽन्यः प्रकाशकः॥२२॥

जीव स्व-स्वरूपका द्रष्टा और पर-द्रष्टा है। जिस प्रकार ज्वलित लकड़ीसे दाहक और प्रकाशकरूप अग्नि पृथक् होती है, उसी प्रकार जीव अपने आधुनिक सूक्ष्म अर्थात् (मन, बुद्धि, अहङ्कारात्मक) लिङ्गशरीर तथा स्थूल अर्थात् पञ्चभौतिक स्थूलशरीरसे अलग एक तत्त्व है॥२२॥

निरोधोत्पत्त्यणुबृहन्नानात्वं तत्कृतान् गुणान्।
अन्तःप्रविष्ट आधत्ते एवं देहगुणान् परः॥२३॥

जीव परतत्त्व (चेतन वस्तु) होनेपर भी निरोध, उत्पत्ति, अणु, बृहत्-रूप, नानात्व, स्थूल-लिङ्ग देहकृत-गुणोंमें अन्तःप्रविष्ट होकर उन्हें स्वीकार कर लेता है। (इन गुणोंसे सर्वथा रहित होनेपर भी जीव इनसे युक्त जान पड़ता है।)॥२३॥

(श्रीमद्भा. ११/२२/५२-५६)

सत्त्वसङ्गादृषीन् देवान् रजसासुरमानुषान्।
तमसा भूततिर्यक्त्वं भ्रामितो याति कर्मभिः॥२४॥

जीव सत्त्वगुणके सङ्गसे ऋषित्व और देवत्व, रजोगुणके सङ्गसे असुरत्व तथा मनुष्यत्व और तमोगुणके सङ्गसे पशु-पक्षी आदिकी देह धारणकर कर्मोंके द्वारा चालित होते हैं॥२४॥

नृत्यतो गायतः पश्यन् यथैवानुकरोति तान्।
एवं बुद्धिगुणान् पश्यन्ननीहोऽप्यनुकार्यते॥२५॥

जैसे कोई दर्शक नर्त्तकके नृत्यको देखकर तथा गायकके गीतको सुनकर उनका अनुकरण करने लगता है, उसी प्रकार (स्वरूपतः निष्क्रिय होनेपर भी) भ्रान्त जीव 'अहं' रूपी अभिमानवशतः बुद्धिके गुणोंका अनुकरण करने लगता है अर्थात् जागतिक विषयोंका भोग करने लगता है॥२५॥

यथाम्भसा प्रचलता तरवोऽपि चला इव।
चक्षुषा भ्राम्यमाणेन दृश्यते भ्रमतीव भूः ॥२६॥

नौकामें बैठा हुआ व्यक्ति जिस प्रकार किनारोंपर लगे वृक्षोंको चलता हुआ समझता है तथा बड़ी तेजीसे घूमनेवाले व्यक्तिके नेत्र जिस प्रकार पृथ्वीको भी घूमते हुए देखते है, उसी प्रकार विवर्त्त-बुद्धिके द्वारा ही जीवका जड़देहमें आत्मभिमान रहता है॥२६॥

यथा मनोरथधियो विषयानुभवो मृषा।
स्वप्नदृष्टाश्च दाशार्ह तथा संसार आत्मनः ॥२७॥

सदैव विषयोंकी चिन्ता करनेवाले व्यक्तिके स्वप्नमें उदित विषयोंका अनुभव जिस प्रकार मिथ्या होता है, हे दाशार्ह (उद्धव)! जीवात्माका संसार भी उसी प्रकार मिथ्या है॥२७॥

अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते।
ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा॥२८॥

विषयोंका ध्यान करनेवाले पुरुषके स्वप्नमें जिस प्रकार अनर्थागम अर्थात् सर्प दंशन आदि मिथ्या विषयोंका उद्भव होता है, उसी प्रकार विषयोंके अर्थ सत्य नहीं होनेपर भी विषयकी चिन्ताके फलस्वरूप मायाबद्ध जीवकी जन्म-मृत्युरूपी संसार चक्रसे कभी भी निवृत्ति नहीं होती॥२८॥

इन सभी वाक्योंके द्वारा दिखलाया गया कि जीवोंकी देह आदिमें जो आत्मबुद्धि है, वही विवर्त्त है। वास्तवमें जीवके स्वरूपके अनुभव एवं गठनमें विवर्त्तकी कोई क्रिया नहीं है, केवल शक्ति परिणाम ही कार्य करता है। इसके द्वारा अचिन्त्यभेदाभेद-तत्त्व निरूपित हुआ। (श्रील भक्तिविनोद ठाकुर)

श्रीमद्भा. ८/१/९-१० में मनु भगवान्‌से कहते हैं—

येन चेतयते विश्वं विश्वं चेतयते न यम्।
यो जागर्ति शयानेऽस्मिन्नायं तं वेद वेद सः ॥२९॥

जो चैतन्य विश्वको चेतनता प्रदान करते हैं, विश्व उन्हें चेतनता प्रदान करनेमें समर्थ नहीं हो सकता। सोते समय सुषुप्ति (गाढ़ निद्राकी) अवस्थामें भी जो जाग्रत रहते हैं, वे ही चैतन्य हैं। वे चैतन्य पुरुष तो सबको जानते हैं, किन्तु उन्हें कौन जान सकता है? ॥२९॥

आत्मावास्यमिदं विश्वं यत् किञ्चिज्जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥३०॥

अत्यधिक विस्तृत सम्पूर्ण विश्व आत्मा द्वारा आच्छादित है अर्थात् आत्मा इसमें वास करती है। इस जगत्में जो कुछ भी है, उस सबका आत्मासे सम्बन्ध है। वह आत्मा जो कुछ भी देता है, उसका ही भोग करें। दूसरोंके धनके प्रति लोभ न करें। इस मन्त्रमें दो तत्त्व निरूपित हो रहे हैं—(१) जीव अपने स्वरूप और अपने स्वभावको भूलकर मायारूप कृष्णशक्तिसे इस विश्वमें आबद्ध रहता है। (२) भवसागरसे उद्धार प्राप्त करनेके लिए श्रीकृष्णके आनुगत्य (शरणागति) के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है। भक्तिका साधन करना ही उनका आनुगत्य है। कृष्णप्रसादके अतिरिक्त अन्य किसी वस्तुका भोग मत करना। परोपकारके अतिरिक्त दूसरोंका किसी भी प्रकारसे अपकार नहीं करना चाहिये। क्रमशः बहिर्मुख जगत्की ममता त्यागकर इस जगत्में प्रकटित कृष्णलीलाकी निरन्तर सेवा (श्रवण और कीर्त्तन) करते हुए अपार प्रेमका भोग (आस्वादन) करना। ऐसा करनेसे बद्ध अवस्थाके कारण होनेवाले सांसारिक क्लेश अनायास ही अवान्तर (गौण) फलोदयके समान दूर हो जायेंगे॥३०॥

श्रीमद्भा. ८/१/१२ में कहा गया है—

न यस्याद्यन्तौ मध्यं च स्वः परो नान्तरं बहिः।
विश्वस्यामूनि यद्यस्माद् विश्वं च तदृतं महत्॥३१॥

इस प्रकार कृष्ण-सम्बन्धका अनुशीलन करनेसे इसी सम्बन्धज्ञानके साथ अभिधेय साधन चलता रहेगा। उन श्रीकृष्णका आदि, मध्य, अन्त, स्व-पर (अपना-पराया), अन्तर, बाहर आदि कुछ भी नहीं है। विश्व तथा विश्वमें जो कुछ भी है, सब कुछ जिनसे प्रकाशित होता है तथा जिनकी सत्यतासे ही सब कुछ सत्य स्वरूप है, वे श्रीकृष्ण ही हमारे सर्वस्व हैं॥३१॥

श्रीमद्भा. ८/३/३ में कहा गया है—

यस्मिन्निदं यतश्चेदं येनेदं य इदं स्वयम्।
योऽस्मात् परस्माच्च परस्तं प्रपद्ये स्वयम्भुवम्॥३२॥

जिन श्रीकृष्णमें यह विश्व स्थित है, जिनसे इस विश्वकी सृष्टि हुई है, जिनके द्वारा यह विश्व परिचालित होता है, जो स्वयं ही यह विश्व हैं और पुनः जो इस विश्वसे भिन्न हैं। जो जीवसे श्रेष्ठ हैं, उन्हीं स्वयम्भुव श्रीकृष्णके शरणागत होकर मैं उनकी प्रपत्ति स्वीकार करता हूँ॥३२॥

(श्रीमद्भा. ८/३/९)

तस्मै नमः परेशाय ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये।
अरूपायोरुरूपाय नम आश्चर्यकर्मणे॥३३॥

मैं उन भगवान् श्रीकृष्णको प्रणाम करता हूँ जो परमेश्वर और ब्रह्म हैं, अनन्त शक्तियोंके प्रभु हैं, अरूप अर्थात् भौतिक किसी रूपसे परे, बहुरूप अर्थात् अनेक रूपोंमें प्रकाशित और आश्चर्यजनक लीलाएँ करनेवाले हैं। ज्ञानके द्वारा मैं उन्हें जान सकता हूँ—ऐसा विचार करनेसे मैं अपराधी बन जाऊँगा, कर्मके द्वारा मैं उन्हें प्रसन्न करूँगा, ऐसा माननेसे जड़बुद्धिवाला कहलाऊँगा, योग द्वारा कैवल्य प्राप्त करूँगा—ऐसा मनमें आनेसे मैं अपने आपको धिक्कारता हूँ। अतः अन्यान्य सब प्रकारके उपायोंका भरोसा त्याग करके उन्हीं (भगवान्) को प्रणाम करता हूँ॥३३॥

श्रीमद्भा. १०/८५/४ में श्रीवसुदेव मुनियोंके मुखसे अपने दोनों पुत्रोंके माहात्म्य सूचक वचनोंका श्रवणकर उनके अद्भुत चरित्रमें विश्वास स्थापित करते हुए श्रीकृष्ण-बलरामके समक्ष ही कहने लगे—

यत्र येन यतो यस्य यस्मै यद् यद् यथा यदा।
स्यादिदं भगवान् साक्षात् प्रधानपुरुषेश्वरः ॥३४॥

जो प्रधान अर्थात् प्राकृत तत्त्व और पुरुष अर्थात् विभिन्नांश जीव तथा आधिकारिक देवताओंके ईश्वर हैं, जो सर्वकारकोंकी स्थिति भूमि अर्थात् कर्त्ता, करण, अधिकरण, अपादान, सम्बन्ध और सम्प्रदानके एकमात्र आधार हैं—वही भगवान् श्रीकृष्ण ही मेरे सर्वस्व हैं॥३४॥

श्रीमद्भा. १०/८७/३०-३१ में श्रुतियाँ केवलाद्वैत-पक्षके समर्थकोंका खण्डन करते हुए श्रीकृष्णसे कह रही हैं—

अपरिमिता ध्रुवास्तनुभृतो यदि सर्वगता-
स्तर्हि न शास्यतेति नियमो ध्रुव नेतरथा।
अजनि च यन्मयं तदविमुच्य नियन्तृ भवेत्
सममनुजानतां यदमतं मतदुष्टतया॥३५॥

हे ध्रुव (नित्यस्वरूप)! जीव-संख्याका कोई अन्त नहीं है अर्थात् जीव अनन्त हैं; इस कथनके प्राप्त होनेपर यदि कोई कहे कि जीव ब्रह्मके समान व्यापक अर्थात् सर्वगत है, तो यह उसका भ्रम है, क्योंकि शास्त्रोंमें यह निश्चित किया गया है कि जीव ईशितव्य अर्थात् ईश्वर द्वारा शासित है और आप ईश्वर उनके शासक हैं अर्थात् जीव सेवक और आप सेव्य हैं। इसलिए जीवको ब्रह्मके समान व्यापक और सर्वगत माननेवालोंका सिद्धान्त ठीक नहीं है, बल्कि स्थिर सिद्धान्त यह है कि जीव व्यापक नहीं अपितु व्याप्य अर्थात् अणु परिणामस्वरूप है। सर्वग इत्यादि शास्त्र-वाक्योंका तात्पर्य यह है कि जीव अपने स्वरूपमें व्यापक है और आप सर्वव्यापक हैं। आप अग्नि अथवा सूर्य

तुल्य हैं, जीव स्फुलिङ्ग अथवा किरण-कण-स्थलीय है। अतएव जीवका चिन्मय स्वरूप आपके द्वारा ही स्थित किया गया है, अतएव उसे स्वतत्त्व अर्थात् आपसे बाहर नहीं किया जा सकता। इससे आपका नियन्तृत्व सिद्ध होता है। जो जीवको समस्त विषयोंमें आपके समान ही समझते हैं—वे यह नहीं जानते कि श्रुतियोंने उनके इस मतको दुष्ट (व्यर्थ) कहकर परित्याग कर दिया हैं॥३५॥

न घटत उद्भवः प्रकृतिपुरुषयोरजयो–
रुभययुजा भवन्त्यसुभृतो जलबुद्‌बुदवत्।
त्वयि त इमे ततो विविधनामगुणैः परमे
सरित इवार्णवे मधुनि लिल्युरशेषरसाः॥३६॥

बद्धजीवका इस मायिक जगत्में जन्म केवल त्रिगुणात्मिका प्रकृति और पुरुषके संयोगसे नहीं होता, बल्कि मायाशक्ति चित्-शक्तिसम्पन्न परमपुरुष आपसे युक्त होकर जीवको सोपाधिक जन्म ग्रहण कराती है। जीव मायाशक्तिसे अतीत है, अतएव स्वरूपशक्तिकी सहायतासे ही बहिर्मुख जीवको उभय शक्तियुक्त ईश्वरके बलसे प्राण संयुक्त करके जड़जगत्में जलमें बुद्‌बुदोंके समान प्रकट कराती है। ये समस्त बद्धजीव आपके विविध नाम-उपासनाओंके गुणोंके द्वारा आपमें अर्थात् चिन्मय समुद्रस्वरूप आपमें उसी प्रकार मिल जाते हैं, जैसे नदी सागरमें मिल जाती है। उपासना अङ्गमें जो समस्त रस हैं, वे सभी रस अन्तमें मधुररसमें ही लयको प्राप्त होते हैं। भक्त भी भगवान्‌के साथ-साथ इस मधुररसका आस्वादन करता है॥३६॥

श्रीमद्भा. १०/४०/१० में अक्रूर भगवान्‌से कहते हैं—

यथाद्रिप्रभवा नद्यः पर्जन्यापूरिताः प्रभो।
विशन्ति सर्वतः सिन्धुं तद्वत्त्वां गतयोऽन्ततः॥३७॥

इति श्रीमद्भागवतार्कमरीचिमालायां सम्बन्धज्ञानप्रकरणे शक्तिपरिणामादचिन्त्यभेदाभेदलक्षणं नाम दशमः किरणः।
सम्बन्धज्ञानं समाप्तम्॥

अतएव हे प्रभो! पर्वतसे उत्पन्न नदियाँ जलसे परिपूर्ण होकर जैसे समुद्रमें प्रवेश करती हैं अर्थात् समुद्रके अतिरिक्त वे और कहीं नहीं जा सकतीं, उसी प्रकार जीवोंकी अन्तिम गति आपके अतिरिक्त और कोई नहीं है॥३७॥

दशम किरणकी 'मरीचिप्रभा' नामक गौड़ीय-व्याख्याका भावानुवाद समाप्त॥

सम्बन्धज्ञान नामक प्रकरण समाप्त॥

एकादश किरण

अभिधेय-विचार

शास्त्राभिधेयमुद्‌घाट्य शुद्धा भक्तिर्निरूपिता।
श्रीचैतन्याज्ञया येन वन्दे तं रूपसंज्ञकम्॥

मैं उन श्रीरूप गोस्वामीके श्रीचरणोंमें सादर प्रणाम करता हूँ, जिनके द्वारा श्रीचैतन्य महाप्रभुके आदेशसे शास्त्रोंमें वर्णित वास्तविक अभिधेय तत्त्वको प्रकट करके शुद्धाभक्तिका भलीभाँति तथा सुन्दर रूपसे निरूपण हुआ है।

श्रीकृष्णचैतन्यचन्द्राय नमः

(अभिधेय प्रकरण)

श्रीमद्भा. ११/९/२९ में श्रीकृष्णने उद्धवसे कहा—

लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते
मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः।
तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु यावन्
निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात्॥१॥

श्रीकृष्ण कौन हैं? जीव कौन है? जड़जगत् क्या है?—इस प्रकारके प्रश्न-उत्तरके द्वारा सम्बन्धज्ञान उदित होता है। इस सम्बन्धज्ञानको प्राप्त करके जीवका जो कर्त्तव्य शास्त्र द्वारा निर्णीत होता है—उसीका नाम अभिधेय है। अब इस अध्यायसे अभिधेय प्रकरण प्रारम्भ हो रहा है।

मायिक विषय तो सर्वत्र ही है। इसलिए इनकी प्राप्तिकी चेष्टाका परित्याग करके अपने स्वरूपको पुनः प्राप्त करनेका यत्न करना आवश्यक है। अनेकानेक जन्मोंके बाद यह मानव जन्म प्राप्त हुआ है। यह अनित्य होनेपर भी परमार्थको देनेवाला है, इसलिए दुर्लभ है। बुद्धिमान मनुष्यको मृत्युके निकट आनेसे पहले ही बिना किसी विलम्बके निःश्रेय-प्राप्तिकी चेष्टा करनी चाहिये। (निःश्रेयका तात्पर्य नित्यकल्याण अर्थात् श्रीकृष्णकी प्रेममयी सेवासे है)॥१॥

श्रीमद्भा. ११/२०/६ में मनुष्यके अधिकार भेदका निरूपण करते हुए भगवान् श्रीकृष्णने कहा—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥२॥

हे उद्धव! निःश्रेय-प्राप्तिके अभिप्रायसे मैंने कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोग नामक तीन प्रकारके योगोंका उपदेश दिया है। इन

तीन योगोंके अतिरिक्त नित्यकल्याण-प्राप्तिका और कोई उपाय नहीं है॥२॥

सर्वप्रथम कर्मयोगके सम्बन्धमें विचार प्रस्तुत किया जा रहा है। श्रीमद्भा. ११/५/२-३ में कहा गया है कि—

मुखबाहूरुपादेभ्यः पुरुषस्याश्रमैः सह।
चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर्विप्रादयः पृथक्॥३॥

चार आश्रम अर्थात् (जंघासे) गृहस्थ, (हृदयसे) ब्रह्मचर्य, (वक्षःस्थलसे) वानप्रस्थ तथा (मस्तकसे) संन्यास नामक चार आश्रमोंके साथ-साथ पुरुषावतार विष्णुके मुख, बाहु, उरु (जंघा) और चरणोंसे अपने-अपने वर्णोचित गुणोंके सहित ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र नामक चार वर्णवाले व्यक्ति जन्म ग्रहण करते हैं॥३॥

य एषां पुरुषं साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम्।
न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद् भ्रष्टाः पतन्त्यधः॥४॥

इनमेंसे जो अपने सृष्टिकर्त्ता ईश्वरका भजन नहीं करते, या फिर किसी प्रकारसे उनकी अवज्ञा करते हैं, तो वे अपने स्थानसे भ्रष्ट होकर अधःपतित हो जाते हैं॥४॥

(श्रीमद्भा. ११/१०/२३, २६)

इष्ट्वेह देवता यज्ञैः स्वर्लोकं याति याज्ञिकः।
भुञ्जीत देववत्तत्र भोगान् दिव्यान् निजार्जितान्॥५॥

तावत् स मोदते स्वर्गे यावत् पुण्यं समाप्यते।
क्षीणपुण्यः पतत्यर्वागनिच्छन् कालचालितः॥६॥

इस वर्णाश्रमरूप कर्मयोगका फल अभय नहीं है। याज्ञिक अर्थात् गृहमेध (पञ्च) यज्ञपरायण व्यक्ति यज्ञोंके द्वारा देवताओंका यजन करके स्वर्ग प्राप्त करते हैं। वहाँ वे स्वर्गमें देवताओं जैसे

भोगोंका भोग करते हैं। जब तक उनके पुण्य क्षीण नहीं होते, तब तक वे स्वर्गमें आनन्द प्राप्त करते हैं। पुण्योंके क्षय होनेपर अपनी इच्छा न रहनेपर भी कालके द्वारा प्रेरित होकर नीचे पतित होते हैं॥५-६॥

(श्रीमद्भा. ११/१०/२७)

यद्यधर्मरतः सङ्गादसतां वाऽजितेन्द्रियः।
कामात्मा कृपणो लुब्धः स्त्रैणो भूतविहिंसकः॥७॥

यदि असत्-सङ्गके प्रभावसे अधर्ममें लिप्त होते हैं, तब वे अजितेन्द्रिय व्यक्ति कामुक, कृपण, लोभी, स्त्रैण (स्त्री-लम्पट) और पशु-हिंसक बनकर विचरण करते हैं॥७॥

(श्रीमद्भा. ११/१०/२९-३३)

कर्माणि दुःखोदर्काणि कुर्वन् देहेन तैः पुनः।
देहमाभजते तत्र किं सुखं मर्त्यधर्मिणः॥८॥

स्वर्ग या नरकसे लौटे हुए पुरुष, अन्तमें जिन कर्मोंका फल 'दुःख' ही है, ऐसे सारे कर्म करते-करते पुनः-पुनः देह प्राप्त करते हैं। ऐसे मरणशील जन्म प्राप्त करनेमें सुख ही क्या है?॥८॥

लोकानां लोकपालानां मद्भयं कल्पजीविनाम्।
ब्रह्मणोऽपि भयं मत्तो द्विपरार्धपरायुषः॥९॥

सामान्य पुण्यवान और पापियोंकी तो बात ही क्या? समस्त लोक, लोकपाल, कल्प तक जीवित रहनेवाले देवता एवं द्विपरार्ध आयु विशिष्ट ब्रह्माको भी मुझ (कालरूपी ईश्वर) से भय रहता है॥९॥

गुणाः सृजन्ति कर्माणि गुणोऽनुसृजते गुणान्।
जीवस्तु गुणसंयुक्तो भुङ्क्ते कर्मफलान्यसौ॥१०॥

गुण अर्थात् इन्द्रियाँ ही पुण्य और पापात्मक कर्मोंकी सृष्टि करती हैं (जीव अर्थात् आत्मा नहीं)। सत्त्वादि गुण ही गुणागुण अर्थात् सत् और असत् इन्द्रियोंको पुण्य तथा पापात्मक कर्मोंमें प्रेरित कराते हैं। (देहात्माभिमानसे युक्त) जीव इन्द्रियोंसे संयुक्त होकर कर्मफलका भोग करता है॥१०॥

यावत् स्याद्गुणवैषम्यं तावन्नानात्वमात्मनः।
नानात्वमात्मनो यावत् पारतन्त्र्यं तदैव हि॥११क॥

यावदस्यास्वतन्त्रत्वं तावदीश्वरतो भयम्॥११ख॥

जब तक गुणोंकी विषमता है अर्थात् शरीर आदिमें मैं और मेरेपनका अभिमान है, तब तक नानात्व अर्थात् देव, पशु, पक्षी आदि अनेकानेक योनियोंमें भ्रमण करना ही पड़ता है और जब तक चित् स्वरूप आत्मा इस प्रकार भिन्न-भिन्न शरीरोंको प्राप्त करती है, तब तक वह परतन्त्र अर्थात् कर्मोंके अधीन ही रहती है। जब तक उसे इनसे मुक्ति नहीं मिल जाती, तब तक उसे ईश्वरसे भय बना रहता है। कर्ममात्रकी यही गति है॥११॥

अष्टाङ्गयोगादि ज्ञानमिश्रित कर्माङ्गका फल भी शुभ नहीं होता। श्रीमद्भा. ११/२९/१-२ में योगादिके विषयमें सुनकर श्रीउद्धव कहते हैं—

सुदुस्तरामिमां मन्ये योगचर्यामनात्मनः।
यथाञ्जसा पुमान् सिद्ध्येत् तन्मे ब्रूह्यञ्जसाच्युत॥१२॥

हे अच्युत! अजितेन्द्रिय व्यक्तिके लिए आपके द्वारा बताया गया योगादिका अनुष्ठान दुःसाध्य प्रतीत हो रहा है, अतएव मनुष्य जिस उपायसे निर्भय होकर अनायास ही उत्तम फल (परमपद) को प्राप्त कर सकता है, आप मुझे सरल भावसे उस उपायके विषयमें उपदेश प्रदान कीजिये॥१२॥

प्रायशः पुण्डरीकाक्ष युञ्जन्तो योगिनो मनः।
विषीदन्त्यसमाधानान्मनो निग्रहकर्शिताः॥१३॥

हे कमलनयन! मैं देखता हूँ कि प्रायः अधिकांश योगी अपने चञ्चल मनको एकाग्र करनेकी बारम्बार भरपूर चेष्टा करनेपर भी जब सफल नहीं हो पाते, तब हारकर विषादग्रस्त हो पड़ते हैं॥१३॥

श्रीमद्भा. ११/१५/३३ में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

अन्तरायान् वदन्त्येतान् युञ्जतो योगमुत्तमम्।
मया सम्पद्यमानस्य कालक्षपणहेतवः॥१४॥

हे उद्धव! बुद्धिमान व्यक्ति अष्टाङ्गयोगको सर्वोत्तम भक्तियोगमें अन्तराय अर्थात् बाधा मानते हैं। भक्तियोगसे अनायास ही अष्टाङ्गयोगका फल प्राप्त होता है। भक्तियोगकी तुलनामें आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार आदि समस्त योगाङ्ग समय नष्ट करनेके कारणके अतिरिक्त और कुछ नहीं है॥१४॥

योगका फल भी सामान्य है। श्रीमद्भा. ११/२४/१४ में इसका इस प्रकार वर्णन है—

योगस्य तपसश्चैव न्यासस्य गतयोऽमलाः।
महर्जनस्तपः सत्यं भक्तियोगस्य मद्गतिः॥१५॥

कर्म करनेवाले व्यक्तिकी अपेक्षा योग, तप एवं संन्यास ग्रहण करनेवालेकी गति अमल अर्थात् उत्तम होती है। योग करनेवालेको महर्लोक, तप करनेवालेको तपोलोक और संन्यास ग्रहण करनेवालेको सत्यलोककी प्राप्ति होती है। जो हो, किन्तु इनमेंसे कोई भी वास्तवमें प्राकृत जगत्से ऊपर नहीं उठ पाता। ये सभी अपने-अपने साधनोंके फलका सूक्ष्म शरीरसे भोग करते हैं। केवल चित्-स्वरूप-प्राप्त भक्तयोगी ही विरजाके उस पार स्थित मेरे चिद्धाम वैकुण्ठलोकको प्राप्त करते हैं॥१५॥

श्रीमद्भा. ४/२२/३९ में सनत्कुमार पृथु महाराजसे कहते हैं—

यत्पादपङ्कजपलाशविलासभक्त्या कर्माशयं ग्रथितमुद्ग्रथयन्ति सन्तः।
तद्वन्न रिक्तमतयो यतयो निरुद्ध-स्रोतोगणास्तमरणं भज वासुदेवम्॥१६॥

भक्तगण भगवान्‌के चरणकमलोंके पत्र सदृश अंगुलियोंकी कान्तिका भक्तिपूर्वक स्मरण करते-करते जिस प्रकार अविद्या द्वारा बद्ध कर्म वासनामय हृदय-ग्रन्थिका अनायास ही छेदन करते हैं, भक्तिरहित निर्विशेष योगी और यतिगण बहुत चेष्टाओंसे इन्द्रियोंको संयत करके भी उस प्रकार सहज रूपसे छेदन करनेमें समर्थ नहीं होते। अतएव ज्ञान-योगादिकी चेष्टाका परित्यागकर वासुदेव श्रीकृष्णका भजन करना चाहिये॥१६॥

श्रीमद्भा. ३/२३/५६ में बहिर्मुख-कर्मोंकी निन्दा करते हुए भगवान् कपिलदेव माता देवहूतिसे कहते हैं—

नेह यत्कर्म धर्माय न विरागाय कल्पते।
न तीर्थपदसेवायै जीवन्नपि मृतो हि सः॥१७॥

जो व्यक्ति अपने वर्णाश्रमोचित कर्मोंको धर्मके उद्देश्यसे नहीं करता और अपने धर्मको निष्काम होकर कृष्णेतर विषयोंके प्रति विरक्ति प्राप्त करनेके उद्देश्यसे नहीं करता, पुनः अपने धर्मसे उत्पन्न वैराग्यको तीर्थपाद श्रीकृष्णकी सेवाके उद्देश्यसे धारण नहीं करता है, तो वह जीवित रहनेपर भी मृतके समान है॥१७॥

श्रीमद्भा. १/१८/१२ में शौनक आदि ऋषियोंने श्रीसूत गोस्वामीसे कहा—

कर्मण्यस्मिन्ननाश्वासे धूमधूम्रात्मनां भवान्।
आपाययति गोविन्दपादपद्मासवं मधु॥१८॥

अहो! "जिनके फलकी प्राप्ति भी निश्चित नहीं है"—हम अनाश्वास (जिनपर विश्वास न किया जा सके, ऐसे) कर्मरूपी यज्ञका अनुष्ठान करते-करते उसके धुँएसे धूमिल और उसकी अग्निके तापसे तापित हो रहे थे, ऐसी अवस्थामें आपने हमें श्रीगोविन्दके चरणारविन्दोंका मकरन्द पान कराकर कृतार्थ कर दिया है॥१८॥

सकाम कर्ममें मूढ़ताको दर्शाते हुए श्रीशुकदेव गोस्वामी श्रीमद्भा. २/३/२-११ में कहते हैं—

ब्रह्मवर्चसकामस्तु यजेत ब्रह्मणः पतिम्।
इन्द्रमिन्द्रियकामस्तु प्रजाकामः प्रजापतीन्॥१९॥

मनुष्य ब्रह्मतेजकी कामनासे ब्राह्मणपति ब्रह्माका, इन्द्रियबलकी कामनासे इन्द्रका तथा सन्तान-प्राप्तिकी कामनासे प्रजापतियोंका भजन करता है॥१९॥

देवीमायान्तु श्रीकामस्तेजस्कामो विभावसुम्।
वसुकामो वसून् रुद्रान् वीर्यकामोऽथ वीर्यवान्॥२०॥

सौन्दर्य अथवा सांसारिक सुखकी कामनासे मायादेवीका, तेजकी कामनासे सूर्यका, धनकी कामनासे अष्ट वसुओंका और बलकी कामनासे बलवान पुरुष रुद्रका भजन करते हैं॥२०॥

अन्नाद्यकामस्त्वदितिं स्वर्गकामोऽदितेः सुतान्।
विश्वान् देवान् राज्यकामः साध्यान् संसाधको विशाम्॥२१॥

अन्नादिकी कामना करनेवाले अदितिकी, स्वर्गकी कामना करनेवाले अदितिपुत्र देवताओंकी, राज्यकामी व्यक्ति विश्वदेवताकी और स्वाधीनता प्रयासी अर्थात् कृषि और वाणिज्य आदिमें सम्पूर्ण स्वाधीनता चाहनेवाले साध्या (मन, मन्ता और प्रमुञ्च आदि बारह) देवताओंकी पूजा करते हैं॥२१॥

आयुष्कामोऽश्विनौ देवौ पुष्टिकाम इलां यजेत्।
प्रतिष्ठाकामः पुरुषो रोदसी लोकमातरौ॥२२॥

आयुकी कामना करनेवाले अश्विनी कुमारोंकी, पुष्टिकामी पृथ्वीकी और प्रतिष्ठाकामी पुरुष लोकमाता पृथ्वी और स्वर्गकी पूजा करते हैं॥२२॥

रूपाभिकामो गन्धर्वान् स्त्रीकामोऽप्सर उर्वशीम्।
आधिपत्यकामः सर्वेषां यजेत परमेष्ठिनम्॥२३॥

रूपकी कामना करनेवाले गन्धर्वोंकी, स्त्रीकामी अप्सरा उर्वशीकी और सबके ऊपर आधिपत्यकी कामना करनेवाले सर्वप्रधान ब्रह्माकी पूजा करते हैं॥२३॥

यज्ञं यजेद् यशस्कामः कोषकामः प्रचेतसम्।
विद्याकामस्तु गिरिशं दाम्पत्यार्थ उमां सतीम्॥२४॥

यशकी कामना करनेवाले यज्ञपति विष्णुका, कोष (खजानेमें संचित धन) की कामना करनेवाले प्रचेताओंका, विद्याकी कामना करनेवाले शिवका और दाम्पत्य-सुखकी कामना करनेवाले उमादेवीका भजन करते हैं॥२४॥

धर्मार्थ उत्तमःश्लोकं तन्तुं तन्वन् पितृन यजेत्।
रक्षाकामः पुण्यजनानोजस्कामो मरुद्गणान्॥२५॥

धर्मार्थ कामी उत्तमश्लोक विष्णुकी, प्रजा-विस्तृति-कामी (वंश परम्पराको बढ़ानेकी इच्छावाले) पितरोंकी, रक्षाकामी पुण्यवान यक्षोंकी और ओजकामी मरुद्-देवताओंकी पूजा करते हैं॥२५॥

राज्यकामो मनून् देवान्निर्ऋतिं त्वभिचरन् यजेत्।
कामकामो यजेत् सोममकामः पुरुषं परम्॥२६॥

राज्यकामी व्यक्ति मनु एवं देवताओंकी, शत्रुकी मृत्युकी इच्छा करनेवाले राक्षसोंकी, काम भोगके इच्छुक सोमकी पूजा करते हैं और अकामी (अर्थात् जो अपनी कामनाओंका क्षय करना चाहता है, वे) परमपुरुष भगवान्‌की भक्ति करते हैं॥२६॥

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥२७॥

भगवान् समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाले हैं। दूसरे देवता उन्हींकी कृपासे ही साधारण फल देते हैं—ऐसा जानकर बुद्धिमान व्यक्ति वह चाहे निष्काम हो, समस्त कामनाओंसे युक्त हो अथवा

मोक्ष चाहता हो, तीव्र भक्तियोगके द्वारा केवल पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णका ही यजन करता है॥२७॥

एतावानेव यजतामिह निःश्रेयसोदयः।
भगवत्यचलो भावो यद्भागवतसङ्गतः॥२८॥

इस संसारमें यजन करनेवाले व्यक्तियोंका परम सौभाग्य उदय हुआ है, यह केवल तभी कहा जा सकता है, जब किसी भागवत (भगवान्के प्रेमीभक्त) के सङ्गसे उनके हृदयमें भगवान्के श्रीचरणकमलोंके प्रति अचल प्रेम उदित हो जाये।

यजन एक प्रकारका सकाम कर्म विशेष है, किन्तु भगवान्का भजन निष्काम होता है॥२८॥

श्रीमद्भा. ११/१४/२० में श्रीकृष्ण उद्धवसे कहते हैं—

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥२९॥

अष्टाङ्गयोग, सांख्य-ज्ञान, स्वाध्याय अर्थात् वेदाध्ययन, तपस्या और संन्यासके द्वारा कोई मुझे प्रसन्न नहीं कर सकता। यदि किसी अवस्थामें वह मुझे प्रसन्न करता भी हो, तो भी मेरी प्रदीप्ता (दिन-प्रतिदिन अभिवर्द्धित होनेवाली) भक्ति जिस तरह मुझे प्रसन्न करती है, उस तरह वह मुझे प्रसन्न नहीं कर पाता॥२९॥

श्रीमद्भा. १२/३/४८-४९ में श्रीशुकदेव गोस्वामी परीक्षित्से कहते हैं—

विद्यातपःप्राणनिरोधमैत्री-तीर्थाभिषेकव्रतदानजप्यैः ।
नात्यन्तशुद्धिं लभतेऽन्तरात्मा यथा हृदिस्थे भगवत्यनन्ते॥३०॥

विद्या, तप, प्राणायाम, मैत्री (सभी प्राणियोंके हितकी अकांक्षा), तीर्थ स्नान, व्रत, दान और जप द्वारा अन्तरात्मा इतनी पवित्र नहीं होती, जितनी हृदयमें भगवान् अनन्तके स्थित होनेसे होती है॥३०॥

तस्मात् सर्वात्मना राजन् हृदिस्थं कुरु केशवम्।
म्रियमाणो ह्यवहितस्ततो यासि परां गतिम्॥३१॥

हे राजन्! अतएव सब प्रकारसे सर्वस्वरूप केशवको हृदयमें धारण करो। ऐसा करनेसे मृत्युके समय व्यक्ति निश्चय ही परागतिको प्राप्त करता है॥३१॥

केवल-ज्ञान तथा उसकी प्राप्तिके लिए प्रयास करते रहनेवाले व्यक्तिको धिक्कार देते हुए श्रीब्रह्मा श्रीमद्भा. १०/१४/३-४ में भगवान्से कहते हैं—

ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव
जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्ताम्।
स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभि-
र्ये प्रायाशोऽजित जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम्॥३२॥

जो लोग ज्ञानके प्रयासका[१] सम्पूर्ण रूपसे परित्याग करके शरणागत होकर भक्तिपूर्वक साधुओंके मुखसे आपके नाम-रूप-गुण-लीला सम्बन्धी कथाओंको श्रवण पथमें प्रविष्ट कराते हुए तन, मन और वचनके द्वारा उस कथाका सत्कार करते-करते स्थानस्थित अर्थात् अपने-अपने आश्रम व साधुसङ्गमें रहकर जीवन-यापन करते हैं, हे अजित! इस त्रिलोकीमें वे ही आपको वशीभूत कर पाते हैं, अर्थात् आप जैसे अजितको भी जीत लेते हैं॥३२॥

श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥३३॥

श्रेयः अर्थात् वास्तविक कल्याणको प्राप्त करनेका एकमात्र उपाय भक्ति ही है। हे विभो! भक्तिको त्यागकर जो लोग बोध-उपलब्धि (भक्तिशून्य ज्ञान-प्राप्ति) के लिए प्रयास करते हैं,

[१] प्राकृत इन्द्रियोंके ज्ञान द्वारा भगवान्के स्वरूप, ऐश्वर्य और महिमाको समझनेका प्रयास।

उनका वास्तविक कल्याण हो पाना सम्भवपर नहीं है, उन्हें तो अन्तमें केवल क्लेश ही प्राप्त होता है। जैसे स्थूलतुषावघाती अर्थात् थोथी भूसी कूटनेवाले व्यक्तिको क्लेशमात्र ही प्राप्त होता है, उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं॥३३॥

श्रीकपिलमुनि श्रीमद्भा. ३/२५/४४ में केवल भक्तिको ही अभिधेयके लक्षणके रूपमें प्रतिपादित करते हुए कह रहे हैं—

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां निःश्रेयसोदयः।
तीव्रेण भक्तियोगेन मनो मय्यर्पितं स्थिरम्॥३४॥

कर्म, ज्ञान, योग आदि साक्षात् अभिधेय नहीं हैं। इनका जो कुछ भी अभिधेयत्व है, वह केवल गौण रूपमें ही है। अतएव शुद्धभक्ति ही समस्त शास्त्रोंमें अभिधेयके रूपमें निर्णीत हुई है। इसलिए भगवान्ने कहा है कि तीव्र अर्थात् दृढ़ भक्तियोगके द्वारा मुझमें अपने मनको लगाना ही जगत्-वासियोंके लिए परम मङ्गल उदय करानेका एकमात्र उपाय है॥३४॥

श्रीमद्भा. १/२/६-१० में श्रीसूतगोस्वामी शौनकादि ऋषियोंसे कहते हैं—

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययाऽऽत्मा सुप्रसीदति॥३५॥

जीवोंके लिए वही परमधर्म है, जिसके अनुष्ठानसे अधोक्षज भगवान्में अहैतुकी और अप्रतिहता (विघ्न-बाधारहित) भक्तिका उदय होता है। इसी भक्तिसे ही आत्मा प्रसन्न होती है। अहैतुकी अर्थात् निष्काम (जिसका अनुष्ठान किसी प्रकारकी कामनासे न किया गया हो) और स्वाभाविकी। अप्रतिहता अर्थात् जिसका कोई प्रतिरोध नहीं कर सकता॥३५॥

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम्॥३६॥

उस परमधर्मके अनुष्ठानके द्वारा भक्तिको उदित करानेकी जो चेष्टा है, उसीका नाम भक्तियोग है। भगवान् वासुदेवके प्रति इस भक्तियोगके अनुष्ठित होनेसे अनायास ही सांसारिक विषयोंमें वैराग्य और अभेद-सन्धानरहित (मायावादियों द्वारा अभिलषित सायुज्य मुक्तिके सन्धानसे रहित) शुद्धज्ञानका उदय होता है॥३६॥

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः।
नोत्पादयेत् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम॥३७॥

भक्तिके लिए 'परमधर्म' शब्दके व्यवहार करनेका तात्पर्य यह है कि कई बार लोग भक्तिके अतिरिक्त अन्यान्य धर्मों (वर्णाश्रमधर्म, यतिधर्म आदि) को ही सर्वश्रेष्ठ धर्म मानकर उसका पालन तो करते हैं, किन्तु उसके फलस्वरूप वे भक्तिसे बहिर्मुख हो जाते हैं। जब उनके द्वारा उत्तम रूपसे अनुष्ठित वर्णाश्रमधर्म श्रीकृष्णमें रति उत्पन्न नहीं करा सकता, तब उनके अनुष्ठानका फल केवलमात्र परिश्रम ही है॥३७॥

धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते।
नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः॥३८॥

अब परमधर्मका लक्षण बता रहे हैं—अपवर्ग (मुक्ति) को प्राप्त करानेवाला धर्म एक प्रकारका है और त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) को प्राप्त करानेवाला धर्म और एक प्रकारका है। बाहरी रूपसे दोनों प्रकारके धर्मोंका पालन करनेमें बहुत थोड़ा ही भेद है, परन्तु उन दोनोंकी निष्ठामें भेद ही मुख्य बात है। त्रिवर्गको प्राप्त करनेके उद्देश्यसे जिस धर्मका पालन किया जाता है, वह धर्म (पुण्य), अर्थ और कामको उत्पन्न कराके ही निरस्त हो जाता है, किन्तु अपवर्ग (मुक्ति प्राप्त करनेके उद्देश्यसे पालन किया गया) धर्म त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) द्वारा सीमाबद्ध नहीं होता। अपवर्गधर्म द्वारा प्राप्त अर्थ कामनाओंकी पूर्तिके लिए व्यवहृत नहीं किया जाता। यद्यपि यह सत्य है कि धर्मका पालन

करनेसे जो अर्थ प्राप्त होता है, उससे व्यक्तिकी कामनाएँ पूर्ण होती हैं, तथापि कामनाओंकी पूर्ति ही धर्म पालन करनेका वास्तविक फल नहीं है।

कहनेका तात्पर्य यह है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामक चार पुरुषार्थोंमेंसे पहले तीनको प्राप्त करनेके लिए त्रैवर्गिक नामक धर्म तथा चौथे मोक्षको प्राप्त करनेके लिए अपवर्ग नामक धर्मका पालन किया जाता है। धर्मका वास्तविक फल मोक्ष (भक्ति) है, उसकी सार्थकता अर्थ प्राप्तिमें नहीं है। अर्थ तो केवल जीवन-यापनके लिए है। भोग विलास उसका फल नहीं माना जा सकता॥३८॥

कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता।
जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः॥३९॥

अपवर्गधर्ममें इन्द्रियोंको प्रिय लगनेवाले त्रिवर्ग धर्मके पालनसे प्राप्त कामका कोई स्थान नहीं है। अपवर्ग धर्मका पालन करनेसे जो अर्थ प्राप्त होता है, वह भौतिक कामनाओंकी पूर्तिके लिए नहीं, बल्कि जीवन यात्राका निर्वाह करनेके लिए ही उपयोगमें लाया जाता है। कामनाओंकी पूर्ति जीवनका चरम उद्देश्य नहीं है, इसलिए इन्द्रियोंकी तृप्तिका अनुसन्धान इस अपवर्ग धर्ममें नहीं है। निष्पाप, सहज और सरल रूपसे जीवनका निर्वाह करते हुए जीवनके प्रधान उद्देश्य—वास्तविक तत्त्वकी जिज्ञासाको सम्पादित करना ही अपवर्ग धर्मका तात्पर्य है। अपवर्ग धर्म द्वारा प्राप्त हुआ अर्थ, कर्मकाण्डी व्यक्ति द्वारा प्राप्त किये गये अर्थसे सम्पूर्ण रूपमें भिन्न है॥३९॥

श्रीमद्भा. १/२/१२-१३ में इस प्रकार कहा गया है—

तच्छ्रद्दधाना मुनयो ज्ञानवैराग्ययुक्तया।
पश्यन्त्यात्मनि चात्मानं भक्त्या श्रुतगृहीतया॥४०॥

अपवर्ग दो प्रकारका होता है—(१) अभेद-अपवर्ग—सायुज्य और (२) अचिन्त्य-भेदाभेद मतके अनुसार शुद्ध आत्माका

धर्म—पराभक्ति। पूर्व विचारके अनुसार श्रद्धावान मुनिजन वेद और गुरुके द्वारा दिये गये ज्ञान-वैराग्यसे युक्त शुद्धाभक्तिकी कृपासे परमात्मतत्त्वमें आत्माको देखते हैं अर्थात् जीवात्माको भगवान्‌के सेवकके रूपमें देखते हैं॥४०॥

अतः पुम्भिर्द्विजश्रेष्ठा वर्णाश्रमविभागशः।
स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम्॥४१॥

हे द्विजश्रेष्ठ शौनकादि ऋषियो! मनुष्य अपने-अपने वर्ण तथा आश्रमके विभागानुसार जिस धर्मका उत्तम रूपसे अनुष्ठान करते हैं, उसकी पूर्ण सिद्धि इसीमें है कि भगवान् श्रीहरि प्रसन्न हों॥४१॥

अब शुद्धाभक्तिका लक्षण बताया जा रहा है। इसके विषयमें श्रीकपिलदेव माता देवहूतिसे श्रीमद्भा. ३/२५/३२-३३ में कह रहे हैं—

देवानां गुणलिङ्गानामनुश्रविककर्मणाम्।
सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या।
अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी॥४२॥

वेद विहित क्रियाओंके विषय स्वरूप सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणके अधिष्ठातृ देवताओंमेंसे सत्त्वाधिष्ठित विष्णुके प्रति जीवकी जो स्वाभाविक मनोवृत्ति है, उसीको भक्ति कहते हैं। भागवती भक्ति अनिमित्ता अर्थात् फलानुसन्धान (फलकी इच्छासे) रहित होती है—यह सायुज्य मुक्तिकी अपेक्षा श्रेष्ठ है। वस्तुतः यह भक्तिका अति साधारण लक्षण है। साधक जब तक निर्गुण अवस्था प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक वह अपने-अपने प्राकृतिक गुण तथा भावके अनुसार ही भगवान् विष्णुकी भक्ति करें। यही प्राथमिक साधनभक्ति कहलाती है। किन्तु निर्गुण अवस्थामें स्थित व्यक्ति वस्तुतः निर्गुण विष्णुकी भक्ति करें। यह निर्गुणभक्ति **वैधी** एवं **भावभक्ति** के भेदसे दो प्रकारकी होती है। शुद्ध-निर्गुण अवस्था प्राप्त करनेपर साधकको विष्णुतत्त्वकी भी पराकाष्ठा कृष्णतत्त्वके प्रति शुद्ध भावभक्तिका याजन करना चाहिये॥४२॥

जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा॥४३॥

यह शुद्धाभक्ति जिनके हृदयमें उदित होती है, उनका लिङ्गशरीर अति शीघ्र ऐसे भस्म हो जाता है, जैसे उद्दीप्त जठरानल खाये हुए अन्नको शीघ्र पचा देता है॥४३॥

(श्रीमद्भा. ३/२९/११-१२)

मद्‌गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥४४॥

जब कोई निर्गुण-भक्तिका आश्रय ग्रहण करता है, तब मेरे (भक्त-वात्सल्य आदि) गुणोंको श्रवण करनेमात्रसे ही मुझ सर्वान्तर्यामीके प्रति उसकी मति ऐसी अविच्छिन्न हो जाती है, जैसे गङ्गाजल समुद्रमें जाकर अविच्छिन्न हो जाता है (अर्थात् गङ्गाजल जब समुद्रमें मिलनेका प्रयास करता है, तब समुद्र द्वारा लहरोंके माध्यमसे उसे पुनः-पुनः बाहरकी ओर फैंके जानेपर भी वह जिस प्रकार समुद्रमें मिलनेका आग्रह करता है, उसी प्रकार मेरा भक्त मेरे द्वारा सालोक्य, सारूप्य आदि मुक्ति दिये जानेपर भी स्वीकार नहीं करता, बल्कि मेरी सेवाको ही प्राप्त करनेके लिए सचेष्ट रहता है)—यही उस निर्गुण-भक्तिका स्वरूप है॥४४॥

लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे॥४५॥

पुरुषोत्तम अर्थात् श्रीकृष्णके प्रति जिस अहैतुकी, अव्यवहिता (व्यवधानरहित) भक्तिका उदाहरण दिया गया है, वही निर्गुण-भक्तियोगका लक्षण है। अव्यवहिता अर्थात् अन्याभिलाष और ज्ञान, कर्म, योगादिके द्वारा उपस्थित किये गये व्यवधानसे रहित॥४५॥

श्रीमद्भा. २/३/१२ में श्रीशुकदेव गोस्वामी राजा परीक्षित्‌से कहते हैं—

ज्ञानं यदा प्रतिनिवृत्तगुणोर्मिचक्र–
मात्मप्रसाद उत यत्र गुणेष्वसङ्गः।
कैवल्यसम्मतपथस्त्वथ भक्तियोगः
को निर्वृतो हरिकथासु रतिं न कुर्यात्॥४६॥

जब ज्ञान प्रकृतिके तीन प्रकारके गुणोंके चक्रसे मुक्त हो जाता है अर्थात् जब निर्गुण–सम्बन्धज्ञानका उदय होता है, तब आत्मा प्रसन्न हो जाती है एवं गुणसङ्गरहित (प्रकृतिके तीन गुणोंसे अनासक्त होकर) केवल चिन्मय स्वरूपमें प्रकाश पाती है। इस अवस्थामें पहुँचनेपर कैवल्य सम्मत निर्गुण भक्तियोग उदित होता है, अतएव ऐसा निर्वृत्त पुरुष कौन होगा, जो हरिकथामें रति नहीं करेगा॥४६॥

(श्रीमद्भा. २/३/१७)

आयुर्हरति वै पुंसामुद्यन्नस्तं च यन्नसौ।
तस्यर्ते यत्क्षणो नीत उत्तमःश्लोकवार्तया॥४७॥

ऐसी अवस्थामें अव्यर्थ कालत्वबुद्धि उत्पन्न होती है अर्थात् भक्त अपने एक क्षणको भी नष्ट नहीं करना चाहता। क्योंकि वह जानता है कि सूर्य प्रतिदिन उदित और अस्त होकर जीवोंकी हरिकथाहीन आयुको हरण करता है, केवल जो समय हरिकथाके श्रवणमें व्यतीत होता है, वह उन क्षणोंका ही अपहरण नहीं कर सकता॥४७॥

(श्रीमद्भा. २/८/४)

शृण्वतः श्रद्धया नित्यं गृणतश्च स्वचेष्टितम्।
नातिदीर्घेण कालेन भगवान् विशते हृदि॥४८॥

जब साधक श्रद्धापूर्वक नित्यप्रति अपने इष्टदेवके नाम, रूप, गुण और लीला आदिका श्रवण और कीर्त्तन करता है तो कुछ ही समयमें भगवान् उसके हृदयमें प्रवेश कर जाते हैं॥४८॥

श्रीमद्भा. २/८/५ में राजा परीक्षित् श्रीशुकदेव गोस्वामीसे कहते हैं—

प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण स्वानां भावसरोरुहम्।
धुनोति शमलं कृष्णः सलिलस्य यथा शरत्॥४९॥

जब भगवान् कर्णरन्ध्रोंके द्वारा भक्तोंके हृदयमें प्रविष्ट होते हैं, तब दास्य-सख्य आदि भावरूपी कमलके आसनपर स्थित काम-क्रोधरूपी मलिनताका ऐसे परिष्कार कर देते हैं, जैसे शरदकाल उपस्थित होकर नदियोंके जलको सम्पूर्ण रूपसे परिष्कृत कर देता है॥४९॥

श्रीमद्भा. २/१/१३ में श्रीशुकदेव गोस्वामीने राजा परीक्षित्से कहा—

खट्वाङ्गो नाम राजर्षिर्ज्ञात्वेयत्तामिहायुषः।
मुहूर्तात् सर्वमुत्सृज्य गतवानभयं हरिम्॥५०॥

खट्वाङ्ग नामक एक राजर्षिको जब यह पता चला कि मेरी आयुका केवल एक ही महूर्त्त रह गया है, तब वे अपना सर्वस्व परित्यागकर अभयस्वरूप श्रीहरिके शरणागत हुए थे॥५०॥

श्रीमद्भा. २/१/१२ में कहा गया है—

किं प्रमत्तस्य बहुभिः परोक्षैर्हायनैरिह।
वरं मुहूर्तं विदितं घटते श्रेयसे यतः॥५१॥

भोगोंमें प्रमत्त व्यक्तिकी बहुत लम्बी आयुका भी क्या लाभ? इसके स्थानपर श्रद्धावान व्यक्तिके (परमधर्मसे) ज्ञात एक मुहूर्त्तका जीवन भी परमश्रेयको उत्पन्न करानेका कारण बन जाता है॥५१॥

श्रीमद्भा. २/१/२-७ में भी कहा गया है—

श्रोतव्यादीनि राजेन्द्र नृणां सन्ति सहस्रशः।
अपश्यतामात्मतत्त्वं गृहेषु गृहमेधिनाम्॥५२॥

हे राजेन्द्र! जो आत्मतत्त्वके प्रति दृष्टिपात नहीं करते, ऐसे गृहस्थित गृहमेधी मनुष्योंके लिए श्रवण करने योग्य हजारों-हजारों विषय उपलब्ध हैं॥५२॥

निद्रया ह्रियते नक्तं व्यवायेन च वा वयः।
दिवा चार्थेहया राजन् कुटुम्बभरणेन वा॥५३॥

गृहमेधी व्यक्तिकी रात निद्रा अथवा स्त्री-सङ्गरूपी मौज-मस्तीमें तथा दिन अर्थ प्राप्तिकी चिन्ता और कुटुम्बके भरण-पोषणमें व्यतीत होता है॥५३॥

देहापत्यकलत्रादिष्वात्मसैन्येष्वसत्स्वपि ।
तेषां प्रमत्तो निधनं पश्यन्नपि न पश्यति॥५४॥

सांसरिक व्यक्ति अपने शरीर, पुत्र और पत्नी आदि जैसे असत् पात्रोंको अपनी सेना मानकर मदमस्त रहता है तथा मृत्युको अपने निकट आया देखकर भी देखना नहीं चाहता॥५४॥

तस्माद् भारत सर्वात्मा भगवानीश्वरो हरिः।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताऽभयम्॥५५॥

अतएव हे भारत! जो अभय प्राप्त करना चाहते हैं, वे सर्वात्मा ईश्वर भगवान् श्रीहरिके विषयमें ही श्रवण, कीर्त्तन एवं स्मरण करें॥५५॥

एतावान् सांख्ययोगाभ्यां स्वधर्मपरिनिष्ठया।
जन्मलाभः परः पुंसामन्ते नारायणस्मृतिः॥५६॥

सांख्य, अष्टाङ्गयोग और स्वधर्मके प्रति निष्ठा रखनेपर मनुष्य जन्मका क्या फल उद्दिष्ट हुआ है? किसी भी प्रकारसे अन्तमें अथवा मृत्युके समय नारायणका स्मरण हो जाये—यही उनका उद्देश्य है। अतएव (अत्यधिक कठोर साधन करनेपर भी फल-प्राप्तिकी अनिश्चिताके कारण) सांख्य, योग आदि चेष्टाओंको गौण जानकर (जिसके द्वारा सहज रूपसे अतिशीघ्र भगवत्-चरणारविन्दोंमें मति स्थिर हो जाये, उस) मुख्य भक्तिके लिए प्रयासरूपी साधन ही श्रेयस्कर है॥५६॥

प्रायेण मुनयो राजन् निवृत्ता विधिसेधतः।
नैर्गुण्यस्था रमन्ते स्म गुणानुकथने हरेः॥५७॥

हे राजन्! इसलिए मुनिगण अखिल विधि-निषेधकी चेष्टाका परित्यागकर निर्गुण अवस्थामें स्थित होकर श्रीकृष्णके गुणोंके कथोपकथनमें ही रमण करते हैं॥५७॥

श्रीमद्भा. २/१/११ में श्रीशुकदेव गोस्वामी महाराज परीक्षित्से कहते हैं—

एतन्निर्विद्यमानानामिच्छतामकुतोभयम्।
योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्त्तनम्॥५८॥

हे राजन्! श्रुति, स्मृति आदि शास्त्रोंमें यही अभिधेयके रूपमें निर्णय किया गया है कि यदि किसी विरक्त योगी पुरुषको अभय प्राप्त करनेकी अभिलाषा हो, तो उसे निरन्तर श्रीहरिके नामोंका ही कीर्त्तन करना चाहिये॥५८॥

भक्तिके अधिकारीका निर्णय करते हुए श्रीकृष्ण श्रीमद्भा. ११/२०/७-९ में उद्धवसे कह रहे हैं—

निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु।
तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम्॥५९॥

जिन्हें कर्म एवं कर्मफलसे निर्वेद (वैराग्य) हो गया है, वे ज्ञानयोगके अधिकारी हैं और जिन्हें वैराग्य नहीं हुआ है एवं जो कामनायुक्त हैं, वे कर्मयोगके अधिकारी हैं॥५९॥

यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान्।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः॥६०॥

किसी भी पूर्व अथवा आधुनिक सुकृतिके फलस्वरूप मेरी कथाके प्रति श्रद्धा उत्पन्न होनेके कारण जिनके चित्तमें निर्विण्ण अर्थात् शुष्क वैराग्य उदित नहीं हुआ है (तथा साथ-ही-साथ उसकी जड़वस्तुओंमें) अत्यधिक आसक्ति भी नहीं है। ऐसे

व्यक्तियोंके लिए भक्तियोग सिद्धिप्रद हुआ करता है। 'अनिर्विण्णचित्त' कहनेका तात्पर्य है कि शुष्क वैराग्यके प्रति उनका कोई आग्रह नहीं हुआ है, बल्कि अनासक्त भावसे कृष्ण सम्बन्धमें नियुक्त होकर समस्त विषयोंका यथायोग्य भोग करनेके लिए प्रस्तुत हैं। श्रद्धा ही इसका मूल है॥६०॥

तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥६१॥

ज्ञानमार्गस्थित व्यक्तिमें जब तक वैराग्य उदित न हो जाये तथा भक्तिमार्गस्थित व्यक्तिमें जब तक मेरी कथाओंके श्रवण–कीर्त्तनमें श्रद्धा उत्पन्न न हो जाये, तब तक उन्हें कर्म ही करने चाहिये। ज्ञानमार्गका व्यक्ति वैराग्यके उदय होनेपर ही कर्मत्यागका अधिकारी बनता है, जब कि भक्तिमार्गमें स्थित व्यक्ति हरिकथामें श्रद्धा–मात्रसे ही कर्मको त्याग करनेका अधिकारी बनता है। भक्तोंको स्वधर्मानुष्ठानका पालन केवल तभी करना चाहिये, जब वह भक्तिके अनुकूल हो॥६१॥

श्रीमद्भा. ११/२०/११ में कहा गया है—

अस्मिन्लोके वर्तमानः स्वधर्मस्थोऽनघः शुचिः।
ज्ञानं विशुद्धमाप्नोति मद्भक्तिं वा यदृच्छया॥६२॥

इस लोकमें अवस्थित व्यक्ति यदि निष्पाप एवं पवित्र होकर स्वधर्मका पालन करता है, तब वह क्रमशः विशुद्धज्ञान लाभ करता है अथवा अतिभाग्यवान होनेसे यदृच्छा क्रमसे अर्थात् बिना किसी हेतुके अकस्मात् कृष्णभक्ति प्राप्त करता है॥६२॥

अधिकार निष्ठाको ही गुण कहते हैं। इसके विषयमें श्रीमद्भा. ११/२१/२ में कहा गया है—

स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितः।
विपर्ययस्तु दोषः स्यादुभयोरेष निश्चयः॥६३॥

जिस व्यक्तिका जैसा अधिकार है, वह वही करे। दूसरेका अनुरोध पालन करनेकी आवश्यकता नहीं है। अपने-अपने अधिकारके प्रति जो निष्ठा है, उसीका नाम गुण है। अधिकारगत निष्ठाका परित्याग ही दोष है। यही गुण और दोषका निर्णय है। अनादि कर्मों अर्थात् सुकृति एवं दुष्कृतिसे जो स्वभाव प्राप्त हुआ है, उसी स्वभावके द्वारा ही अपने अधिकारमें रतिका उदय होता है॥६३॥

भक्ति तीन प्रकारकी है—साधन, भाव एवं प्रेम लक्षणा। इसके सम्बन्धमें श्रीमद्भा. ११/३/३०-३१ में कहा गया है—

परस्परानुकथनं पावनं भगवद् यशः।
मिथो रतिर्मिथस्तुष्टिर्निवृत्तिर्मिथ आत्मनः॥६४॥

बद्धजीवके लिए साधनभक्ति ही अभिधेय है। इसी साधनभक्तिसे भावभक्ति एवं भावभक्तिसे प्रेमभक्ति होती है। इसलिए यहाँपर कहा गया है कि भगवत्-यश अत्यन्त पवित्रकारी है। भक्तगण उसीका ही परस्पर श्रवण और कीर्त्तन करें। इसीसे ही परस्परकी रति, तुष्टि और आत्म निवृत्ति उदित होगी॥६४॥

स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहरं हरिम्।
भक्त्या संजातया भक्त्या बिभ्रत्युत्पुलकां तनुम्॥६५॥

इति श्रीमद्भागवतार्कमरीचिमालायां अभिधेयतत्त्वप्रकरणे
शास्त्राभिधेयविचारो नाम एकादशः किरणः॥

परस्पर अघनाशन हरिका स्मरण करते और कराते हुए साधनभक्तिसे पराभक्तिका उदय होता है। उस पराभक्तिके द्वारा शरीर पुलकित हो पड़ता है॥६५॥

एकादश किरणकी 'मरीचिप्रभा' नामक गौड़ीय-व्याख्याका भावानुवाद समाप्त॥

द्वादश किरण

साधनभक्ति

कृपया गौरचन्द्रस्य भक्तिर्या साधनाभिधा।
रूपिता यैर्नमामि तान् जीव-रूप-सनातनान्॥

मैं उन श्रीरूप गोस्वामी, श्रीसनातन गोस्वामी तथा श्रीजीव गोस्वामीके श्रीचरणोंमें विनम्र प्रणति करता हूँ, जिनके द्वारा श्रीगौरचन्द्रकी कृपासे साधन लक्षणा भक्तिका विस्तृत रूपसे विवेचन हुआ है।

श्रीकृष्णचैतन्यचन्द्राय नमः

श्रीमद्भा. ११/२३/४९ में अवन्तिका (उज्जैन) निवासी भिक्षु कहते हैं—

देहं मनोमात्रमिमं गृहीत्वा ममाहमित्यन्धधियो मनुष्याः।
एषोऽहमन्योऽयमिति भ्रमेण दुरन्तपारे तमसि भ्रमन्ति॥१॥

साधारणतः मनुष्य मात्रा अर्थात् मनकी वृत्तियों तथा इन्द्रिय आदिसे युक्त देहको ही 'मैं' और (पत्नी, पुत्र आदिकी देहको) 'मेरा' मानकर अल्प (विवेक ज्ञानशून्य) बुद्धि द्वारा विचार करते हैं कि "यह मेरा है, यह दूसरेका है" तथा इसीके फलस्वरूप भ्रमसे ग्रस्त होकर दुरन्तपार संसारमें ही भ्रमण करते रहते हैं॥१॥

श्रीमद्भा. ११/२२/३७ में भगवान् श्रीकृष्ण उद्धवसे कहते हैं—

मनः कर्ममयं नृणामिन्द्रियैः पञ्चभिर्युतम्।
लोकाल्लोकं प्रयात्यन्य आत्मा तदनुवर्तते॥२॥

मनुष्योंका कर्ममय मन पाँच इन्द्रियोंकी सहायतासे जो कुछ करता है, उसके द्वारा वह उसे (आत्माको) एक लोकसे दूसरे लोकमें ले जाता है। यद्यपि आत्मा मनसे भिन्न है, तथापि मन–आत्म अभिमानवशतः अर्थात् मनको ही आत्मा माननेके कारण जीव उसका अनुगमन करता है॥२॥

(श्रीमद्भा. ११/२३/६०)

तस्मात् सर्वात्मना तात निगृहाण मनो धिया।
मय्यावेशितया युक्त एतावान् योगसंग्रहः॥३॥

हे उद्धव! संक्षेपमें समस्त योगोंका तात्पर्य यही है कि मुझमें बुद्धिको आविष्टकर सब प्रकारसे मनको अपने वशमें करो॥३॥

(श्रीमद्भा. ११/२२/५८-५९)

क्षिप्तोऽवमानितोऽसद्भिःप्रलब्धोऽसूयितोऽथवा ।
ताडितः सन्निरुद्धो वा वृत्त्या वा परिहापितः॥४॥

निष्ठ्युतो मूत्रितो वाज्ञैर्बहुधैवं प्रकम्पितः।
श्रेयःस्कामः कृच्छ्रगत आत्मनात्मानमुद्धरेत्॥५॥

इस प्रकार दृढ़तापूर्वक निश्चय करो कि कोई तुम्हें धक्का दे, कोई तुम्हारा अपमान करे, कोई असत् व्यक्ति तुम्हारी वञ्चना करे, कोई तुमसे हिंसा करे, कोई तुम्हारी भर्त्सना करे, कोई तुम्हें बाँध दे, कोई तुम्हारी सम्पत्ति हरण कर ले, कोई तुम्हारे ऊपर थूके, कोई तुम्हारे शरीरपर मूत्र त्याग करे और कोई अज्ञ व्यक्ति तुम्हें अनेक प्रकारसे कष्ट दे, फिर भी तुम दृढ़ रूपसे श्रेयस्कामी बनो तथा मनको भक्त्याश्रित बुद्धिके द्वारा कुविषयसे अवश्य ही मुक्त कराओ॥४-५॥

साधन लक्षणा भक्ति भी वैधी एवं रागानुगा भेदसे दो प्रकारकी होती है। श्रीमद्भा. ७/१/३१ में श्रीनारद कहते हैं—

गोप्यः कामाद् भयात् कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः।
सम्बन्धाद् वृष्णयः स्नेहाद् यूयं भक्त्या वयं विभो॥६॥

काम, भय, द्वेष, सम्बन्ध और स्नेहसे अपने मनको भक्तिमें आविष्टकर उन-उन भावोंके दोषोंका त्यागकर अनेक मनुष्य भगवत्-गतिको प्राप्त हुए हैं। साधन सिद्धा गोपियोंने कामसे, कंसने भयसे, शिशुपाल आदि राजाओंने द्वेषसे, यदुवंशियोंने परिवारके सम्बन्धसे, तुम पाण्डवोंने स्नेहसे तथा मेरे (नारद) जैसे ऋषियोंने वैधीभक्तिसे अपने मनको भगवान्में लगाकर भगवत्-गति प्राप्त की है।

हे महाराज युधिष्ठिर! यद्यपि काम, भय, द्वेष, सम्बन्ध और स्नेह—ये सब साधारणतः रागभक्तिके लक्षण हैं, तथापि इनमेंसे भय और द्वेष—ये दो अनुकूल भावके विपरीत प्रतिकूल भाव होनेके कारण अनुकरणयोग्य नहीं हैं। (अतएव निष्कर्ष यह है कि काम, सम्बन्ध और स्नेह ही रागभक्तिके लक्षण हैं।)

हे महाराज युधिष्ठिर! कृष्णमें आवेश दो प्रकारसे होता है अर्थात् रागावेश और वैधावेश।

कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यका विचार करनेके उपरान्त कृष्ण भजनमें जो प्रवृत्ति होती है, वह विधिसे उत्पन्न होनेके कारण वैधी साधनभक्ति कहलाती है।

रागात्मिक भक्तोंके भावोंको देखकर साधकमें जिस भक्तके भावके प्रति लोभ जागृत होता है, वह साधक जब उन्हीं भावोंकी प्राप्तिके लिए उनके भावोंका अनुशीलन करते हुए साधनभक्ति करता है, तब उसकी भक्तिको रागानुगा साधनभक्ति कहते हैं। वैधीमार्गकी भक्ति विधिके सापेक्ष (अपेक्षा रखनेवाली) होनेके कारण दुर्बला होती है और रागानुगा साधनभक्ति सम्पूर्ण निरपेक्ष होनेके कारण स्वभावतः प्रबल होती है॥६॥

पूर्वोक्त श्लोकमें श्रीनारदने जो भक्त्या शब्द व्यवहार किया है, उसका अर्थ विधिभक्ति है। किन्तु यदि भक्ति कामरूपा और सम्बन्धरूपा रागात्मिक भक्तिके अनुगत होती है तभी रागानुगा साधनभक्ति कहलाती है।

अब सर्वप्रथम विधिभक्तिके विषयमें वर्णन किया जायेगा, क्योंकि जब तक राग उदित नहीं होता है, तब तक इस विधिभक्तिका अवश्य अवलम्बन करना चाहिये। श्रीमद्भा. ११/२७/७ में श्रीकृष्ण उद्धवसे कहते हैं—

वैदिकस्तान्त्रिको मिश्र इति मे त्रिविधो मखः।
त्रयाणामीप्सितेनैव विधिना मां समर्चयेत्॥७॥

वैधी साधनभक्तिमें वैदिक, तान्त्रिक एवं मिश्र—ये तीन प्रकारकी अर्चन विधियाँ हैं। इन तीन प्रकारकी अर्चनविधिके अनुसार अपनी-अपनी इच्छानुसार लोग मेरा अर्चन-पूजन करते हैं॥७॥

श्रीमद्भा. ११/३/४७ में छठे योगीश्वर आविर्होत्रने राजा निमिसे कहा—

य आशु हृदयग्रन्थिं निर्जिहीर्षुः परात्मनः।
विधिनोपचरेद् देवं तन्त्रोक्तेन च केशवम्॥८॥

जो व्यक्ति अपनी हृदय-ग्रन्थिको शीघ्र ही छेदन करना चाहते

हैं, वे वैष्णवतन्त्रमें वर्णित परात्म तन्त्र-विधि द्वारा श्रीकेशवकी अर्चना करें॥८॥

श्रीमद्भा. ७/५/२३-२४ में श्रीप्रह्लाद महाराज अपने पिता हिरण्यकशिपुको विधिभक्तिके नौ स्थूल अङ्गोंके विषयमें बतलाते हुए कहते हैं—

श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥९॥

इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा।
क्रियेत भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम्॥१०॥

वैधीभक्ति अनेक प्रकारकी होनेपर भी श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन नामक नौ अङ्गोंमें ही अन्यान्य सभी अङ्गोंको क्रोड़ीभूत कर लेती है। इन नौ लक्षणोंसे युक्त भक्तिको जो भगवान् विष्णुके प्रति साक्षात् अर्पित कर पाते हैं, शास्त्रोंके अनुसार वे ही सर्वश्रेष्ठ पण्डित हैं। साक्षात् शब्दका अर्थ व्यवधानरहित है। श्रीकृष्णकी भक्तिको छोड़कर अन्यान्य कामनाएँ तथा ज्ञान, कर्म और योग आदिकी चेष्टाएँ व्यवधान कहलाती है॥९-१०॥

(श्रवण)

सर्वप्रथम श्रौत्र परम्पराके अन्तर्गत आनेवाले साधु-गुरुके मुखसे भगवान्‌की कथाके श्रवण (नवधा भक्तिके सर्वप्रथम अङ्ग) का वर्णन। इस विषयमें श्रीकृष्ण श्रीमद्भा. ११/२०/१७ में उद्धवसे कहते हैं—

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं
प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं
पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा॥११॥

यह मनुष्य देह (सब प्रकारके वाञ्छित फलोंको प्राप्त करनेका मूल होनेके कारण) आद्य है। सुदुर्लभ होनेपर भी किसी भाग्यसे

सुलभ हुई है। यह एक सुदृढ़ नौका है। श्रीगुरुदेव इसके कर्णधार हैं। मेरी कृपारूपी अनुकूल वायुके द्वारा चलनेवाली ऐसी नौकाको प्राप्त करके भी जो इस संसाररूपी समुद्रसे पार होनेकी चेष्टा नहीं करते, वे आत्मघाती हैं। श्रीगुरु मुखसे सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजनके विषयमें श्रवण करना नितान्त आवश्यक है॥११॥

श्रीमद्भा. ११/३/२१-२२ में श्रीप्रबुद्ध निमिसे कहते हैं—

तस्मात् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्।
शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम्॥१२॥

कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यके विषयमें जिज्ञासु व्यक्ति अपने वास्तविक कल्याणसे अवगत होनेके लिए सद्गुरुका आश्रय ग्रहण करें। शब्द-ब्रह्मके ज्ञाता अर्थात् शास्त्रोंमें पारङ्गत एवं परे अर्थात् भगवत्तत्त्वमें परिनिष्ठित व्यक्ति ही सद्गुरु हैं। दूसरे शब्दोंमें, शास्त्रज्ञ एवं शुद्ध भक्त ही सद्गुरु हैं। विशेष रूपसे सोच समझकर सद्गुरुका आश्रय करना चाहिये॥१२॥

तत्र भागवतान् धर्मान् शिक्षेद् गुर्वात्मदैवतः।
अमाययानुवृत्त्या यैस्तुष्येदात्माऽऽत्मदो हरिः॥१३॥

साधकको चाहिये कि श्रीगुरुदेवको ही आत्मदेवता (अपना हितकारी बान्धव तथा परमाराध्य श्रीहरि स्वरूप) जानकर उनके निकट भागवत धर्मकी शिक्षा ग्रहण करे। शरणागत होकर निष्कपट भावसे गुरुपादपद्मकी सेवा करनेसे आत्मा अर्थात् आत्माके भी आत्मा तथा आत्मद अर्थात् आत्मप्रद (अपने आपको भी दे देनेवाले) भगवान् श्रीहरि सन्तुष्ट होते हैं॥१३॥

जगत्से आत्मतत्त्वके सम्बन्धमें शिक्षा ग्रहण करनेवाले विचक्षण व्यक्ति आत्म-अनात्मका अन्तर जाननेवाली बुद्धि द्वारा ही अपना उद्धार कर लेते है। श्रीमद्भा. ११/७/३२-३५ में भगवान् श्रीकृष्ण उद्धवसे कहते हैं—

सन्ति मे गुरवो राजन् बहवो बुद्ध्युपाश्रिताः।
यतो बुद्धमुपादाय मुक्तोऽटामीह तान् शृणु॥१४॥

पृथिवीवायुराकाशमापोऽग्निश्चन्द्रमा रविः।
कपोतोऽजगरः सिन्धुः पतङ्गो मधुकृद् गजः॥१५॥

मधुहा हरिणो मीनः पिङ्गला कुररोऽर्भकः।
कुमारी शरकृत् सर्प ऊर्णनाभिः सुपेशकृत्॥१६॥

एते मे गुरवो राजन् चतुर्विंशतिराश्रिताः।
शिक्षावृत्तिभिरेतेषामन्वशिक्षमिहात्मनः ॥१७॥

दीक्षा ग्रहण करनेके बाद भी यदि शिक्षा प्राप्ति अवशिष्ट रह जाये, तब शिक्षागुरु ग्रहण किया जा सकता है। सफलता प्राप्त करनेका मूल मन्त्र आत्म चेष्टा ही है। अवधूत दत्तात्रेयने कहा—हे महाराज यदु! मैंने अपनी सुबुद्धिके द्वारा स्वीकृत चौबीस गुरुओंको अपने हृदयमें गुरु रूपसे धारण किया है। उनके निकट सद्बुद्धि प्राप्त करके मैं मुक्त भावसे इस पृथ्वीपर विचरण करता हूँ। मेरे चौबीस गुरुओंके नाम पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, चन्द्र, सूर्य, कबूतर, अजगर, समुद्र, पतङ्ग, भौंरा या मधुमक्खी, हाथी, शहद निकालनेवाला व्यक्ति, हरिण, मछली, पिङ्गला नामक वेश्या, कुरर पक्षी, बालक, कुँआरी कन्या, बाण बनानेवाला, सर्प, मकड़ी और कुमारिका (भृङ्गी) कीट हैं।

तत्त्व शिक्षा तीन प्रकारसे प्राप्तकी जा सकती है—साधु व्यक्तिके उपदेशको श्रवण करके, साधु व्यक्तिके चरित्रको देखकर और सद्बुद्धि द्वारा लोगोंके आचरणको देखकर। मैंने अपनी सद्बुद्धि द्वारा इन सभी गुरुओंकी क्रियाओंको देखकर अपनी योग्यतानुसार इनसे अनेक शिक्षाएँ ग्रहण की हैं।

मैंने अपने जिस गुरुसे जिस प्रकार जो शिक्षा ग्रहण की है, मैं अब उसके विषयमें बता रहा हूँ, श्रवण कीजिये—

(१) मैंने पृथ्वीसे धैर्य, सत् मार्गके प्रति दृढ़ता और क्षमाकी शिक्षा ली है। पृथ्वीपर स्थित पर्वतोंसे परोपकार और निर्जनमें वास तथा पृथ्वीपर स्थित वृक्षोंसे दूसरोंके उपकारके लिए ही जीवन धारण करनेकी शिक्षा ग्रहण की है।

(२) वायुसे अनासक्त होकर जीवन यापन करनेकी शिक्षा ग्रहण की है।

(३) आकाशसे भिन्न-भिन्न स्थानोंपर रहनेके बावजूद, उन सबसे उदासीन रहनेकी शिक्षा ग्रहण की है।

(४) जलसे स्वच्छता, स्निग्धता (मधुरता) और पवित्रता आदि गुणोंकी शिक्षा ग्रहण की है।

(५) अग्निसे सर्वभक्ष्य होते हुए भी अलिप्तताकी शिक्षा ग्रहण की है।

(६) यद्यपि जिसकी गति नहीं जानी जा सकती, उस कालके प्रभावसे चन्द्रकी कलाएँ घटती-बढ़ती रहती हैं, तथापि चन्द्र तो चन्द्र ही है, वह न घटता है और न ही बढ़ता है; उसी प्रकार जन्मसे लेकर मृत्यु पर्यन्त जितनी भी अवस्थाएँ है, सब शरीरकी हैं, आत्मासे उनका कोई भी सम्बन्ध नहीं है—यह शिक्षा मैंने चन्द्रसे प्राप्त की है।

(७) सूर्यसे मैंने यह शिक्षा ग्रहण की है कि जिस प्रकार वे वाष्पके द्वारा जल-ग्रहण करनेपर भी समय आनेपर वर्षाके माध्यमसे जल प्रदान करते हैं, उसी प्रकार मैं भी इन्द्रियोंके विषयोंको एकत्र करनेपर भी याचकके उपस्थित होनेपर उसे प्रदान करूँगा।

मैंने सूर्यसे एक और भी शिक्षा प्राप्त की है—सूर्य जलके विभिन्न पात्रोंमें प्रतिबिम्बित होता हुआ भिन्न-भिन्न रूपोंमें दिखायी पड़ता है, पर वास्तवमें है एक ही, उसी प्रकार आत्मा भिन्न-भिन्न शरीरोंमें प्रवेश करनेपर बाहरी रूपसे भिन्न दिखायी देनेपर भी वास्तवमें एक ही है। ऐसा जानकर मैंने आत्माके दर्शनमें भिन्न-भिन्नत्वकी बुद्धिका त्याग कर दिया है।

(८) आसक्त कबूतरकी शोचनीय अवस्था देखकर कुटुम्ब एवं जगत्के अन्यान्य सभी व्यक्तियोंके प्रति आसक्तिका परित्याग करना सीखा है।

(९) अजगरसे मैंने प्रारब्धमें विश्वास, अनायास प्राप्त द्रव्य द्वारा जीवन यापन, धैर्य धारण और सन्तुष्ट रहनेकी शिक्षा ग्रहण की है।

(१०) समुद्रसे मैंने बाहरसे सम्पूर्ण रूपमें प्रसन्न, अन्दरसे गम्भीर, अलक्ष्याभिप्राय (अपने हृदगत भावोंको किसीको भी नहीं जानने देनेवाला), निश्चलता, अक्षुब्धता (किसी भी कारणसे क्षोभित न होने) और हर समय प्रशान्त भावसे रहनेकी शिक्षा ग्रहण की है।

(११) पतङ्गेको आगके रूपके प्रति मुग्धताके कारण मरते हुए देखकर मैंने यह शिक्षा ग्रहण की है कि मनुष्य कनक-कामिनी और वस्त्र आदिका उपभोग करनेके लोभसे लालायित होकर बुद्धि भ्रष्ट होनेके कारण अपना सर्वस्व गँवा बैठता है।

(१२) भौंरेसे आवश्यकतानुसार भोजन और माधुकरी वृत्तिकी शिक्षा ग्रहण की है। मैंने उससे यह भी सीखा है कि जिस प्रकार वह अनेक पुष्पोंसे मधुका संग्रह करता है, उसी प्रकार कल्याणकामी व्यक्तिको विभिन्न शास्त्रोंके सारका संग्रह करना चाहिये।

सञ्चय वस्तुके सहित उसकी मृत्युरूपी दुर्दशाको देखकर मैंने उससे असञ्चयकी शिक्षा भी ग्रहण की है।

(१३) हाथीकी दुर्गति देखकर स्त्रियोंके प्रति आसक्ति त्याग करनेकी शिक्षा ग्रहण की है।

(१४) मधुमक्खीके छत्तेसे शहद निकालनेवाले व्यक्तिसे सञ्चयके दुष्परिणामकी शिक्षा ग्रहण की है।

(१५) व्याधके गीत द्वारा हरिणको विनष्ट होते देखकर चरम दुःखदायक ग्राम्यगीतके श्रवणको त्याग करनेकी शिक्षा प्राप्त की है।

(१६) मछलीको जिह्वा-वेगके कारण नष्ट होते देखकर भोजनकी रसासक्तिको त्याग करनेकी शिक्षा प्राप्त की है। जिह्वापर विजय पाना बहुत कठिन है।

(१७) पिङ्गला नामक वेश्यासे नैराश्यकी (आशा ही परम दुःख और नैराश्य ही परम सुखका कारण है, ऐसी) शिक्षा ग्रहण की है।

(१८) कुररी पक्षीसे मैंने यह शिक्षा प्राप्त की है कि आसक्तिके विषयोंका त्याग करके ही सुखी हुआ जा सकता है।

(१९) बालकसे पारमहंस्य (निश्चिन्त और परमानन्दमें मग्न) और आत्मरति अर्थात् स्वतः सन्तुष्ट होनेकी शिक्षा ग्रहण की है।

(२०) कुँआरी कन्यासे जनसङ्ग और द्वैतके त्यागकी शिक्षा ग्रहण की है।

(२१) बाण बनानेवाले व्यक्तिसे एकाग्रचित्तसे साधन करनेकी शिक्षा ग्रहण की है।

(२२) सर्पसे अकेले ही विचरण करना, निर्दिष्ट वास स्थानके निर्माणसे शून्य, सावधान, एकान्तमें वास, अलक्ष्यगतिरूपी धर्मकी शिक्षा ग्रहण की है।

(२३) मकड़ीके जीवनसे मैंने यह शिक्षा ग्रहण की है कि भगवान् अपनी शक्तिसे ही सृष्टि, स्थिति और प्रलय करते हैं।

(२४) कुमारिका (भृङ्गी) कीटसे मैंने शिक्षा ग्रहण की है कि रागभक्तिके द्वारा ईश्वरका साधन भजन करना सहज हो जाता है॥१७॥

भगवदनुकूलताके लक्षण। श्रीमद्भा. ११/२९/६ में उद्धव श्रीकृष्णसे कहते हैं—

नैवोपयन्त्यपचितिं कवयस्तवेश
ब्रह्मायुषापि कृतमृद्धमुदः स्मरन्तः।
योऽन्तर्बहिस्तनुभृतामशुभं विधून्व-
न्नाचार्यचैत्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ति॥१८॥

हे ईश! कविगण (ब्रह्मज्ञ पुरुष) द्विपरार्ध कालकी परमायु प्राप्तकर आपके द्वारा किये गये उपकाररूपी कृपा-गुणोंका आनन्दके साथ स्मरण करके भी आपसे उऋण नहीं हो सकते, क्योंकि प्राणियोंके अशुभोंका नाश करके बाहरी रूपमें आप आचार्य होकर तथा अन्तरमें चैत्यगुरुके रूपमें स्वगतिकी अर्थात् अपने श्रीचरणकमलोंकी सेवा प्राप्तिकी शिक्षा प्रदान करते हैं॥१८॥

श्रीमद्भा. १२/४/४० में श्रीशुकदेव गोस्वामी राजा परीक्षित्‌से कह रहे हैं—

संसारसिन्धुमतिदुस्तरमुत्तितीर्षो—
र्नान्यः प्लवो भगवतः पुरुषोत्तमस्य।
लीलाकथारसनिषेवणमन्तरेण
पुंसो भवेद् विविधदुःखदवार्दितस्य॥१९॥

इस संसारमें जीव अनेक प्रकारके दुःखोंसे दुःखित हैं। संसाररूपी समुद्र अति दुस्तर है। जो लोग इससे पार जानेकी इच्छा करते हैं, उनके लिए भगवान् पुरुषोत्तमकी लीलाकथा-श्रवणके अतिरिक्त अन्य और कोई नौका नहीं है॥१९॥

श्रीमद्भा. ११/६/४७-४८ में उद्धव भगवान् श्रीकृष्णसे कहते हैं—

वातवसना ऋषयः श्रमणा ऊर्ध्वमन्थिनः।
ब्रह्माख्यं धाम ते यान्ति शान्ताः संन्यासिनोऽमलाः॥२०॥

वयंत्विह महायोगिन् भ्रमन्तः कर्मवर्त्मसु।
त्वद्वार्तया तरिष्यामस्तावकैर्दुस्तरं तमः॥२१॥

योगी, ऋषि, ऊर्ध्वरेता, शान्त एवं संन्यासी पुरुष (अत्यन्त कठोर साधन द्वारा) आपके ब्रह्म नामक धाममें गमन करते हैं, किन्तु हे महायोगिन्। हमलोग आपके दास हैं। यद्यपि अपने कर्मोंके फलस्वरूप हम अपार संसाररूपी समुद्रमें भ्रमण कर रहे हैं, तथापि हम आपके भक्तोंके साथ आपका अनुशीलन (श्रवण,

कीर्त्तन, स्मरण रूपी भक्ति) करते-करते आपकी कृपासे अनायास ही दुस्तर तम (संसार) को पार करेंगे॥२०-२१॥

(कीर्त्तन)

हरिसङ्कीर्त्तन ही सर्वमङ्गलमय है, इसी प्रसङ्गका वर्णन करते हुए ऋत्विज श्रीमद्भा. ५/३/११ में कहते हैं—

अथ कथञ्चित् स्खलनक्षुत्पतनजृम्भणदुरवस्थानादिषु विवशानां नः स्मरणाय जरामरणदशायामपि सकलकश्मलनिरसनानि तव गुणकृतनामधेयानि वचनगोचराणि भवन्तु॥२२॥

हे भगवन्! फिसलते समय, भूख और प्यास जैसी पीड़ित अवस्थामें, पतन अर्थात् गिरते समय, जम्भाई लेते समय, वृद्धावस्था और मृत्यु जैसी दैन्यपूर्ण अवस्थाओंमें पड़कर जब हम विवश हो जाते हैं, तब सब प्रकारके क्लेशोंको दूर करनेवाले आपके भक्तवात्सल्य आदि गुणोंसे युक्त नाम हमारे स्मरण पथ पर आये तथा वचनके गोचर हो॥२२॥

श्रीमद्भा. ८/३/२० में गजेन्द्र भगवान् श्रीकृष्णसे कहते हैं—

एकान्तिनो यस्य न कञ्चनार्थं
वाञ्छन्ति ये वै भगवत्प्रपन्नाः।
अत्यद्भुतं तच्चरितं सुमङ्गलं
गायन्त आनन्दसमुद्रमग्नाः॥२३॥

एकान्त भगवत्-प्रपन्न पुरुष समस्त इच्छाओंसे रहित होकर आपके अति-अद्भुत-सुमङ्गल-चरितोंका आनन्दसमुद्रमें निमग्न होकर गान करते हैं॥२३॥

श्रीमद्भा. ६/३/३२ में यमराज अपने दूतोंसे कहते हैं—

शृण्वतां गृणतां वीर्याण्युद्दामानि हरेर्मुहुः।
यथा सुजातया भक्त्या शुद्ध्येन्नात्मा व्रतादिभिः॥२४॥

भगवान् श्रीहरिकी वीर्यवती कथाओंके बारम्बार श्रवण और कीर्त्तनसे जीवके हृदयमें अनायास ही भक्ति उदित होती है। यह भक्ति जिस प्रकार अन्तःकरणको विशुद्ध करती है, अन्य व्रत आदि उस प्रकारसे नहीं कर पाते॥२४॥

(श्रीमद्भा. ६/३/२४)

एतावतालमघनिर्हरणाय पुंसां
सङ्कीर्तनं भगवतो गुणकर्मनाम्नाम्।
विक्रुश्य पुत्रमघवान् यदजामिलोऽपि
नारायणेति म्रियमाण इयाय मुक्तिम्॥२५॥

भगवान् श्रीहरिके नाम-रूप-गुण और लीलाओंका कीर्त्तन जीवोंके लगभग सभी पापोंका ध्वंस कर देता है। देखो! (नामका तो कहना ही क्या, नामाभाससे ही) अत्यन्त पापी होनेपर भी अजामिलने मरते समय उच्च स्वरसे नारायण नामक अपने पुत्रको पुकारनेसे ही भक्तिको प्राप्त कर लिया॥२५॥

श्रीमद्भा. १२/३/५१-५२ में श्रीशुकदेव गोस्वामी राजा परीक्षित्से कहते हैं—

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत्॥२६॥

यद्यपि कलियुग समस्त दोषोंका समुद्र है, तथापि हे राजन्! कलिका एक महान गुण यह है कि कृष्णकीर्त्तनके द्वारा जीव मायाके बन्धनसे मुक्त होकर श्रीकृष्णरूप परतत्त्वको प्राप्त करते हैं॥२६॥

कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्॥२७॥

सत्ययुगमें विष्णुके ध्यान द्वारा, त्रेतायुगमें यज्ञके द्वारा और द्वापरमें परिचर्या (सेवा-पूजा) द्वारा जो कुछ प्राप्त होता है,

कलियुगमें केवल हरिकीर्त्तन द्वारा वह सब प्राप्त किया जा सकता है॥२७॥

(स्मरण)

अब श्रीकृष्णके स्मरणके विषयमें वर्णन किया जा रहा है। श्रीमद्भा. ११/१४/२८ में श्रीकृष्ण उद्धवसे कहते हैं—

तस्मादसदभिध्यानं यथा स्वप्नमनोरथम्।
हित्वा मयि समाधत्स्व मनोमद्भावभावितम्॥२८॥

हे उद्धव! स्वप्नरूपी मनोरथके समान संसाररूपी अन्यान्य असत् साधनोंकी चिन्ताका परित्याग करके मेरी भक्तिसे विभावित चित्तको मुझे अर्पण करो॥२८॥

(श्रीमद्भा. ११/१४/२५-२७)

यथाग्निना हेममलं जहाति
ध्मातं पुनः स्वं भजते च रूपम्।
आत्मा च कर्मानुशयं विधूय
मद्भक्तियोगेन भजत्यथो माम्॥२९॥

स्वर्ण जिस प्रकार अग्निके द्वारा दग्ध होकर अपने निर्मल रूपको धारण कर लेता है, उसी प्रकार जीव भी मेरे भक्तियोगके द्वारा मनकी कर्मवासनाओंको धोकर मेरा भजन करता है॥२९॥

यथा यथाऽऽत्मा परिमृज्यतेऽसौ
मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः ।
तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं
चक्षुर्यथैवाञ्जनसम्प्रयुक्तम् ॥३०॥

मेरी पुण्य-गाथाके श्रवण-कीर्त्तनके द्वारा मन परिमार्जित होनेपर सूक्ष्म-से-सूक्ष्म वस्तुको (वास्तविक तत्त्व-वस्तुको भी) क्रमशः उसी प्रकार स्पष्ट रूपसे देखने लगता है, जिस प्रकार अंजन

(काजल) लगानेसे नेत्र सभी वस्तुओंको पहलेसे अधिक अच्छी तरहसे देखने लगते हैं॥३०॥

विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विसज्जते।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते॥३१॥

जिस प्रकार विषयोंका ध्यान करनेसे चित्त विषयमें आसक्त हो जाता है, उसी प्रकार मेरा निरन्तर स्मरण करनेसे चित्त मुझमें ही निमग्न हो जाता है॥३१॥

(श्रीमद्भा. ११/१४/२९)

स्त्रीणां स्त्रीसङ्गिनां सङ्गं त्यक्त्वा दूरत आत्मवान्।
क्षेमे विविक्त आसीनश्चिन्तयेन्मामतन्द्रितः॥३२॥

आत्मवान पुरुष स्त्रीसङ्ग और स्त्रीसङ्गी–पुरुषके सङ्गका दूरसे ही परित्यागकर बिना किसी भयके निर्जन स्थानमें बैठकर सावधानीपूर्वक मेरा चिन्तन करें॥३२॥

श्रीमद्भा. ९/१९/१७ में महाराज ययाति अपनी पत्नीसे कहते हैं—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा नाविविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥३३॥

माता, बहन और पुत्री आदिके साथ एक ही आसनपर कभी नहीं बैठना चाहिये, क्योंकि बलवान इन्द्रियाँ पण्डितोंके मनको भी अपनी ओर आकर्षित कर लेती हैं॥३३॥

(श्रीमद्भा. ९/१९/१४)

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥३४॥

जिस प्रकार अग्निमें घी डालनेसे अग्नि और भी अधिक प्रज्वलित हो जाती है, शान्त नहीं होती, उसी प्रकार कामके उपभोगके द्वारा कामकी शान्ति नहीं बल्कि वृद्धि होती है॥३४॥

(श्रीमद्भा. ११/१४/३०)

न तथास्य भवेत् क्लेशो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः।
योषित्सङ्गाद् यथा पुंसस्तथा तत्सङ्गि सङ्गतः॥३५॥

जीवको स्त्रीसङ्ग एवं स्त्रीसङ्गीके सङ्गसे जितना अधिक क्लेश और बन्धन प्राप्त होता है, उतना और किसी विषयके प्रसङ्गसे नहीं होता॥३५॥

श्रीमद्भा. १/९/२३ में श्रीसूत गोस्वामी शौनकादि ऋषियोंसे कहते हैं—

भक्त्याऽऽवेश्य मनो यस्मिन् वाचा यन्नाम कीर्तयन्।
त्यजन् कलेवरं योगी मुच्यते कामकर्मभिः॥३६॥

श्रीकृष्णका नामकीर्त्तन करते-करते मनको उनमें आविष्ट करके शरीरका परित्याग करनेसे सामान्य योगी भी काम्यकर्मोंके बन्धनसे सदाके लिए मुक्त हो जाते हैं॥३६॥

श्रीमद्भा. १०/८२/४८ में श्रीशुकदेव गोस्वामीने राजा परीक्षित्को बताया कि—

आहुश्च ते नलिननाभ पदारविन्दं
योगेश्वरैर्हृदि विचिन्त्यमगाधबोधैः।
संसारकूपपतितोत्तरणावलम्बं
गेहं जुषामपि मनस्युदियात् सदा नः॥३७॥

गोपियोंने श्रीकृष्णसे प्रार्थना करते हुए कहा—हे नलिननाभ! विद्वत्गण कहते हैं कि अगाधबोधसम्पन्न योगेश्वर अपने हृदयमें आपके चरणकमलोंकी चिन्ता करते हैं तथा आपके श्रीचरणकमल संसार कूपमें पतित व्यक्तियोंके उद्धारके एकमात्र अवलम्बन हैं। हे श्रीकृष्ण! हम प्रार्थना करती हैं कि गृहसेवी हमलोगोंके मनमें भी आपके वे ही श्रीचरणकमल सर्वदा उदित रहें॥३७॥

(पादसेवन)

अब पादसेवनके विषयमें वर्णन किया जायेगा। श्रीमद्भा. २/८/६ में महाराज परीक्षित् श्रीशुकदेव गोस्वामीसे कह रहे हैं—

धौतात्मा पुरुषः कृष्णपादमूलं न मुञ्चति।
मुक्तसर्वपरिक्लेशः पान्थः स्वशरणं यथा॥३८॥

एक पथिक जिस प्रकार प्रवाससे अपने घरपर आगमन करनेके उपरान्त कहीं नहीं जाना चाहता, उसी प्रकार जो व्यक्ति श्रीकृष्णके चरणकमलोंका आश्रय लेनेके कारण निर्मल अन्तःकरणवाले हो गये हैं, वे सब प्रकारके क्लेशोंसे मुक्ति प्रदान करनेवाले प्रभुके श्रीचरणकमलोंका आश्रय कभी भी त्यागना नहीं चाहते॥३८॥

श्रीमद्भा. ११/२३/५७ में अवन्तीपुरके भिक्षु कहते है—

एतां स आस्थाय परात्मनिष्ठामध्यासितां पूर्वतमैर्महर्षिभिः।
अहं तरिष्यामि दुरन्तपारं तमो मुकुन्दाङ्घ्रिनिषेवयैव॥३९॥

मैंने अपने घर-परिवार एवं विषय-भोगोंका परित्यागकर जिस अवधूत पदको प्राप्त किया है, पूर्व-पूर्व महर्षियोंने भी इसी पदका ही आश्रय ग्रहण किया था। इसे परात्मनिष्ठा भी कहा जा सकता है। मुझे दृढ़ विश्वास है कि मैं इसके आश्रयमें भगवान् श्रीमुकुन्दके चरणकमलोंकी सेवा-निष्ठा द्वारा पार होनेमें कठिन इस संसाररूपी तमसे अवश्य ही पार हो जाऊँगा॥३९॥

श्रीमद्भा. ११/५/४२ में नवें योगीश्वर करभाजनने राजा निमिसे कहा—

स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः।
विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चिद् धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः॥४०॥

अपने श्रीचरणकमलोंका भजन करनेवाले प्रिय व्यक्तिको अनन्यभाव प्राप्त होता देख परमेश्वर श्रीकृष्ण उसके हृदयमें प्रविष्ट कर जाते हैं और यदि किसी घटनावश भक्त द्वारा हठात् कोई पापमय

कार्य हो जाता है, तो वे उस पापके प्रभावको सम्पूर्ण रूपसे ध्वंस कर देते हैं। इसका गूढ़ तात्पर्य यह है कि जो व्यक्ति सुकृतिके फलस्वरूप श्रद्धावान होकर निष्ठापूर्वक हरिभजनमें प्रवृत्त होते हैं, उनके पूर्वपाप पहले ही दूर हो जाते हैं और पुण्य-पापकी प्रवृत्ति न रहनेपर नये पाप उनसे कभी होते ही नहीं। यदि घटनाक्रमसे कोई पापकार्य हो भी जाये, तो श्रीकृष्ण उसे ध्वंस कर देते हैं, इसीलिए भक्तोंको किसी प्रकारके प्रायश्चित्त करनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती॥४०॥

श्रीमद्भा. ११/२/४३ में पहले योगीश्वर कविने राजा निमिसे कहा—

इत्यच्युताङ्घ्रिं भजतोऽनुवृत्त्या भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोधः।
भवन्ति वै भागवतस्य राजन् ततः परां शान्तिमुपैति साक्षात्॥४१॥

जो अभ्यासपूर्वक भगवान् श्रीअच्युतके चरणकमलोंका भजन करता है, उसमें भगवद्भक्ति और उससे उत्पन्न विरक्ति तथा भगवत्-तत्त्वज्ञान युगपत् (एकसाथ) उदित होते हैं और वह क्रमशः भगवत्-प्रेमरूप साक्षात् पराशान्तिको प्राप्त करता है॥४१॥

(श्रीमद्भा. ११/२/३३)

मन्येऽकुतश्चिद्भयमच्युतस्य पादाम्बुजोपासनमत्र नित्यम्।
उद्विग्नबुद्धेरसदात्मभावाद् विश्वात्मना यत्र निवर्तते भीः॥४२॥

अच्युत श्रीकृष्णके पादपद्मोंकी उपासना करना ही जीवका नित्य धर्म है। इस उपासनामें किसीसे कोई भय नहीं रहता। असत् विषयोंमें चित्तके दौड़नेके कारण जिसकी बुद्धि उद्विग्न रहती है, वह भी यदि इस विश्व अर्थात् सत् और असत्के आत्मस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णके तत्त्वसे अवगत होकर उनकी उपासना करे, तो उसके सब प्रकारके भय तथा (असत् वस्तुओंकी ओर धावित होनेवाले चित्तके) उद्वेगकी निवृत्ति हो जाती है॥४२॥

(अर्चन)

अब अर्चनके विषयमें वर्णन किया जायेगा। श्रीमद्भा. ११/३/४८ में आविर्होत्र महाराज निमिसे कहते हैं—

लब्धानुग्रह आचार्यात् तेन सन्दर्शितागमः।
महापुरुषमभ्यर्चेन्मूर्त्याभिमतयात्मनः ॥४३॥

आचार्यसे उनके कृपास्वरूप उपनयन मन्त्र आदिको प्राप्त करके तथा आगम शास्त्रके मतानुसार अर्चन प्रणालीसे अवगत होकर अपने अभीष्ट पुरुषोत्तम भगवान्‌की आराधना करनी चाहिये॥४३॥

(श्रीमद्भा. ११/३/५१)

पाद्यादीनुपकल्प्याथ सन्निधाप्य समाहितः।
हृदादिभिः कृतन्यासो मूलमन्त्रेण चार्चयेत्॥४४॥

एकाग्रचित्तसे भगवान्‌की श्रीमूर्त्तिके समक्ष बैठकर सर्वप्रथम हृदयमें भगवान्‌का ध्यानकर अपने हृदय आदि अङ्गोंको मन्त्रोंके द्वारा पवित्र करें तथा पाद्य (भगवान्‌के चरणकमलोंको धुलवानेके उद्देश्यसे जल) को अर्पित करके मूल मन्त्रके द्वारा उनका अर्चन करें॥४४॥

(श्रीमद्भा. ११/३/५३)

गन्धमाल्याक्षतस्रग्भिर्धूपदीपोपहारकैः ।
साङ्गं सम्पूज्य विधिवत् स्तवैः स्तुत्वा नमेद्धरिम्॥४५॥

सुगन्धित चन्दन, पुष्प, अक्षत (हल्दीके साथ मिलाया हुआ अखण्डित चावल), रत्नमाला, धूप, दीप आदि पूजा साम्रगी द्वारा श्रीमूर्त्तिकी साङ्गोपाङ्ग विधिवत् पूजा करनेके उपरान्त स्तव-स्तुति करते हुए भावपूर्वक श्रीहरिको प्रणाम करें॥४५॥

श्रीमद्भा. १०/८१/१९ में श्रीसुदामा कहते हैं—

स्वर्गापवर्गयोः पुंसां रसायां भुवि सम्पदाम्।
सर्वासामपि सिद्धीनां मूलं तच्चरणार्चनम्॥४६॥

स्वर्ग, अपवर्ग (मुक्ति), पृथ्वी और रसातलमें जितनी भी प्रकारकी सम्पत्तियाँ है, उन सबको श्रीकृष्ण-चरणारविन्दके अर्चन द्वारा प्राप्त किया जा सकता है॥४६॥

(श्रीमद्भा. १०/८४/३७)

अयं स्वस्त्यनः पन्था द्विजातेर्गृहमेधिनः।
यच्छ्रद्धयाप्तवित्तेन शुक्लेनेज्येत पूरुषः॥४७॥

गृहमेधी श्रौत (वेदमें अधिकार प्राप्त ब्राह्मण आदि तीन वर्णके) पुरुषोंके लिए मङ्गल प्राप्तिका एकमात्र उपाय यही है कि वे शुद्ध रूपसे कमाये हुए धनके द्वारा श्रद्धापूर्वक पुरुषोत्तम भगवान्‌की पूजा करें॥४७॥

श्रीमद्भा. ११/११/३४ में भगवान् श्रीकृष्ण उद्धवसे कहते हैं—

मल्लिङ्गमद्भक्तजनदर्शनस्पर्शनार्चनम् ।
परिचर्या स्तुतिः प्रह्वगुणकर्मानुकीर्तनम्॥४८॥

मेरे श्रीविग्रह तथा मेरे भक्तजनोंके दर्शन, स्पर्शन, अर्चन, परिचर्या (सेवा), स्तुति, दण्डवत् और गुण-कर्मोंका कीर्त्तन करना चाहिये॥४८॥

(श्रीमद्भा. ११/११/३६)

मज्जन्मकर्मकथनं मम पर्वानुमोदनम्।
गीतताण्डववादित्रगोष्ठीभिर्मद्गृहोत्सवः ॥४९॥

मङ्गलाकांक्षी व्यक्तिको मेरे जन्म तथा लीलाओंकी कथाका श्रवण, मेरे (जन्माष्टमी, रामनवमी इत्यादि) पर्वोंका अनुमोदन, मेरे गुणोंका गान, मेरे श्रीविग्रहके समक्ष नृत्य, करताल-मृदङ्ग आदि

वाद्ययन्त्रों सहित अपने बन्धु-बान्धवोंके साथ मिलकर घरपर मेरा उत्सव मनाना चाहिये॥४९॥

(श्रीमद्भा. ११/२७/१७-१८)

श्रद्धयोपाहृतं प्रेष्ठं भक्तेन मम वार्यपि॥५०क॥

भूर्यप्यश्रद्धया दत्तं न मे तोषाय कल्पते।
गन्धो धूपः सुमनसो दीपोऽन्नाद्यं च किं पुनः॥५०ख॥

मेरा भक्त जो कुछ संग्रह करता है अथवा संग्रह न कर पानेकी अवस्थामें श्रद्धापूर्वक यदि केवल जल भी निवेदन करता है, तो वही यथेष्ट है। किन्तु अश्रद्धापूर्वक दिये गये अनेकानेक उपहार भी मुझे सन्तुष्ट नहीं कर पाते। गन्ध, धूप, दीप, अन्न आदि जो कुछ संग्रह हो, वही मुझे प्रदान करना॥५०॥

(श्रीमद्भा. ११/२७/३३)

पाद्यमाचमनीयं च गन्धं सुमनसोऽक्षतान्।
धूपदीपोपहार्याणि दद्यान्मे श्रद्धयार्चकः॥५१॥

पाद्य (चरणकमलको धुलानेका जल), आचमनीय, गन्ध, पुष्प, अक्षत (हल्दीके साथ मिलाये हुए अखण्डित चावल), धूप, दीप—इन सब उपहारोंको अर्चक श्रद्धापूर्वक मुझे समर्पण करे॥५१॥

(वन्दन)

अब वन्दनाके विषयमें वर्णन किया जा रहा है। श्रीमद्भा. ११/२७/४५-४६ में बताया गया है कि—

स्तवन् प्रसीद भगवन्निति वन्देत दण्डवत्॥५२क॥

शिरो मत्पादयोः कृत्वा बाहुभ्यां च परस्परम्।
प्रपन्नं पाहि मामीश भीतं मृत्युग्रहार्णवात्॥५२ख॥

अनेक स्तव-स्तुति करनेके उपरान्त प्रार्थना करते हुए कहना चाहिये—हे भगवन्! मुझसे प्रसन्न हों, ऐसा कहकर दण्ड जैसे

पतित होकर प्रणाम करना चाहिये। पुनः भगवत्-चरणोंमें अपने मस्तकको नवाकर, दोनों हाथोंको जोड़ते हुए कहना चाहिये—हे प्रभो! मैं आपकी शरणमें आया हूँ। मैं इस संसारमें भगवत्-पादपद्म वैमुख्यरूपी मृत्युसे पीड़ित हूँ, मैं भयभीत होनेके कारण आपके शरणागत हुआ हूँ, अतः आप मेरी रक्षा कीजिये॥५२॥

(दास्य)

संक्षेपमें वन्दनका वर्णन करनेके उपरान्त अब दास्यका वर्णन किया जा रहा है। श्रीमद्भा. ११/६/४६ में श्रीउद्धव श्रीकृष्णसे कहते हैं—

त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धवासोऽलङ्कारचर्चिताः ।
उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेम हि॥५३॥

आपके द्वारा व्यवहृत निर्माल्य, गन्ध और अलङ्कार आदि द्वारा सुशोभित होकर आपके उच्छिष्ट भोजी दास हम आपकी मायाको जीत लेंगें॥५३॥

श्रीमद्भा. ११/११/३५ में श्रीकृष्णने कहा—

मत्कथाश्रवणे श्रद्धा मदनुध्यानमुद्धव।
सर्वलाभोपहरणं दास्येनात्मनिवेदनम्॥५४॥

हे उद्धव! कल्याणकामी व्यक्ति श्रद्धापूर्वक मेरी कथा श्रवण करे, निरन्तर मेरा ध्यान करे, अनायास जो कुछ प्राप्त हो, वह मुझे समर्पित करे और दास्यभावसे मुझे आत्मनिवेदन करे॥५४॥

(श्रीमद्भा. ११/११/३९-४१)

सम्मार्जनोपलेपाभ्यां सेकमण्डलवर्तनैः।
गृहशुश्रूषणं मह्यं दासवद् यदमायया॥५५॥

अमानित्वमदम्भित्वं कृतस्यापरिकीर्तनम्।
अपि दीपावलोकं मे नोपयुञ्ज्यान्निवेदितम्॥५६॥

यद् यदिष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मनः।
तत्तन्निवेदयेन्मह्यं तदानन्त्याय कल्पते॥५७॥

सेवककी भाँति मेरे मन्दिरको झाड़ने-पौंछने, लीपने-पोतने, जल छिड़कने, रङ्गोली इत्यादि माङ्गलिक चिह्नोंके निर्माण द्वारा सजाने, सब प्रकारके अहङ्कार तथा सम्मान प्राप्तिकी आशाका परित्यागकर मेरी कथाओंके कीर्त्तन करने, दीपदान करने तथा (अन्यान्य व्यक्तियोंके द्वारा निवेदित वस्तुओंको व्यवहारमें लानेकी तो बात ही क्या?) स्वयं द्वारा मुझे निवेदित दीपकके प्रकाशको भी अन्य किसी कार्यमें व्यवहार न करने तथा लोक समाजमें और अपनेको सबसे अधिक प्रिय लगनेवाली वस्तुओंको मुझे समर्पित करनेसे अनन्त फलकी प्राप्ति होती है॥५५-५७॥

श्रीमद्भा. ११/११/४७ में कहा गया है—

इष्टापूर्तेन मामेवं यो यजेत समाहितः।
लभते मयि सद्भक्तिं मत्स्मृतिः साधुसेवया॥५८॥

इष्ट (एकाग्र चित्तसे यज्ञ-यागादि) और पूर्त्त (कुआँ, बावड़ी आदिके निर्माण) द्वारा जो एकाग्रचित्तसे मेरी पूजा करता है, उन्हें मेरी शुद्धभक्तिकी प्राप्ति होती है, किन्तु साधुसेवा करनेवालेको मेरी स्मृति अर्थात् मेरे स्वरूपका ज्ञान प्राप्त होता है॥५८॥

(श्रीमद्भा. ११/१९/२१-२३)

आदरः परिचर्यायां सर्वाङ्गैरभिवन्दनम्।
मद्भक्तपूजाभ्यधिका सर्वभूतेषु मन्मतिः॥५९॥

मेरी भक्तिको प्राप्त करनेकी इच्छा रखनेवाला व्यक्ति मेरी सेवा-पूजाके प्रति आदर रखे, अष्टाङ्ग द्वारा दण्डवत् प्रणामपूर्वक मेरा अभिनन्दन करे। मेरे भक्तोंकी पूजाको मेरी पूजासे भी श्रेष्ठ जानकर उसका अनुष्ठान करे तथा समस्त प्राणियोंको मुझसे सम्बन्धित समझे॥५९॥

मदर्थेष्वङ्गचेष्टा च वचसा मद्गुणेरणम्।
मय्यर्पणं च मनसः सर्वकामविवर्जनम्॥६०॥

अपने एक-एक अङ्गकी चेष्टा केवल मेरे लिए ही करे, वाणीके द्वारा मेरा ही गुणगान करे, अपने चित्तको मुझमें ही अर्पित कर दे तथा सभी प्रकारकी कामनाओंका परित्याग कर दे—ये सब मेरे दास्यके अङ्ग हैं॥६०॥

मदर्थेऽर्थपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य च।
इष्टं दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं यद् व्रतं तपः॥६१॥

मेरे लिए अन्यान्य सभी प्रकारके अर्थों अर्थात् भोग और सुखका परित्याग कर दे। यज्ञ, दान, होम, जप और मेरे उद्देश्यसे किये गये एकादशी आदि व्रत ही भक्तोंके लिए तप है। इन सबको मेरे सख्य भावसे करना चाहिये॥६१॥

(सख्य)

अब सख्यका वर्णन किया जा रहा है। श्रीमद्भा. ११/२९/३-५ में उद्धव श्रीकृष्णसे कहते हैं—

अथात आनन्ददुघं पदाम्बुजं
हंसाः श्रयेरन्नरविन्दलोचन।
सुखं नु विश्वेश्वर योगकर्मभि-
स्त्वन्माययामी विहता न मानिनः॥६२॥

हे अरविन्द लोचन! हंसगण (सार और असार रूपी विवेकमें निपुण व्यक्ति) आपके परमानन्द प्रदान करनेवाले श्रीचरणकमलोंका ही आश्रय लेते हैं। हे विश्वेश्वर! जो व्यक्ति आपके चरणाश्रयमें सुख नहीं मानते, वे ज्ञानयोगी और कर्म जड़वादी बनकर आपकी विष्णुमायासे मृतप्राय हो गये हैं॥६२॥

किं चित्रमच्युत तवैतदशेषबन्धो
दासेष्वनन्यशरणेषु यदात्मसात्त्वम्।
योऽरोचयत् सह मृगैः स्वयमीश्वराणां
श्रीमत्किरीटतटपीडितपादपीठः॥६३॥

हे अशेष बन्धो (सबके हितैषी)! अपने अनन्य शरणागत दासोंको सख्यभावसे आत्मसात कर लेना आपके लिए कोई विचित्र बात नहीं है, क्योंकि आप ब्रह्मा आदि लोकेश्वरगणोंके ऐश्वर्ययुक्त दिव्य मुकुटके किनारों द्वारा वन्दित श्रीचरणकमल वाले होनेपर भी अर्थात् ईश्वरोंके भी ईश्वर सर्वेश्वर होनेपर भी आप बिना किसी संकोचके वानरोंके साथ सख्य भाव बनानेमें रुचि रखते हैं॥६३॥

तं त्वाखिलात्मदयितेश्वरमाश्रितानां
सर्वार्थदं स्वकृतविद्विसृजेत को नु।
को वा भजेत् किमपि विस्मृतयेऽनुभूत्यै
किं वा भवेन्न तव पादरजोजुषां नः॥६४॥

आप अपने आश्रितजनोंके सर्वस्व, आत्मा और परम प्रियतम स्वामी हैं। आप उन्हें सब कुछ प्रदान करते हैं। क्या कोई कृतज्ञ व्यक्ति आपको छोड़ सकता है? हमलोग आपके पदरजसेवी हैं, हमें आपके अतिरिक्त अन्य किसी फलकी प्राप्तिसे क्या प्रयोजन? कौन ऐसा व्यक्ति होगा, जो विभूतिकी वृद्धिके लिए तथा आपको भूल जानेके लिए आपके अतिरिक्त इन अन्य फलोंको आपके द्वारा दिये जानेपर भी स्वीकार करेगा?॥६४॥

(आत्मनिवेदन)

अब आत्मनिवेदनका वर्णन किया जा रहा है। श्रीमद्भा. ११/२९/३४ में श्रीकृष्णने उद्धवसे कहा—

मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्मा
निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे।
तदाऽमृतत्वं प्रतिपद्यमानो
मयाऽऽत्मभूयाय च कल्पते वै॥६५॥

मरणशील व्यक्ति जब समस्त कर्मोंका परित्याग करके मुझसे किसी विशिष्ट क्रिया प्राप्ति (अर्थात् मेरी सेवा-प्राप्ति) की

अभिलाषासे मेरे निकट आत्मनिवेदन करते हैं, तब वे अमृतत्वको प्राप्तकर मेरे अत्यन्त प्रियभाजन हो जाते हैं॥६५॥

आत्मनिवेदन करनेवालोंका व्यवहार इस प्रकारका होता है। यथा श्रीमद्भा. ११/१९/२४ में बताया गया है—

एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम्।
मयि संजायते भक्तिः कोऽन्योऽर्थोऽस्यावशिष्यते॥६६॥

हे उद्धव! पूर्वोक्त आत्मनिवेदन करनेवालोंके धर्मानुष्ठानसे मेरे प्रति जब प्रेमभक्ति ही उदित हो जाती है, तो क्या फिर और कोई प्रयोजन बाकी रह जाता है?॥६६॥

(श्रीमद्भा. ११/२९/९-१०)

कुर्यात् सर्वाणि कर्माणि मदर्थं शनकैः स्मरन्।
मय्यर्पितमनश्चित्तो मद्धर्मात्ममनोरतिः॥६७॥

मेरे चरणोंमें आत्मनिवेदन करनेवाला भक्त अपनी सभी क्रियाएँ मुझे स्मरण करते हुए मेरे लिए ही करता है। यदि मुझमें अर्पित मनवाले भक्तोंका चित्त (मेरी इच्छाके कारण अथवा मेरी सेवाके उद्देश्यसे) विषयमें अर्पित होता है, तो केवल भगवद्धर्ममें मनकी रति अर्थात् प्रीतिको स्थिर करनेके लिए ही होता है॥६७॥

देशान् पुण्यानाश्रयेत मद्भक्तैः साधुभिः श्रितान्।
देवासुरमनुष्येषु मद्भक्ताचरितानि च॥६८॥

मेरे चरणोंमें आत्मनिवेदन करनेवाले भक्त, साधुओंके आश्रित पुण्यमय देश या स्थानमें वास करते हैं तथा देवता, असुर और मनुष्योंके बीच जो मेरे शुद्धभक्त हैं, उनके ही चरित्रोंका आश्रय करते हैं॥६८॥

(श्रीमद्भा. ११/२९/१२)

मामेव सर्वभूतेषु बहिरन्तरपावृतम्।
ईक्षेतात्मनि चात्मानं यथा खममलाशयः॥६९॥

मेरे ऐसे भक्त देखते हैं कि मैं सभी प्राणियोंके अन्तर और बाहर परिपूर्ण रूपमें रहनेपर भी उनसे उसी प्रकार अनावृत हूँ, जैसे आकाश सभी स्थानोंपर रहनेपर भी आवरणशून्य रहता है। इस अवस्थामें वे सभी प्राणियोंकी आत्मामें आत्मस्वरूप मुझ परमात्माका ही दर्शन करते हैं॥६९॥

(श्रीमद्भा. ११/२९/१५)

नरेष्वभीक्ष्णं मद्भावं पुंसो भावयतोऽचिरात्।
स्पर्धासूयातिरस्काराः साहङ्कारा वियन्ति हि॥७०॥

जो सभी मानवोंमें सर्वदा मदधिष्ठान बुद्धि (कृष्ण सबके हृदयमें विराजित हैं ऐसा विचार) रखते हैं, उनके अहङ्कार, द्वेष एवं तिरस्कार आदि दुर्गुण सदाके लिए नष्ट हो जाते हैं॥७०॥

(श्रीमद्भा. ११/२९/२०)

नह्यङ्गोपक्रमे ध्वंसो मद्धर्मस्योद्धवाण्वपि।
मया व्यवसितः सम्यङ्‌निर्गुणत्वादनाशिषः॥७१॥

हे प्रिय उद्धव! मेरे द्वारा बताये गये धर्म (भक्तियोग) को आरम्भ कर देनेके बाद (फिर किसी प्रकारकी विघ्न-बाधासे) यह किञ्चित्‌मात्र भी नष्ट नहीं होता, बल्कि इसका पालन करनेवाला मेरी कृपासे थोड़े ही दिनोंमें कामनाशून्य होकर सम्पूर्ण रूपमें निर्गुणता प्राप्त कर लेता है॥७१॥

श्रीअम्बरीष महाराजके चरित्रमें साधन-लक्षणा भक्तिके समस्त अङ्गोंका पालन। यथा श्रीमद्भा. ९/४/१८-२० में कहा गया है—

स वै मनः कृष्णपदारविन्दयो-
र्वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने।
करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु
श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथोदये॥७२॥

अम्बरीष महाराजने अपने मनको श्रीकृष्णपादपद्मके ध्यान, वाणीको श्रीकृष्ण-गुणानुवर्णन, दोनों हाथोंको श्रीहरिके मन्दिरमार्जनादि कार्यों तथा कानोंको अच्युत भगवान् श्रीकृष्ण एवं अच्युत-भक्तोंकी कथा-श्रवणमें नियुक्त कर रखा था॥७२॥

मुकुन्दलिङ्गालयदर्शने दृशौ
तद्भृत्यगात्रस्पर्शेऽङ्गसङ्गमम् ।
घ्राणं च तत्पादसरोजसौरभे
श्रीमत्तुलस्यां रसनां तदर्पिते॥७३॥

नेत्रोंको श्रीकृष्णके श्रीविग्रह एवं मन्दिरके दर्शनमें, अपने अङ्गोंको श्रीकृष्णके दासोंके शरीर-स्पर्श और सङ्ग-प्राप्तिमें, नासिकाको श्रीकृष्णके श्रीचरणकमलोंकी सुगन्धको सूँघनेमें तथा रसनाको कृष्णार्पित तुलसीयुक्त प्रसादान्नके आस्वादनमें नियुक्त कर रखा था॥७३॥

पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पणे
शिरो हृषीकेशपदाभिवन्दने।
कामं च दास्ये न तु कामकाम्यया
यथोत्तमःश्लोकजनाश्रयारतिः ॥७४॥

अपने दोनों चरणोंको कृष्ण-धामके भ्रमण (परिक्रमादि), मस्तकको श्रीकृष्णचरणोंके अभिवन्दन, (स्वसुख तात्पर्यसे युक्त) कामनाओंका परित्याग करके कामको कृष्णदास्यत्वमें अर्पण किया तथा कामानुग क्रोध इत्यादिको ऐसे कार्योंमें नियुक्त किया, जिससे कृष्णाश्रित रति उत्पन्न होती है॥७४॥

वैधी साधनभक्तिके लक्षणोंकी व्याख्या समाप्त हुई। अब संक्षेपमें श्रीनारदकी उक्तियों द्वारा रागानुगा साधनभक्तिका विचार प्रदर्शित किया जा रहा है। यथा श्रीमद्भा. ७/१/२६-२७ में कहा गया है—

तस्माद् वैरानुबन्धेन निर्वैरेण भयेन वा।
स्नेहात् कामेन वा युञ्ज्यात् कथञ्चिन्नेक्षते पृथक्॥७५॥

श्रीकृष्णको अतिप्रिय जानकर उन्हें आत्मासे दूरस्थित किसी अन्य वस्तुके समान नहीं समझना चाहिये। वैरानुबन्ध (वैरभाव) से, वैरहीन भावसे, कामसे, भयसे, स्नेहसे—इसमेंसे किसी भी एक प्रवृत्तिके द्वारा मनको श्रीकृष्णमें लगाना चाहिये॥७५॥

यथा वैरानुबन्धेन मर्त्यस्तन्मयतामियात्।
न तथा भक्तियोगेन इति मे निश्चिता मतिः॥७६॥

वैरानुबन्धके द्वारा मनुष्य जिस तन्मयताको प्राप्त करता है, वैसी तन्मयता वैधीभक्ति द्वारा भी प्राप्त नहीं हो सकती—यह मेरा निश्चित मत है॥७६॥

(श्रीमद्भा. ७/१/२९-३२)

एवं कृष्णे भगवति मायामनुज ईश्वरे।
वैरेण पूतपाप्मानस्तमापुरनुचिन्तया॥७७॥

लीलाके द्वारा मनुष्य जान पड़नेवाले सर्वशक्तिमान भगवान् श्रीकृष्णसे वैर करनेवाले अनेकों व्यक्ति भी उनका चिन्तन करते-करते पापरहित होकर उन्हींको प्राप्त हो गये॥७७॥

कामाद् द्वेषाद् भयात् स्नेहाद् यथा भक्त्येश्वरे मनः।
आवेश्य तदघं हित्वा बहवस्तद्गतिं गताः॥७८क॥

गोप्यः कामाद् भयात् कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः।
सम्बन्धाद् वृष्णयः स्नेहाद् यूयं भक्त्या वयं विभो॥७८ख॥

जिस प्रकार वैधीभक्तिके द्वारा ईश्वरमें चित्त आविष्ट करनेके फलस्वरूप पापादिसे रहित होकर भगवान्‌की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार काम, द्वेष, भय और स्नेहके द्वारा श्रीकृष्णमें चित्त आविष्ट करके निष्पाप होकर अनेकोंने तद्गति (भगवान्) को प्राप्त किया है। गोपियोंने कामके द्वारा, कंसने भयके द्वारा, शिशुपालने द्वेषके द्वारा, वृष्णिजनोंने सम्बन्ध बुद्धिके द्वारा, पाण्डवोंने स्नेहके द्वारा

और हम (नारद आदि) ऋषियोंने वैधीभक्तिके द्वारा श्रीकृष्णको प्राप्त किया है॥७८॥

कतमोऽपि न वेणः स्यात् पञ्चानां पुरुषं प्रति।
तस्मात् केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत्॥७९॥

किन्तु इन सब भावोंमेंसे कोई एक भी भाव वेणराजामें नहीं था, क्योंकि उसने इन पाँच भावोंमेंसे किसी एक भी भावको अङ्गीकार नहीं किया था। वह केवल इन सभी भावोंके प्रति उदासीन था, इसीलिए उसे सद्गतिकी प्राप्ति नहीं हुई। अतएव निष्कर्ष यह है कि किसी भी एक उपायसे श्रीकृष्णमें मनोनिवेश करना चाहिये। यहाँ यह विचारणीय है कि श्रीकृष्णके प्रति जीवकी प्रवृत्ति दो प्रकारकी होती है। एक तो विधि-विचारसे कृष्णभक्ति होती है और दूसरी रागोत्तेजित होकर कृष्णभक्ति होती है। राग चित्तका स्वाभाविक धर्म है। अविद्या द्वारा ग्रस्त चित्तमें रागका उदय नहीं होता; क्योंकि वह विषय-रागोंमें व्यस्त रहता है। इसलिए रागके उदित न होने तक विधिका अवलम्बन करके भक्ति करना ही साधारण जीवोंका कर्त्तव्य है, किन्तु राग स्वाभाविक धर्म है। उससे जिस भक्तिका उदय होता है, वह अति प्रबल एवं प्रार्थनीय है। काम, द्वेष, भय, सम्बन्धबुद्धि एवं स्नेह—ये सब रागके सारूप्य (अनुकूल) एवं वैरूप्य (प्रतिकूल) भाव हैं। द्वेष एवं भय—ये दोनों रागके वैरूप्य भाव हैं, इसलिए शिष्ट लोगोंको इनका अनुकरण नहीं करना चाहिये। बल्कि काम, सम्बन्ध एवं स्नेहका अनुकरण करना ही वाञ्छनीय है। उसमें भी श्रीकृष्णके प्रति गोपियोंका जो शुद्ध मधुर राग है, वही श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुको अत्यन्त प्रिय है, इसलिए गौड़ीय वैष्णव उन्हींका अनुसरण करते हुए रागानुगा भक्तिका अनुष्ठान करते हैं॥७९॥

रागके लक्षण होनेपर भी भय और द्वेष आदि अत्यन्त हेय हैं। इसलिए केवल काम और सम्बन्ध लक्षणयुक्त रागभक्तिका अनुशीलन

करनेसे ही रागानुगाभक्ति होती है। श्रीमद्भा. १०/८७/२३ में इस विषयमें श्रुतियाँ कहती हैं—

निभृतमरुन्मनोऽक्षदृढयोगयुजो हृदि य—
न्मुनय उपासते तदरयोऽपि ययुः स्मरणात्।
स्त्रिय उरगेन्द्रभोगभुजदण्डविषक्तधियो
वयमपि ते समाः समदृशोऽङ्घ्रिसरोजसुधाः ॥८०॥

मन, इन्द्रिय और प्राणवायुको वशमें करके दृढ़ रूपसे योगयुक्त हृदयमें मुनिगण आपके जिस तत्त्वकी उपासना करते हैं, असुरगण शत्रुभावसे स्मरण करके आपके उसी तत्त्वको ही प्राप्त कर लेते हैं। व्रजकी स्त्रियोंने उनके सर्पाकृति भुजदण्डमें आसक्त चित्त होकर उन्हें प्राप्त किया है। हमनें भी उन्हींका अनुसरण करते हुए उन्हींके समान कान्तभावसे श्रीकृष्णके श्रीचरणकमलकी सुधा (मकरन्द) को प्राप्त किया है। इसे रागानुगा साधनभक्तिका उदाहरण कहा जा सकता है॥८०॥

श्रीमद्भा. १०/३३/३६ में श्रीशुकदेव गोस्वामीने महाराज परीक्षित्‌से कहा—

अनुग्रहाय भक्तानां मानुषं देहमाश्रितः।
भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्॥८१॥

इति श्रीमद्भागवतार्कमरीचिमालायां अभिधेयतत्त्वप्रकरणे
साधनभक्तिनिरूपणं नाम द्वादशः किरणः॥

परात्पर तत्त्व भगवान् श्रीकृष्ण भक्तोंके प्रति अनुग्रह करनेके लिए अपने मनोहर कृष्णरूपको मनुष्योंकी भाँति प्रकटकर, रासलीला आदि रागमयी लीलाओंको प्रकट करते हैं। श्रीमद्भागवतके इन्हीं प्रसङ्गोंका श्रवणकर साधकभक्त गोपियोंके अनुगत होकर इन्हीं लीलाओंका आश्रय करते हैं। यही रागानुगाभक्ति है। साधनके समय इसे साधनलक्षणाभक्ति तथा सिद्धिके समय इसीको

साक्षात् रसमयी प्रेमलक्षणाभक्ति कहते हैं। साधन एवं कृष्णकृपासे इसका फल प्राप्त होता है। इस विषयमें सावधानीपूर्वक कपटतारहित होकर रसास्वादन करना आवश्यक है॥८१॥

द्वादश किरणकी 'मरीचिप्रभा' नामक गौड़ीय-व्याख्याका भावानुवाद समाप्त॥

त्रयोदश किरण
ऐकान्तिकी नामाश्रया साधनभक्ति

चैतन्यकृपया येन भक्तिर्नामाश्रितोदिता।
नमामि हरिदासं तं भक्तानां सुखदं गुरुम्॥

श्रीचैतन्य महाप्रभुकी कृपासे नामाश्रिता-भक्तिको प्रतिपादित करनेवाले तथा भक्तोंको (नाम भजनके आचरण और शिक्षा द्वारा) सुख प्रदान करनेवाले नामाश्रिता-भक्तिके गुरु श्रीहरिदास ठाकुरको मैं प्रणाम करता हूँ।

श्रीकृष्णचैतन्यचन्द्राय नमः

श्रीमद्भा. २/४/१५ में श्रीशुकदेव गोस्वामी महाराज परीक्षित्से कहते हैं—

यत्कीर्तनं यत्स्मरणं यदीक्षणं यद्वन्दनं यच्छ्रवणं यदर्हणम्।
लोकस्य सद्यो विधुनोति कल्मषं तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः॥१॥

जिनके नाम-रूप-गुण और लीला आदिका श्रवण, कीर्त्तन और स्मरण, जिनके रूपका दर्शन, श्रीचरणकमलोंकी वन्दना और पूजा लोगोंके समस्त कल्मषको शीघ्र ही नष्ट कर देती है, ऐसे सुभद्रश्रव (पुण्यकीर्त्ति) श्रीकृष्णको मैं बारम्बार नमस्कार करता हूँ॥१॥

श्रीमद्भा. ६/३/२२ में यमराज यमदूतोंसे कहते हैं—

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां धर्मः परः स्मृतः।
भक्तियोगो भगवति तन्नामग्रहणादिभिः॥२॥

श्रीकृष्णनामके सङ्कीर्त्तन आदि द्वारा जो भक्तियोग होता है, वही जीवके परम धर्मके रूपमें निर्धारित किया गया है॥२॥

श्रीमद्भा. ३/३३/६-७ में माता देवहूति कपिल मुनिसे कहती हैं—

यन्नामधेयश्रवणानुकीर्तनात् यत्प्रह्वणाद् यत्स्मरणादपि क्वचित्।
श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते कुतः पुनस्ते भगवन्नु दर्शनात्॥३॥

यदि आपके नामके श्रवण, कीर्त्तन तथा आपके श्रीचरणोंमें किये गये प्रणाम और स्मरण आदिके फलस्वरूप चण्डाल व्यक्ति भी शीघ्र-अतिशीघ्र अर्थात् जन्मान्तरकी अपेक्षा न कर सोमयज्ञ करनेयोग्य बन जाते हैं, तो फिर हे भगवन्! आपके दर्शनोंसे क्या कुछ हो सकता है, उसका वर्णन करना सम्भवपर नहीं है॥३॥

अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान् यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या ब्रह्मानुचुर्नाम गृणन्ति ये ते॥४॥

जन्मसे श्वपच (चाण्डाल) होनेपर भी वह श्रेष्ठ है, जिसकी जिह्वाके अग्रभागपर आपका नाम नृत्य करता रहता है। जो आपका नाम ग्रहण करते हैं, उन्होंने अनेक तपस्याएँ कर ली हैं, अनेक हवन कर लिये हैं, अनेक तीर्थोंमें स्नान कर लिया है तथा प्रचुर वेदपाठ कर लिया है। ऐसे व्यक्तिका चाण्डालके घरमें जन्म ग्रहण करना तो केवल भक्तिके पोषक दैन्यकी सिद्धिके लिए ही होता है, ऐसा जानना चाहिये॥४॥

श्रीमद्भा. १/१/१४ में श्रीसूत शौनक आदि ऋषियोंसे कहते हैं—

आपन्नः संसृतिं घोरां यन्नाम विवशो गृणन्।
ततः सद्य विमुच्येत यद्बिभेति स्वयं भयम्॥५॥

जिनसे भय भी भयभीत रहता है, ऐसे प्रभुके नामका, जन्म और मृत्युके घोर-चक्रमें पड़ा हुआ संसारी व्यक्ति यदि विवशतापूर्वक भी उच्चारण करता है, तो वह अतिशीघ्र मुक्त हो जाता है॥५॥

श्रीमद्भा. १२/३/४४-४६ में श्रीशुकदेव गोस्वामी महाराज परीक्षित्से कहते हैं—

यन्नामधेयं म्रियमाण आतुरः
पतन् स्खलन् वा विवशो गृणन् पुमान्।
विमुक्तकर्मार्गल उत्तमां गतिं
प्राप्नोति यक्ष्यन्ति न तं कलौ जनाः॥६॥

अहो! मरनेके समय आतुरताकी स्थितिमें अथवा गिरते तथा फिसलते समय विवश होकर भी यदि कोई भगवान्के प्रियनामका उच्चारण करता है, तो वह कर्मके बन्धनसे मुक्त होकर उत्तम गतिको प्राप्त करता है। यह बड़े दुःखका विषय है कि कलियुगके दुर्बुद्धिपरायण जीव भगवान्के ऐसे नामोंका कीर्त्तन करनेमें अनिच्छुक बने रहते हैं॥६॥

पुंसां कलिकृतान् दोषान् द्रव्यदेशात्मसम्भवान्।
सर्वान् हरति चित्तस्थो भगवान् पुरुषोत्तमः॥७॥

भगवान् हृदयमें विराजमान होनेपर कलियुगके प्रभावसे उत्पन्न द्रव्य, देश और आत्मसम्बन्धी सभी प्रकारके दोषोंका हरण कर लेते हैं॥७॥

श्रुतः सङ्कीर्तितो ध्यातः पूजितश्चादृतोऽपि वा।
नृणां धुणोति भगवान् हृत्स्थो जन्मायुताशुभम्॥८॥

जो भगवान्‌के नाम, रूप, गुण और लीला आदिका श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, पूजन और आदर करता है, भगवान् उसके हृदयमें विराजित होकर उसके हजारों जन्मोंके अशुभोंको नष्ट कर देते हैं॥८॥

श्रीमद्भा. ११/५/३२ में करभाजन निमिसे कहते हैं—

कृष्णवर्णं त्विषाऽकृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदम्।
यज्ञैः सङ्कीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः॥९॥

जिनकी जिह्वापर 'कृष्ण' ये दो वर्ण नृत्य करते हैं तथा जिनका वर्ण उज्ज्वल नीलमणिके समान पीत है, उन साङ्गोपाङ्ग, अस्त्र, पार्षदयुक्त पुरुष (श्रीचैतन्य महाप्रभु) का सुबुद्धिमान व्यक्तिगण सङ्कीर्त्तन प्रधान यज्ञ द्वारा भजन करते हैं॥९॥

(श्रीमद्भा. ११/५/३६)

कलिं सभाजयन्त्यार्या गुणज्ञाः सारभागिनः।
यत्र सङ्कीर्तनेनैव सर्वस्वार्थोऽपि लभ्यते॥१०॥

सारग्राही गुणज्ञ पुरुष इस कलियुगका विशेष सम्मान करते हैं, क्योंकि इस कलिकालमें सङ्कीर्त्तनके द्वारा ही सर्वार्थ-सिद्धि प्राप्त की जा सकती है॥१०॥

नामसङ्कीर्त्तनका उदाहरण। श्रीमद्भा. १२/११/२५ में श्रीसूत गोस्वामी शौनकादि ऋषियोंके समक्ष भगवान्‌से नामसङ्कीर्त्तनके द्वारा प्रार्थना करते हुए कहते हैं—

श्रीकृष्ण कृष्णसख वृष्ण्यर्षभावनीध्रुग्
राजन्यवंशदहनानपवर्गवीर्य ।
गोविन्द गोपवनिताव्रजभृत्यगीत–
तीर्थश्रवः श्रवणमङ्गल पाहि भृत्यान्॥११॥

हे कृष्ण! हे अर्जुनसखे! हे यदुवंशशिरोमणे! हे पृथ्वीके द्रोही दुष्ट राजाओंके वंशको भस्म करनेवाले! हे अनपवर्गवीर्य (जिसका पराक्रम सदा एक समान रहता है)! हे गोविन्द! हे गोपियोंके नाथ! हे व्रजवासियोंके गुणगानके विषय! हे तीर्थश्रवा! हे श्रवणमङ्गल! अपने भृत्यजनोंका पालन करें॥११॥

नामकीर्त्तन किस प्रकार करना चाहिये, श्रीमद्भा. १/६/२७ में यह बतलाते हुए श्रीनारद श्रीव्याससे कहते हैं—

नामान्यनन्तस्य हतत्रपः पठन्
गुह्यानि भद्राणि कृतानि च स्मरन्।
गां पर्यटंस्तुष्टमना गतस्पृहः
कालं प्रतीक्षन्नमदो विमत्सरः॥१२॥

मैं निर्लज्ज भावसे भगवान् श्रीअनन्तदेवके नामोंका कीर्त्तन और श्रीकृष्णकी गूढ़ लीलाओंका स्मरण करते-करते प्रसन्न चित्त तथा स्पृहाशून्य एवं मद और मत्सरतासे रहित होकर पृथ्वीपर भ्रमण करते हुए कालकी प्रतीक्षा करने लगा॥१२॥

श्रीमद्भा. २/१/११ में श्रीशुकदेव गोस्वामी राजा परीक्षित्से कहते हैं—

एतन्निर्विद्यमानानामिच्छतामकुतोभयम् ।
योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्तनम्॥१३॥

अतएव सभी शास्त्रोंमें यह निर्णय किया गया है कि संसारसे विरक्त एवं वास्तविक अभयको प्राप्त करनेके इच्छुक योगियोंका एकमात्र कर्त्तव्य भगवान् श्रीकृष्णके नामोंका कीर्त्तन करना ही है॥१३॥

निरपराध होकर श्रीकृष्णके नामोंका कीर्त्तन करना चाहिये। सर्वप्रथम निष्कपटतापूर्वक नामके कीर्त्तन करनेके विषयमें श्रीमद्भा. २/३/२४ में इस प्रकार कहा गया है—

तदश्मसारं हृदयं बतेदं यद्गृह्यमानैर्हरिनामधेयैः।
न विक्रियेताथ यदा विकारो नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः॥१४॥

श्रीहरिनाम ग्रहण करते समय नेत्रोंसे अश्रुओंकी धारा और देहमें पुलक आदिके उदित होनेपर भी यदि हृदय वास्तविक रूपमें विकार प्राप्त नहीं होता अर्थात् सचमुचमें सरलतापूर्वक द्रवीभूत नहीं होता, तब यही समझना चाहिये कि ऐसा हृदय कपटतारूपी अपराधके कारण पत्थरकी भाँति कठोर है॥१४॥

निरन्तर नाम ग्रहण करना आवश्यक है। नाम ग्रहण करते समय अन्यान्य इन्द्रियोंकी क्रियाका व्यवधान आकर उसमें किसी प्रकारकी बाधा न पहुँचाये, इसलिए श्रीमद्भा. ६/११/२४ में निरन्तर नाम ग्रहण करनेकी पद्धतिका निरूपण करते हुए वृत्रासुर कहते हैं—

अहं हरे तव पादैकमूल–दासानुदासो भवितास्मि भूयः।
मनः स्मरेतासुपतेर्गुणानास्ते गृणीत वाक् कर्म करोतु कायः॥१५॥

हे श्रीकृष्ण! मेरी यही प्रार्थना है कि मैं निरन्तर आपके श्रीचरणकमलोंका दासानुदास बना रहूँ और जिस समय मेरी जिह्वा प्राणपतिस्वरूप आपके गुणोंका गान करे, उस समय मेरा मन आपकी लीलाओंका स्मरण करे तथा मेरा सम्पूर्ण शरीर आपके सेवारूप कर्ममें नियुक्त रहे॥१५॥

नाम ग्रहण करते समय हृदयमें किस प्रकारकी लालसा उदित होनी चाहिये, श्रीमद्भा. ६/११/२६ में इसका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

अजातपक्षा इव मातरं खगाः स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥१६॥

जिस प्रकार पक्षी–शावक (पक्षीका ऐसा बच्चा) जिसके पंख भी उत्पन्न नहीं हुए, व्याकुल होकर अपनी माताके आगमनकी

आशा करता हैं, बछड़े भूखसे व्याकुल होकर जिस प्रकार अपनी माताके स्तनपान प्राप्त करनेकी प्रतीक्षा करते हैं, किसी अन्य स्थानपर गये हुए प्रियतमके ध्यानमें जिस प्रकार प्रिया अत्यन्त व्याकुल होती है—उसी प्रकार मेरा मन आपके दर्शन प्राप्तिकी लालसामें व्यग्र हो जाये॥१६॥

जिन्होंने भगवन्नामका आश्रय ग्रहण किया है तथा नामपरायण है, उन्हें कर्म और ज्ञानसम्मत अन्य प्रायश्चित्त करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। श्रीमद्भा. ६/२/७ में इसीका वर्णन करते हुए विष्णुदूत यमदूतोंसे कहते हैं—

अयं हि कृतनिर्वेशो जन्मकोट्यंहसामपि।
यद् व्याजहार विवशो नाम स्वस्त्ययनं हरेः॥१७॥

इस अजामिलने विवश होकर सर्वमङ्गलमय श्रीहरिके नामका जो उच्चारण किया है, उसीसे इसके कोटि जन्मोंके पाप ध्वंस हो गये हैं। तात्पर्य यह है कि पाप तीन प्रकारके होते हैं—अप्रारब्ध, प्रारब्ध और आकस्मिक अर्थात् इस जन्ममें किये गये।

कर्मकाण्डमें निर्धारित प्रायश्चित्तसे विशेष-विशेष पापोंका ही क्षय होता है। प्रारब्धपाप क्षय नहीं होते, अप्रारब्धकी तो बात ही क्या?

अनुतापादि ज्ञानमार्गीय प्रायश्चित्तसे अप्रारब्धपाप नष्ट होते हैं। आकस्मिक पापोंसे ज्ञानी लोग सावधान रहें, अन्यथा प्रारब्धपापके सहित उनका भी भोग करना पड़ेगा।

हरिनाम ग्रहणसे अप्रारब्ध, प्रारब्ध और आकस्मिक सारे पाप ही विनष्ट हो जाते हैं। केवल श्रीकृष्णकी इच्छासे ही जीवन रहता है॥१७॥

(श्रीमद्भा. ६/२/९-१०)

स्तेनः सुरापो मित्रध्रुग् ब्रह्महा गुरुतल्पगः।
स्त्रीराजपितृगोहन्ता ये च पातकिनोऽपरे॥१८॥

सर्वेषामप्यघवतामिदमेव सुनिष्कृतम्।
नामव्याहरणं विष्णोर्यतस्तद्विषया मतिः॥१९॥

चोरी करना, शराब पीना, मित्रसे द्रोह करना, ब्राह्मणकी हत्या करना, गुरु-पत्नीका सङ्ग करना, स्त्री, राजा, पिता और गाय आदिका वध करना तथा अन्यान्य जितने भी प्रकारके पाप हो सकते हैं, उन सभी पापोंको करनेवाला व्यक्ति कृष्ण नामके उच्चारणमात्रसे ही सब प्रकारके पापोंसे मुक्त हो जाता है। केवल पाप ही नष्ट होते हों, ऐसी बात नहीं, बल्कि श्रीकृष्ण और उनकी सेवामें मति भी दृढ़ रूपसे लग जाती है॥१८-१९॥

निष्कपट, निरपराध एवं सम्बन्धज्ञानके साथ जो कृष्णनाम उच्चरित होता है, वही शुद्धनाम है। उससे जिस फलकी प्राप्ति होती है, उसका वर्णन करना दुःसाध्य है, क्योंकि इस प्रकारके नामसे कृष्णप्रेम उदित होता है। श्रीकृष्ण अपने पार्षदोंके साथ भक्तोंके निकट आबद्ध हो जाते हैं। इस प्रकारके शुद्धनामकी बात तो दूर रहे। सम्बन्धज्ञान नहीं होनेपर भी निष्कपट एवं निरपराध नामोच्चारण छाया नामाभास कहलाता है। इस नामाभाससे ही सब पाप नष्ट हो जाते हैं। इस छाया नामाभासका जो असीम शुभ फल है, श्रीमद्भा. ६/२/१४-१५ में उसीका इस प्रकार वर्णन किया गया है—

साङ्केत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा।
वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः॥२०॥

साङ्केत्य, पारिहास्य, स्तोभ और हेला—ये चार प्रकारके छाया नामाभास हैं। जिस किसी भी प्रकार कृष्णनाम ग्रहण करनेसे अशेष पापोंका क्षय हो जाता है॥२०॥

पतितः स्खलितो भग्नः संदष्टस्तप्त आहतः।
हरिरित्यवशेनाह पुमान्नार्हति यातनाः॥२१॥

पतित (गिरते समय), स्खलित (पैर फिसलते समय), भग्न (अङ्ग-भङ्ग होते समय), सर्पादि द्वारा काटे जानेपर, अग्निके द्वारा

दग्ध होनेपर, अस्त्र, वज्रादि द्वारा आहत होनेपर जो 'हरि' इस नामको अवश अवस्थामें भी उच्चारण करता है, वह यातना भोगने योग्य नहीं रह जाता॥२१॥

(श्रीमद्भा. ६/२/१७-१९)

तैस्तान्यघानि पूयन्ते तपोदानव्रतादिभिः।
नाधर्मजं तद्धृदयं तदपीशाङ्घ्रिसेवया॥२२॥

बहुत-से व्यक्ति तप, दान और व्रतादिके द्वारा अपने पापोंका तो ध्वंस कर लेते हैं, किन्तु इन सब क्रियाओंके अनुष्ठानसे अधर्म करनेमें प्रवृत्त अपने हृदयको पवित्र नहीं कर पाते। हृदय तो केवल श्रीकृष्ण चरणकी सेवा द्वारा ही पवित्र हो सकता है। यहाँ कर्ममार्गीय कष्टप्रद प्रायोपवेशनादिरूप व्रतकी ओर सङ्केत किया गया है। जयन्ती, हरिवासर (एकादशी) आदि व्रत तो श्रीकृष्णचरणकी सेवाके अङ्ग हैं॥२२॥

अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमश्लोकनाम यत्।
सङ्कीर्तितमघं पुंसो दहेदेधो यथानलः॥२३॥

जाने या अनजाने, किसी तरहसे भी श्रीकृष्णनाम निष्कपट रूपसे सङ्कीर्त्तित होनेपर जीवके सारे पापोंको उसी प्रकार दग्ध कर देता है, जिस प्रकार अग्नि काष्ठको दग्ध कर देती है। यहाँपर जाननेका अर्थ—नामके फलको जानकर तथा अनजानका अर्थ—भगवान्‌के पवित्र नामोंके फलके विषयमें किसी भी प्रकारकी जानकारी नहीं होनेसे है॥२३॥

यथागदं वीर्यतममुपयुक्तं यदृच्छया।
अजानतोऽप्यात्मगुणं कुर्यान्मन्त्रोऽप्युदाहृतः॥२४॥

जिस प्रकार औषध एवं मन्त्रमें स्वाभाविक क्रियाशक्तियाँ होती हैं, उसी प्रकार श्रीकृष्णने अपने नाममें समस्त अचिन्त्यशक्ति अर्पित कर रखी है। यह शक्ति नामकी स्वाभाविकी शक्ति है।

पापमात्रका नाश एवं अनन्त मङ्गलका उदय कराना नामकी स्वाभाविकी शक्ति है। जिस प्रकार औषध एवं मन्त्र व्यवहार किये जानेपर अपने स्वभावगत प्रभावके द्वारा रोगादिका नाश करते हैं। रोगी इस औषधि और मन्त्रके प्रभावसे अवगत नहीं होनेपर भी उसके फलको प्राप्त करता है। उसी प्रकार नामकी शक्तिसे अवगत न होनेपर भी, जो नाम करते हैं, उन्हें अनायास ही नामका फल प्राप्त हो जाता है।

यदि मतवादके द्वारा कुसंस्कृत व्यक्ति कपटताका आश्रय करके नाम उच्चारण करता है, तो नाम भी उसे अपने भीतर कपटताके अनुरूप फल देनेकी जो शक्ति रखता है, वही फल प्रदान करता है, न कि प्रेमादि उच्चफलको॥२४॥

श्रीमद्भा. ६/२/४९ में श्रीशुकदेव गोस्वामी महाराज परीक्षित्‌से कहते हैं—

म्रियमाणो हरेर्नाम गृणन् पुत्रोपचारितम्।
अजामिलोऽप्यगाद्धाम किमुत श्रद्धया गृणन्॥२५॥

अजामिलने मरते समय पुत्रोपचारसे (पुत्रके बहाने) 'नारायण' शब्दरूप कृष्णनामको ग्रहण किया था, उसी नामके फलस्वरूप ही जब उन्हें वैकुण्ठधामकी प्राप्ति हुई। तब श्रद्धापूर्वक कृष्णनाम उच्चारणका जो फल है, उस फलके विषयमें और क्या वर्णन करूँ? सर्वेश्वर श्रीकृष्ण और कृष्णनाम एक ही वस्तु है, नाममें श्रीकृष्णकी सर्वशक्ति है, इस दृढ़ विश्वासका नाम ही श्रद्धा है॥२५॥

कपटतासे शून्य तथा शुद्ध स्वरूपज्ञानसे रहित जो भगवन्नामका उच्चारण है, वही नामाभास है। कपटतापूर्वक जो नाम ग्रहण है, वह नामापराध है। उसके द्वारा हृदय पत्थर जैसा कठोर हो जाता है। ऐसे नामापराध करनेमें लिप्त व्यक्तिके रोगकी चिकित्सा करना बहुत कठिन है। नामापराध दस प्रकारके हैं। उनमें साधु-निन्दा प्रधान अपराध है। श्रीमद्भा. ४/४/१३ में इसीको बतलाते हुए सती अपने पिता दक्ष प्रजापतिसे कह रही हैं—

नाश्चर्यमेतद्यदसत्सु सर्वदा महद्विनिन्दा कुणपात्मवादिषु।
सेर्ष्यं महापुरुषपादपांशुभिर्निरस्ततेजःसु तदेव शोभनम्॥२६॥

शवरूप जड़शरीरमें आत्मबुद्धि रखनेवाला व्यक्ति यदि महत् साधुओंकी निन्दा करें तो इसमें आश्चर्यकी क्या बात है? यद्यपि वैष्णव प्रतिहिंसा (हिंसा करनेवालेके प्रति हिंसा) नहीं करते, तथापि उनकी पदरेणु ईर्ष्यापूर्वक उन सभी वैष्णव निन्दकोंको निस्तेज कर देती है। और यह ठीक भी है॥२६॥

श्रीमद्भा. ११/५/६-७ और ९ में चमस ऋषि निमिको कहते हैं—

कर्मण्यकोविदाः स्तब्धा मूर्खाः पण्डितमानिनः।
वदन्ति चाटुकान् मूढा यया माध्व्या गिरोत्सुकाः॥२७क॥

रजसा घोरसङ्कल्पाः कामुका अहिमन्यवः।
दाम्भिका मानिनः पापा विहसन्त्यच्युतप्रियान्॥२७ख॥

जो लोग कर्मकुशल नहीं हैं अर्थात् कर्मजड़, मूर्ख और अपनेमें पाण्डित्यका अभिमान रखते हैं, वे कर्मपक्षीय चाटुकारितापूर्ण वचनोंसे मुग्ध हो जाते हैं। इन्हीं चिकनी-चुपड़ी मीठी बातोंका व्यवहार करते-करते वे रजोगुणकी अधिकताके कारण घोरसङ्कल्प करनेवाले, कामुक एवं सर्पवत् क्रोधी, दाम्भिक, अभिमानी और पापाचारी बनकर श्रीकृष्णके भक्तोंका परिहास करते हैं॥२७॥

श्रिया विभूत्याभिजनेन विद्यया त्यागेन रूपेण बलेन कर्मणा।
जातस्मयेनान्धधियः सहेश्वरान् सतोऽवमन्यन्ति हरिप्रियान् खलाः॥२८॥

जड़ीय धन-सम्पत्ति, विभूति (ऐश्वर्य), उत्तम कुलमें जन्म, साधारण विद्या, संन्यास आदि रूपी त्याग, सौन्दर्य, बल और कर्म आदिके द्वारा अहङ्कारी, खल तथा अन्ध बुद्धिवाले व्यक्ति ही जगदीश्वर श्रीहरि एवं उनके प्रिय भक्तोंका अपमान करते हैं॥२८॥

महत्-अवहेलनारूपी प्रथम नामापराध उपस्थित होनेपर, जिनके प्रति अपराध हुआ है, वे साधु ही यदि क्षमा करें, तभी मङ्गल सम्भवपर है। श्रीमद्भा. ९/४/७१ में इसी विषयका वर्णन करते हुए भगवान् दुर्वासा ऋषिसे कहते हैं—

ब्रह्मंस्तद् गच्छ भद्रं ते नाभागतनयं नृपम्।
क्षमापय माहभागं ततः शान्तिर्भविष्यति॥२९॥

हे ब्रह्मन्! आप नाभाग-नन्दन (अम्बरीष) के प्रति अपराध करनेके कारण कष्ट पा रहे हैं। उनके क्षमा करनेपर ही आपको शान्ति प्राप्त हो सकती है॥२९॥

द्वितीय नामापराध—शिवादि ईश्वरको परमेश्वर विष्णुसे पृथक् और स्वतन्त्र शक्तिसिद्ध समझनेपर अपराध होता है। तदनुगृहीत (शिव विष्णुके अनुगृहीत हैं, ऐसा) जाननेसे अपराध नहीं होता। श्रीमद्भा. १०/८८/३, ५ में इस प्रकार कहा गया है—

शिवः शक्तियुतः शश्वत् त्रिलिङ्गो गुणसंवृतः॥३०क॥

हरिर्हि निर्गुणः साक्षात् पुरुषः प्रकृतेः परः॥३०ख॥

शिव मायाशक्तिसे युक्त होकर त्रिलिङ्ग गुण-संवृत (शिव निरन्तर शक्ति अर्थात् मायासे सम्बन्धयुक्त तथा सत्त्व आदि तीनों गुणोंसे सम्पूर्ण रूपमें आवृत्त होकर त्रिगुणमय रूपमें अवस्थित हैं। वे सात्त्विक, राजसिक एवं तामसिक नामक तीन प्रकारके अहङ्कारोंके रूपमें वर्त्तमान) हैं। हरि निर्गुण प्रकृतिसे अतीत परमेश्वर हैं॥३०॥

गुरुकी अवज्ञा—यह तीसरा नामापराध है। श्रीमद्भा. ७/१५/२५-२६ में श्रीनारदने महाराज युधिष्ठिरसे कहा—

रजस्तमश्च सत्त्वेन सत्त्वञ्चोपशमेन च।
एतत् सर्वं गुरौ भक्त्या पुरुषो ह्यञ्जसा जयेत्॥३१॥

यस्य साक्षाद् भगवति ज्ञानदीपप्रदे गुरौ।
मर्त्यासद्धीः श्रुतं तस्य सर्वं कुञ्जरशौचवत्॥३२॥

सत्त्वके द्वारा रज और तम एवं उपशम (अनासक्ति) द्वारा सत्त्व पर जय प्राप्त करनेकी विधि है। गुरुभक्तिके द्वारा यह सब कुछ अनायास ही सिद्ध हो जाता है। ज्ञानप्रदाता गुरुके प्रति जिनकी साधारण मर्त्यबुद्धि है, उसका हाथीके स्नानके समान सब कुछ व्यर्थ ही है॥३१-३२॥

वैदिक-शास्त्रोंकी निन्दा करना चौथा नामापराध है। श्रीमद्भा. ११/३/२६ में श्रीकृष्ण उद्धवसे कह रहे हैं—

श्रद्धां भागवते शास्त्रेऽनिन्दामन्यत्र चापि हि॥३३क॥

किसी भी वैदिक शास्त्रकी निन्दा नहीं करनी चाहिये। भागवत् शास्त्रमें विशेष श्रद्धा रखनी चाहिये, किन्तु अन्यान्य शास्त्रोंको भी तद्-तद् (उनमें बतायी गयी विषयवस्तुका पालन करनेकी योग्यता रखनेवाले) अधिकारियोंका उपकारी जानकर निन्दा नहीं करनी चाहिये॥३३क॥

श्रीमद्भा. १०/१६/४४ में नागपत्नियाँ भगवान्से प्रार्थना करते हुए कह रही हैं—

नमः प्रमाणमूलाय कवये शास्त्रयोनये।
प्रवृत्ताय निवृत्ताय निगमाय नमो नमः॥३३ख॥

हे प्रमाणमूल शास्त्रयोनि कवि! (प्रमाण शिरोमणि भागवत स्वरूप और भागवत प्रकाशक कवि वेदव्यास स्वरूप, आपसे ही सभी शास्त्रोंकी उत्पत्ति हुई है, इसलिए)! हम आपको और आपके द्वारा प्रवर्त्तित प्रवृत्ति और निवृत्तिमूलक निगम शास्त्रोंको प्रणाम करती हैं॥३३॥

'नाममें अर्थवाद' पञ्चम नामापराध है। श्रीमद्भा. ६/३/२५ में इसीका वर्णन करते हुए यमराज अपने दूतोंसे कहते हैं—

प्रायेण वेद तदिदं न महाजनोऽयं
देव्या विमोहितमतिर्बत माययालम्।

त्रय्यां जडीकृतमतिर्मधुपुष्पितायां
वैतानिके महति कर्मणि युज्यमानः॥३४॥

जो महाजन नहीं हैं, वे ही दैवीमायाके द्वारा विमोहित होनेके कारण भगवान्‌के नामके माहात्म्यको नहीं समझ पाते, फलस्वरूप जड़-बुद्धिवशतः नाम-माहात्म्यमें अर्थवाद करके मधु-पुष्पित-कर्मफल-प्रदर्शक (कर्मोंके मीठे-मीठे फलोंका वर्णन करनेवाली अर्थवादरूपिणी वेद) वाणियोंमें अधिक विश्वास करते हैं और वैतानिक (यज्ञ-यागादि बड़े-बड़े) कर्मोंमें नियुक्त होकर नामापराधके कारण अमङ्गल प्राप्त करते हैं॥३४॥

श्रीमद्भा. ११/२१/३४ में भगवान् श्रीउद्धवसे कहते हैं—

एवं पुष्पितया वाचा व्याक्षिप्तमनसां नृणाम्।
मानिनां चातिलुब्धानां मद्वार्तापि न रोचते॥३५॥

तात्पर्य (मुख्यार्थ) का परित्याग करके शास्त्रके मधु-पुष्पित वाक्यों (यज्ञ करनेसे स्वर्ग जायेंगे, दिव्य आनन्द भोगेंगे, हमारे बड़े-बड़े महल होंगे आदि) में रमे हुए विक्षिप्तचित्त, अभिमानी और लुब्ध व्यक्तियोंकी मेरी कथामें रुचि नहीं होती॥३५॥

श्रीमद्भा. ६/१/१८ में श्रीशुकदेव गोस्वामी महाराज परीक्षित्‌से कहते हैं—

प्रायश्चित्तानि चीर्णानि नारायण पराङ्मुखम्।
न निष्पुनन्ति राजेन्द्र सुराकुम्भमिवापगाः॥३६॥

जिस प्रकार शराबसे भरा हुआ घड़ा जलसे धोनेपर भी पवित्र नहीं होता, उसी प्रकार नारायणसे विमुख होकर प्रायश्चित्त आदि करनेवाला व्यक्ति भी कदापि पवित्र नहीं हो सकता॥३६॥

(श्रीमद्भा. ७/९/४६)

मौनव्रतश्रुततपोऽध्ययनं स्वधर्म-
व्याख्यारहोजपसमाधय आपवर्ग्याः।

प्रायः परं पुरुष ते त्वजितेन्द्रियाणां
वार्ता भवन्त्युत न वात्र तु दाम्भिकानाम्॥३७॥

यद्यपि मौन, (ब्रह्मचर्य इत्यादि) व्रत, शास्त्र-श्रवण, तपस्या, स्वाध्याय, स्वधर्म पालन, (युक्तियों द्वारा) शास्त्रोंकी व्याख्या, एकान्त वास, जप और समाधि आदि अपवर्ग्य अर्थात् मोक्ष प्राप्तिके उपाय हैं, तथापि हे भगवन्! (नाममें अर्थवाद रूपी अपराधके कारण) दाम्भिक, अजितेन्द्रिय व्यक्ति इन सभी साधनोंको जीवन-निर्वाहके लिए उपयोग करते हैं, पारमार्थिक कल्याणके लिए नहीं॥३७॥

अन्यान्य शुभकर्मोंको नामके समान समझना छठा नामापराध है। श्रीमद्भा. ४/३१/९-१२ में श्रीनारदने कहा—

तज्जन्म तानि कर्माणि तदायुस्तन्मनो वचः।
नृणां येन हि विश्वात्मा सेव्यते हरिरीश्वरः॥३८॥

वही जन्म जन्म है, वही कर्म कर्म है, वही आयु आयु है, वही मन मन है और वही वचन वचन है, जिसके द्वारा विश्वात्मा ईश्वर श्रीहरि परिसेवित होते हैं। यदि इन सबके द्वारा भगवान्‌की सेवा न की जाये, तो ये सब तुच्छ हैं (भक्तिके निकट इन सब शुभकर्मोंकी तुच्छता देखिये!)॥३८॥

किं जन्मभिस्त्रिभिर्वेह शौक्रसावित्रयाज्ञिकैः।
कर्मभिर्वा त्रयीप्रोक्तैः पुंसोऽपि विबुधायुषा॥३९॥

श्रुतेन तपसा वा किं वचोभिश्चित्तवृत्तिभिः।
बुद्ध्या वा किं निपुणया बलेनेन्द्रियराधसा॥४०॥

किं वा योगेन सांख्येन न्यासस्वाध्याययोरपि।
किं वा श्रेयोभिरन्यैश्च न यत्रात्मप्रदो हरिः॥४१॥

शौक्र (माता-पितासे प्राप्त), सावित्र्य (यज्ञोपवीत संस्कारसे प्राप्त) एवं याज्ञिक (यज्ञ-दीक्षासे प्राप्त)—इन तीन प्रकारके

जन्मोंके द्वारा क्या लाभ? वेदत्रयीमें जिन कर्मोंकी व्यवस्था स्थापित की गयी है, उससे भी क्या प्रयोजन? देवताओं जैसी आयु प्राप्त करके भी क्या होता है? वेदाध्ययनसे भी क्या लाभ? वाग्मिता (वाणीकी चतुराई) एवं चित्तवृत्ति (स्थिर चित्त) से भी क्या होता है? बुद्धि एवं नैपुण्यसे भी क्या लाभ? इन्द्रियचेष्टा एवं बलके द्वारा भी क्या होगा? योगसे भी क्या लाभ? सांख्यज्ञानके द्वारा भी क्या होता है? संन्यास, वेदपाठ अथवा अन्यान्य श्रेयोंके द्वारा भी क्या लाभ—यदि आत्मप्रद (अपने आप तक को प्रदान कर देनेवाले) श्रीहरिको प्राप्त नहीं किया जा सके? ये सब शुभ कर्म तो जड़मय हैं। हरिनाम ही चिन्मय हैं। हरिनामके साथ जड़ कर्मोंकी तुलना करना अपराध है॥३९-४१॥

अन्य देवताओंकी उपासना आदि शुभकर्मोंको भी हरिनामके समान समझना छठे नामापराधके अन्तर्गत है। श्रीमद्भा. ४/३१/१४ में इसीका इस प्रकार वर्णन किया गया है—

यथा तरोर्मूलनिषेचनेन तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या॥४२॥

जिस प्रकार वृक्षकी जड़में जल देनेमात्रसे ही वृक्षके स्कन्ध, शाखा और उपशाखा आदि तृप्त हो जाते हैं, प्राण सन्तुष्ट होनेपर सारी इन्द्रियाँ प्रसन्न हो जाती हैं, उसी प्रकार कृष्ण-उपासनाके द्वारा ही समस्त देवताओंका अर्चन हो जाता है, अलगसे उनकी पूजा करनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती। और वैसे भी, पृथक् रूपसे पूजा करना निष्फल होता है॥४२॥

अन्यान्य शुभकर्मोंके फल्गुत्व अर्थात् नगण्यत्वको प्रदर्शित करते हुए श्रीमद्भा. ६/९/२२ में देवता कहते हैं—

अविस्मितं तं परिपूर्णकामं स्वेनैव लाभेन समं प्रशान्तम्।
विनोपसर्पत्यपरं हि बालिशः श्वलाङ्गुलेनातितितर्त्ति सिन्धुम्॥४३॥

श्रीकृष्ण परिपूर्णकाम, स्वयंमें परिपूर्ण, सम एवं प्रशान्त हैं। ऐसे श्रीहरिका परित्याग करके जो व्यक्ति अन्य किसी देवताका आश्रय लेकर शास्त्रोंमें बतलायी गयी विधिके अनुसार उन्हें प्रसन्न करने हेतु शुभकर्म करता है, वह वैसा ही मूर्ख है, जैसे समुद्र पार करनेके लिए कुत्तेकी पूँछ पकड़नेवाला॥४३॥

अश्रद्धालु व्यक्तियोंको नामका उपदेश करना सप्तम नामापराध है। श्रीमद्भा. ७/९/९-११ में महाराज प्रह्लाद कहते हैं—

मन्ये धनाभिजनरूपतपःश्रुतौज-
स्तेजःप्रभावबलपौरुषबुद्धियोगाः ।
नाराधनाय हि भवन्ति परस्य पुंसो
भक्त्या तुतोष भगवान् गजयूथपाय॥४४॥

धन, अभिजन (सत् कुलमें जन्म), रूप (सौन्दर्य), तप, श्रुत, ओज, प्रभाव, बल, पौरुष और बुद्धियोग—ये सब गुण भी मनुष्यको परमपुरुषकी आराधना करनेके योग्य नहीं बनाते। दीन व्यक्तिकी श्रद्धा ही उनकी आराधना करनेकी योग्यताको धारण करती है। गजयूथपति (गजेन्द्र) की श्रद्धासे उत्पन्न भक्तिसे ही भगवान् प्रसन्न हुए थे॥४४॥

विप्राद् द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभ-
पादारविन्दविमुखात् श्वपचं वरिष्ठम्।
मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थ-
प्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः॥४५॥

द्वादश गुण विशिष्ट ब्राह्मण यदि भगवान्के श्रीचरण-कमलोंसे विमुख हो अर्थात् श्रीकृष्णमें श्रद्धाहीन हो, तो मेरे विचारसे उसकी अपेक्षा चण्डालकुलमें जन्म लेनेवाला भक्त श्रेष्ठ है, क्योंकि उसने अपने मन, वचन, चेष्टा, अर्थ एवं प्राणको श्रीकृष्णके प्रति समर्पित कर दिया हैं। वह अपने कुलके साथ जगत्को पवित्र कर सकता है; किन्तु श्रद्धाहीन बड़प्पनका

अभिमान रखनेवाला ब्राह्मण कृष्णभक्तिके अभावसे अपने कुल और जगत्को पवित्र करनेकी बात तो दूर रहे, वह स्वयंको भी पवित्र नहीं कर पाता॥४५॥

नैवात्मनः प्रभुरयं निजलाभपूर्णो
मानं जनादविदुषः करुणो वृणीते।
यद्यज्जनो भगवते विदधीत मानं
तच्चात्मने प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः॥४६॥

सर्वशक्तिमान श्रीकृष्ण अपने आपमें परिपूर्ण हैं। वे कृष्णनामके प्रति अश्रद्धालु मूर्ख मायावादी लोगोंकी उपासनाको ग्रहण नहीं करते, क्योंकि वे तो केवल श्रद्धावान भक्तोंके प्रति ही करुणा करते हैं। अतएव भक्त अपनेको परमप्रिय लगनेवाली वस्तुएँ पूजास्वरूप जब अपने प्रभु भगवान् श्रीकृष्णको समर्पित करता है, (तब उसके फलस्वरूप उसके प्रति जो भगवत्-करुणा उदित होती है, उससे उसका अपना ही कल्याण होता है।) जैसे अपने मुखका सौन्दर्य दर्पणमें दीखनेवाले प्रतिबिम्बको भी सुन्दर बना देता है, उसी प्रकार भगवान्में समर्पित पूजा वास्तवमें भक्तोंमें ही प्रतिबिम्बकी भाँति उदित होती है॥४६॥

नामके बलपर पाप करनेकी बुद्धि अष्टम नामापराध है। श्रीमद्भा. ६/१/१० में श्रीपरीक्षित् महाराज श्रील शुकदेव गोस्वामीसे कहते हैं—

क्वचिन्निवर्त्ततेऽभद्रात् क्वचिच्चरति तत्पुनः।
प्रायश्चित्तमथोऽपार्थं मन्ये कुञ्जरशौचवत्॥४७॥

नाम ग्रहणादि परम प्रायश्चित्तका अवलम्बन करनेसे जीव सब प्रकारके पापोंसे मुक्त हो जाता है, किन्तु यदि ऐसा सुननेके उपरान्त कोई प्रायश्चित्तके भरोसे पुनः पापका आचरण करता है, तो उसके लिए और क्या प्रायश्चित्त रह जाता है? ऐसा प्रायश्चित्त तो कुञ्जर अर्थात् हाथीके स्नानके समान व्यर्थ ही हो जाता है॥४७॥

श्रीमद्भा. ७/१५/३६ में श्रीनारद कहते हैं—

यः प्रव्रज्य गृहात् पूर्वं त्रिवर्गावपनात् पुनः।
यदि सेवेत तान् भिक्षुः स वै वान्ताश्यपत्रपः॥४८॥

धर्म, अर्थ और काम नामक तीन पुरुषार्थोंको छोड़कर मोक्ष-प्राप्तिरूपी चतुर्थ पुरुषार्थको प्राप्त करनेकी इच्छासे बिना किसी बाधाके हरिनाम ग्रहण करने हेतु त्यागी बननेवाला यदि पुनः स्त्रीसङ्ग करता है, तो उसे निर्लज्ज वान्ताशी[१] कहते हैं॥४८॥

प्रमाद अर्थात् अमनोयोगसे आलस्य विक्षेपादि होनेपर नाममें ज्ञानपूर्वक अवहेलारूप नवम नामापराध हो जाता है। इसलिए श्रीमद्भा. २/२/३६ में श्रीशुकदेव गोस्वामी महाराज परीक्षित्से कहते हैं—

तस्मात् सर्वात्मना राजन् हरिः सर्वत्र सर्वदा।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यो भगवान्नृणाम्॥४९॥

चित्त एवं इन्द्रियवृत्ति आदि सभीको एकाग्र करके सर्वत्र सदैव भगवान् श्रीहरिके नामादिका श्रवण, कीर्त्तन एवं स्मरण करना चाहिये। ऐसा करनेसे निरपराध नाम किया जा सकता है॥४९॥

हरिनाम-माहात्म्य श्रवण करके भी देहात्माभिमानके कारण हरिनामके प्रति उदासीन रहना दसवाँ नामापराध है। श्रीमद्भा. ६/१/९ में महाराज परीक्षित् श्रील शुकदेव गोस्वामीसे कहते हैं—

दृष्टश्रुताभ्यां यत्पापं जानन्नप्यात्मनोऽहितम्।
करोति भूयो विवशः प्रायश्चित्तमथो कथम्॥५०॥

एक व्यक्ति दृष्ट (इस संसारमें) और श्रुत (पूर्व-पूर्व जन्मोंमें अन्य स्थानोंपर) जो सब पाप करता है, उन समस्त पापोंकी निष्कृति हरिनामसे हो जाती है, नामकी ऐसी महिमाको जानकर भी 'मैं' और 'मेरेपन' का अभिमान रखकर जो नाममें प्रीति नहीं

---

[१] जो संन्यासी संन्यास आश्रमका परित्यागकर पुनः गृहस्थाश्रममें प्रवेश करता है, उसे वान्ताशी कहते हैं।

करते, वे नामापराधी हैं—उनके पापोंका प्रायश्चित्त किस प्रकार सम्भव है? ॥५०॥

(श्रीमद्भा. ६/१/१२)

नाश्नतः पथ्यमेवान्नं व्याधयोऽभिभवन्ति हि।
एवं नियमकृद्राजन् शनैः क्षेमाय कल्पते॥५१॥

जिस प्रकार नियमपूर्वक अन्नादि पथ्य ग्रहण न करनेसे व्याधि क्रमशः बलवान होती जाती है। उसी प्रकार संख्यादि नियमपूर्वक हरिनाम स्मरण, कीर्त्तन न करनेसे किस प्रकार मङ्गल होगा? निष्कपट और निरपराध होकर उत्तरोत्तर संख्या वृद्धिपूर्वक निरन्तर नाम जप करना ही हरिनाम ग्रहण करनेकी विधि है। नाम, रूप, गुण और लीला स्मरणादिका क्रम-नियम ही कल्याणजनक है॥५१॥

नामग्रहणकी नित्यता। यमराजने अपने दूतोंको जो आज्ञा प्रदान की, उसका श्रीमद्भा. ६/३/२९ में इस प्रकार वर्णन है—

जिह्वा न वक्ति भगवद्गुणनामधेयं
चेतश्च न स्मरति तच्चरणारविन्दम्।
कृष्णाय नो नमति यच्छिर एकदापि
तानानयध्वमसतोऽकृतविष्णुकृत्यान् ॥५२॥

हे दूतो! जिसकी जिह्वा कृष्णनाम-गुण कीर्त्तन नहीं करती, जिसका चित्त श्रीकृष्णके पादपद्मोंका स्मरण नहीं करता, जिनका मस्तक एक बार भी श्रीकृष्णके लिए नहीं झुकता, ऐसे असत् व्यक्तियोंको भक्तिकार्यहीन जानकर मेरे समीप लाना॥५२॥

श्रीमद्भा. ६/१६/४४ में महाराज चित्रकेतु भगवान् श्रीकृष्णसे कहते हैं—

न हि भगवन्नघटितमिदं त्वद्दर्शनान्नृणामखिलपापक्षयः।
यन्नामसकृच्छ्रवणात् पुक्कशोऽपि विमुच्यते संसारात्॥५३॥

आपके दर्शनसे जीवोंके अखिल पापोंका अवश्य ही नाश हो जाता है। आपके नामका एकबार स्मरण करनेमात्रसे चण्डाल भी इस संसारसे मुक्त हो जाता है॥५३॥

भक्तमात्रकी कृष्णनामके श्रवणमें रुचि होती है। इसलिए भक्तगण क्या प्रार्थना करते हैं? श्रीमद्भा. ४/२०/२४ में इस विषयमें महाराज पृथु श्रीभगवान्से कहते हैं—

न कामये नाथ तदप्यहं क्वचित् न यत्र युष्मच्चरणाम्बुजासवः।
महत्तमान्तर्हृदयान्मुखच्युतो विधत्स्व कर्णायुतमेष मे वरः॥५४॥

इति श्रीमद्भागवतार्कमरीचिमालायां अभिधेयतत्त्वप्रकरणे साधनभक्तिनिरूपणं नाम त्रयोदशः किरणः॥

हे नाथ! जिसमें आपके श्रीचरणकमलोंका आसव (मकरन्द) नहीं है, मैं उसके लिए कभी कोई भी कामना नहीं करता। आपके महद्भक्तोंके हृदयसे निःसृत जो हरिनाम है, उसे श्रवण करनेके लिए मुझे अयुत् (दस हजार) कर्ण प्रदान कीजिये—मेरी तो बस यही एक प्रार्थना है॥५४॥

त्रयोदश किरणकी 'मरीचिप्रभा' नामक गौड़ीय व्याख्याका भावानुवाद समाप्त॥

चतुर्दश किरण

भक्ति-प्रातिकूल्यविचार

प्रतिष्ठाशाभयाद् येन विविक्ते भजनं कृतम्।
तं माध्वान्वयनक्षत्रं माधवेन्द्रपुरीं भजे॥

मैं श्रीमध्वाचार्यकी परम्परामें उज्ज्वल नक्षत्रस्वरूप उन श्रीमाधवेन्द्र पुरीका भजन करता हूँ, जिन्होंने प्रतिष्ठाशाके भयके कारण एकान्तमें भजन किया था।

श्रीकृष्णचैतन्यचन्द्राय नमः

श्रीमद्भा. ३/३३/८ में माता देवहूति श्रीकपिलदेवसे कहती हैं—

तं त्वामहं ब्रह्म परं पुमांसं प्रत्यक्स्रोतस्यात्मनि संविभाव्यम्।
स्वतेजसा ध्वस्तगुणप्रवाहं वन्दे विष्णुं कपिलं वेदगर्भम्॥१॥

आप ही परमब्रह्म हैं, आप ही परमपुरुष हैं, प्रत्यक् (भक्तिके अनुकूल) स्रोत्रके द्वारा ही आपको अनुभव किया जा सकता है। आप अपने प्रभावके द्वारा समस्त गुणप्रवाहको ध्वंस करके वर्त्तमान रहनेवाले हैं। आपका नाम श्रीकपिल हैं। आप वेदगर्भ हैं अर्थात् प्रलयके समय आपके ही उदरमें वेद अवस्थित थे। आपमें श्रीविष्णु साक्षात् विराजमान हैं अर्थात् आपमें श्रीविष्णुका साक्षात् आवेश होनेके कारण आप श्रीविष्णुके आवेशावतार हैं। मैं आपकी वन्दना करती हूँ।

चिदनुकूल (भक्तिके अनुकूल) स्रोत्रको प्रत्यक् स्रोत तथा चित्–प्रतिकूल (भक्तिके प्रतिकूल) स्रोत्रको पराक् स्रोत्र भी कहते हैं। चित्–प्रतिकूल अर्थात् भक्तिके प्रतिकूलका त्याग न करनेपर भक्ति साधित नहीं होती॥१॥

शरणागति नितान्त आवश्यक है। श्रीमद्भा. ११/१२/१४–१५ में भगवान् श्रीकृष्ण उद्धवसे कहते हैं—

तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनाम्।
प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च श्रोतव्यं श्रुतमेव च॥

मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम्।
याहि सर्वात्मभावेन मयास्या ह्यकुतोभयः॥२॥

तुम श्रुति और स्मृतिके प्रेरणादायक वाक्य, विधि, निषेध, श्रवण योग्य एवं श्रुत आदि सभी विषयोंका परित्याग करके, सभी प्राणियोंके अन्तर्यामीस्वरूप केवलमात्र मेरी अर्थात् श्रीकृष्णस्वरूपकी अनन्य शरण ग्रहण करो। यदि तुम सम्पूर्ण रूपसे ऐसा कर पाये, तो मुझमें अवस्थित होकर मेरे द्वारा अभय प्राप्त करोगे॥२॥

शरणागतिके छह लक्षण हैं—(१) प्रतिकूलका वर्जन, (२) अनुकूल-मात्रका स्वीकार, (३) एकमात्र श्रीकृष्ण ही मेरी रक्षा करनेवाले हैं—ऐसा दृढ़ विश्वास करना, (४) श्रीकृष्णको ही अपना एकमात्र प्रतिपालक मानना, (५) मैं कुछ भी नहीं हूँ, मैं और मेरा सब कुछ श्रीकृष्णका है, एवं (६) मैं सर्वापेक्षा दीन-हीन हूँ।

इस किरणमें शरणागतिके छह लक्षणोंमेंसे प्रथम प्रातिकूल्यवर्जनपर विचार किया जायेगा। भक्तिकी प्रतिकूलताका वर्जन न करनेपर श्रद्धा और भक्ति नहीं हो सकती। प्रतिकूल भाव अनेक प्रकारके होते हैं—उनमेंसे स्थान-प्रतिकूलताके विषयमें बताते हुए श्रील शुकदेव श्रीमद्भा. ५/१९/२३ में महाराज परीक्षित्को कह रहे हैं—

न यत्र वैकुण्ठकथासुधापगा
न साधवो भागवतास्तदाश्रयाः।
न यत्र यज्ञेशमखा महोत्सवाः
सुरेशलोकोऽपि न वै स सेव्यताम्॥३॥

विषयी लोगोंका स्थान भक्तिके प्रतिकूल होता है, उसका अवश्य ही परित्याग कर देना चाहिये। जिस स्थानपर श्रीकृष्णकथारूपी मन्दाकिनी प्रवाहित नहीं होती, जिस स्थानपर श्रीकृष्णाश्रित भक्तलोग नहीं रहते, जिस स्थानपर कृष्णकीर्त्तनरूपी महोत्सव नहीं होता, वह स्थान यदि सुरेशलोक (इन्द्रलोक) भी क्यों न हो, वहाँ कभी वास नहीं करना चाहिये॥३॥

श्रीमद्भा. १०/१०/८-१० में श्रीनारद मणिग्रीव और नलकुबर नामक गुह्यकोंसे कहते हैं—

न ह्यन्यो जुषतो जोष्यान् बुद्धिभ्रंशो रजोगुणः।
श्रीमदादाभिजात्यादिर्यत्र स्त्रीद्यूतमासवः॥४॥

हन्यन्ते पशवो यत्र निर्दयैरजितात्मभिः।
मन्यमानैरिमं देहमजरामृत्यु नश्वरम्॥५॥

जहाँ प्रिय लगनेवाले जड़विषयोंका सेवन होता है, वहाँ बुद्धि-ध्वंसकारी अन्य रजोगुणी वस्तुओंकी आवश्यकता नहीं

पड़ती, क्योंकि वहाँ तो सहज ही धनका अभिमान विद्यमान रहता है, जिसके फलस्वरूप सत्कुलमें जन्मादिका अभिमान अर्थात् ऐश्वर्य सम्पन्न कुलमें उत्पन्न होनेका अभिमान, अवैध स्त्रीसङ्ग, द्यूतक्रीड़ा, मद्यसेवा एवं धूम्र-पान आदि अपने आप उपस्थित हो जाते हैं। जिस स्थानपर अजितेन्द्रिय व्यक्तिगण नश्वर जड़देहको अजर-अमर मानकर उसके पोषणके लिए निर्दयतापूर्वक पशु-वध इत्यादि करते हैं, उन सब स्थानोंका परित्याग कर देना चाहिये॥४-५॥

देवसंज्ञितमप्यन्ते कृमिविड्भस्मसंज्ञितम्।
भूतध्रुक् तत्कृते स्वार्थं किं वेद निरयो यतः॥६॥

इस शरीरकी गतिको सुनो। जीवित अवस्थामें जिस शरीरको भूदेव, नरदेव, देव इत्यादि नामोंसे पुकारते हैं, मरणोपरान्त वही शरीर कृमि या विष्ठा बन जाता है अथवा भस्मके रूपमें परिणत हो जाता है। "इस शरीरके लिए अन्य प्राणियोंसे द्रोह करना अपने ही स्वार्थका विरोधी अर्थात् आत्मलाभका विरोधी बनना है"—यह नहीं जाननेके कारण मुनष्य अवश्य नरकगामी होता है॥६॥

श्रीमद्भा. १०/७४/४० में शिशुपालके चरितका वर्णन करते हुए श्रीशुकदेव कहते हैं—

निन्दां भगवतः शृण्वन् तत्परस्य जनस्य वा।
ततो नापैति यः सोऽपि यात्यधः सुकृताच्च्युतः॥७॥

जिस स्थानपर भगवान् और भगवद्भक्तोंकी निन्दा सुनायी देती है, उस स्थानको छोड़कर जो तुरन्त चला नहीं जाता, उसकी समस्त सुकृतियाँ नष्ट होनेके कारण वह अधःपतित हो जाता है॥७॥

भक्ति-प्रतिकूल शास्त्रोंका तथा अनेकानेक शास्त्रोंका अनुशीलन नहीं करना चाहिये। श्रीमद्भा. १/१/१०-११ में शौनकादि ऋषि सूत गोस्वामीसे कहते हैं—

प्रायेणाल्पायुषः सभ्य कलावस्मिन् युगे जनाः।
मन्दाः सुमन्दमतयो मन्दभाग्या ह्युपद्रुताः ॥८॥

भूरीणि भूरिकर्माणि श्रोतव्यानि विभागशः।
अतः साधोऽत्र यत्सारं समुद्धृत्य मनीषया।
ब्रूहि भद्राय भूतानां येनात्मा सुप्रसीदति ॥९॥

कलियुगमें अधिकांश मनुष्य अल्पायु, परमार्थ चेष्टासे रहित, आलसी, स्वल्पबुद्धि, मन्द भाग्य और रोग तथा शोकके द्वारा आक्रान्त रहते हैं। ऐसे बर्हिमुख लोगोंके लिए पहली बात तो, अनेकानेक शास्त्रोंको सुननेकी सुविधा नहीं है, और यदि हो भी तो, हे सौम्य! विभागानुसार उन सभी शास्त्रोंका अध्ययन करनेपर अनेकानेक कर्म विषयक शास्त्रोंको भी सुनना पड़ता है, जो कल्याणकारी नहीं है। अतएव आप समस्त शास्त्रोंके सारको अपनी बुद्धि द्वारा उद्धृत करके हमारे तथा जगत्के समस्त जीवोंके मङ्गलके लिए श्रवण कराईये। इसीसे आत्मा प्रसन्न होगी ॥८-९॥

अकारण परचर्चा करना दोष होनेके कारण वर्जनीय है। श्रीमद्भा. ११/२८/२ में इसी विषयका स्पष्ट रूपसे वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण उद्धवसे कहते हैं—

परस्वभावकर्माणि यः प्रशंसति निन्दति।
स आशु भ्रश्यते स्वार्थादसत्यभिनिवेशतः ॥१०॥

दूसरोंके स्वभाव एवं कर्मोंकी प्रशंसा अथवा निन्दा नहीं करनी चाहिये। ऐसा करनेसे असत् विषयमें अभिनिवेश होता है एवं स्वार्थसे भ्रष्ट होना पड़ता है ॥१०॥

(श्रीमद्भा. १२/६/३४)

अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कञ्चन।
न चैनं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥११॥

यदि कोई तुम्हारा अतिवाद (निन्दा-तिरस्कार आदि) करे, तो उसे सहन कर लेना। किसीका भी अपमान मत करना। इस देहका आश्रय करके अर्थात् इस देहमें रहते हुए इस देहके लिए किसीके प्रति वैरभाव मत रखना॥११॥

यद्यपि लौकिक कामनाएँ बहुत प्रकारकी होती हैं, तथापि इन सबको भोगकी कामना तथा मोक्षकी कामना नामक दो भागोंमें विभक्त किया जा सकता है। भोगकी कामना पुनः स्थूल लौकिक भोग सुखकी कामना तथा सूक्ष्म पारलौकिक भोग सुखकी कामना नामक दो भागोंमें विभक्त है। लौकिक धन, जन, राज्य, जाति, बल, रूप, इन्द्रिय सुख, यश, प्रतिष्ठा तथा मात्सर्य—ये सब स्थूल लौकिक भोग सुख हैं तथा स्वर्ग आदि लोकोंमें प्राप्त सुख ही सूक्ष्म पारलौकिक भोग सुख है।

अत्यधिक कष्ट उपभोग करनेके उपरान्त संसारसे अतिशीघ्र मुक्ति प्राप्त करनेकी जो स्पृहा है, उसीको मोक्षकी कामना कहते हैं। भक्तको भुक्ति व मुक्तिकी कामना नहीं करनी चाहिये। श्रीमद्भा. १२/१०/६ में मार्कण्डेय-चरित्रका वर्णन करते हुए भगवान् शङ्कर बतलाते हैं कि—

नैवेच्छत्याशिषः क्वापि ब्रह्मर्षिर्मोक्षमप्युत।
भक्तिं परां भगवति लब्धवान् पुरुषेऽव्यये॥१२॥

अव्यय पुरुष भगवान् श्रीकृष्णकी परा अर्थात् परमाभक्तिके सुखको प्राप्त करके मोक्ष पर्यन्त सभी प्रकारकी कामनाओंका अवश्य ही परित्याग कर देना चाहिये॥१२॥

श्रीमद्भा. ३/२५/३४ में श्रीकपिलदेव माता देवहूतिसे कहते हैं—

नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन् मत्पादसेवाभिरता मदीहाः।
येऽन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य सभाजयन्ते मम पौरुषाणि॥१३॥

मेरी पादसेवामें संलग्न और मद्विषयक चेष्टाओंमें तत्पर मेरे भक्त आसक्तिपूर्वक परस्परमें मेरी लीलाकथाओंका आस्वादन करते हैं। एकात्मता अर्थात् सायुज्य मुक्तिको भक्ति सुखका नितान्त विरोधी जानकर उसकी तनिक भी स्पृहा नहीं करते॥१३॥

(श्रीमद्भा. ३/२९/१३-१४)

सालोक्य सार्ष्टि सामीप्य सारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥१४क॥

स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः।
येनातिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावायोपपद्यते॥१४ख॥

जिन्होंने मेरे सेवारूपी सुखको प्राप्त कर लिया है, उन्हें यदि मैं सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य एवं सारूप्य नामक मुक्तियोंको सेवाका द्वार कहकर देना भी चाहूँ, तो भी वे उन्हें मेरी सेवामें बाधा समझकर ग्रहण नहीं करते। एकत्व या सायुज्यको तो सहज ही घृणापूर्वक त्याग देते हैं। इसीका नाम आत्यन्तिक भक्तियोग है। इसीके द्वारा भक्त तीनों गुणोंका अतिक्रमण करके मेरे प्रेमभावको प्राप्त कर लेते हैं॥१४॥

श्रीमद्भा. ११/२०/३४-३५ में भगवान् श्रीकृष्ण उद्धवसे कहते हैं—

न किञ्चित् साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम।
वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम्॥१५॥

मेरे ऐकान्तिक धीर भक्तगण स्वयं तो मुझसे कुछ भी प्राप्त करनेकी इच्छा नहीं रखते; यदि मैं उन्हें कुछ देना भी चाहूँ, तो दूसरी वस्तुओंका तो कहना ही क्या? अपुनर्भवरूप अर्थात् जन्म और मृत्युके चक्करसे सदाके लिए छुड़ा देनेवाले आत्यन्तिक मोक्षकी भी अभिलाषा नहीं करते॥१५॥

नैरपेक्ष्यं परं प्राहुर्निःश्रेयसमनल्पकम्।
तस्मान्निराशिषो भक्तिर्निरपेक्षस्य मे भवेत्॥१६॥

निरपेक्षताका दूसरा नाम परम निःश्रेयः अर्थात् परम कल्याण है। यह अत्यधिक उत्कृष्ट अवस्था है, अतएव निरपेक्ष साधुओंके हृदयमें ही सर्वोत्कृष्ट निष्काम भक्तिका उदय होता है॥१६॥

कर्म और कर्मसम्बन्धी नियमाग्रहको दूर करना चाहिये। श्रीमद्भा. ६/१/११ में श्रीशुकदेव गोस्वामी परीक्षित्‌से कहते हैं—

कर्मणा कर्मनिर्हारो न ह्यात्यन्तिक इष्यते।
अविद्वदधिकारित्वात् प्रायश्चित्तं विमर्शनम्॥१७॥

कर्मके द्वारा जो कर्मका निर्हार (कर्मपनेको नष्ट करनेकी चेष्टा) है[१], वह आत्यन्तिक (अधिक प्रभावशाली) नहीं है। अज्ञानी व्यक्तियोंकी अधिकारिक स्थितिके अनुसार ही कर्म–प्रायश्चित्तकी व्यवस्था बतलायी गयी है॥१७॥

(श्रीमद्भा. ६/१/१५–१६)

केचित्केवलया भक्त्या वासुदेवपरायणाः।
अघं धुन्वन्ति कार्त्स्न्येन नीहारमिव भास्करः॥१८॥

वासुदेवपरायण व्यक्ति केवलाभक्ति अर्थात् कर्मसे रहित भक्तिकार्यके (आनुषङ्गिक फल) द्वारा ही समस्त पापोंको उसी प्रकार नष्ट कर देता है, जैसे सूर्य कुहरेको ध्वंस कर देता है॥१८॥

न तथा ह्यघवान् राजन् पूयेत तपआदिभिः।
यथा कृष्णार्पितप्राणस्तत् पुरुषनिषेवया॥१९॥

हे राजन्! कठिन तप आदिके द्वारा पापी व्यक्ति उतना पवित्र नहीं हो पाता, जितना कि उन वैष्णवजनोंकी सेवा करनेसे पवित्र होता है, जिन्होंने अपने प्राण श्रीकृष्णमें अर्पित कर दिये हैं॥१९॥

---

[१] पापाचरण करना एक प्रकारका कर्म है तथा उसके प्रायश्चित्तके रूपमें किया जानेवाला चान्द्रायण आदि व्रत भी अन्य प्रकारका कर्म है। अतएव कर्मके द्वारा कर्मकी जड़को सम्पूर्ण रूपसे छेदन करनेकी आशा नहीं की जा सकती, क्योंकि इस प्रकारके प्रायश्चित्त इत्यादि करनेवाले अविद्याग्रस्त हैं। जब तक उनकी अविद्या सम्पूर्ण रूपमें नष्ट नहीं हो जाती, तब तक प्रायश्चित्त इत्यादि द्वारा एकबार पाप क्षय हो जानेपर भी संस्कारवशतः पुनः उदित हो जाते हैं। फिर भी, शास्त्रोंमें जो इस प्रकारका विधान देखा जाता है वह तो केवल अज्ञानी व्यक्तिकी अधिकारिक स्थितिके अनुसार ही बतलाया गया है।

श्रीमद्भा. ७/१५/२८ में श्रीनारद युधिष्ठिर महाराजसे कहते हैं—

षड्वर्गसंयमैकान्ताः सर्वा नियमचोदनाः।
तदन्ता यदि नो योगानावहेयुः श्रमावहाः॥२०क॥

योगके द्वारा पवित्र होनेका उपाय भी सुविधाजनक नहीं है; क्योंकि समस्त नियम और वैदिक-प्रेरणा षड्वर्ग अर्थात् पञ्च इन्द्रिय और मनके संयमके उद्देश्यसे की गयी है। तथापि यदि इनका तात्पर्य भक्तिके अनुकूल नहीं हो, तो वह योग केवल श्रमको ही वहन करता है, उसका कोई फल नहीं होता॥२०क॥

श्रीमद्भा. ११/२०/२६ में श्रीकृष्ण उद्धवसे कहते हैं—

स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितः।
कर्मणां जात्यशुद्धानामनेन नियमः कृतः।
गुणदोषविधानेन सङ्गानां त्याजनेच्छया॥२०ख॥

जिस व्यक्तिका जो अधिकार है, उसीमें निष्ठा रखना ही गुण है। कर्म तो जन्मसे ही अशुद्ध हैं, क्योंकि कर्मोंका धर्मरूपी जो सङ्ग है (अर्थात् एक कर्मको करनेके साथ-ही-साथ अनेकानेक कर्मोंको पुनः-पुनः करनेका जो प्रवृत्तिरूपी सङ्ग हैं) वह तो उस कर्ममें पहलेसे ही निहित है, इसलिए कर्म करनेकी प्रवृत्तिको अर्थात् भोग प्रवृत्तिको निवृत्त करनेके उद्देश्यसे गुण, दोषके विधानरूप सारे नियम बतलाये गये हैं॥२०ख॥

श्रीमद्भा. १०/४७/२४ में श्रीउद्धव कह रहे हैं—

दान-व्रत-तपो-होम-जप-स्वाध्याय-संयमैः ।
श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते॥२१॥

तात्पर्य यह है कि दान, व्रत, तप, होम, जप, स्वाध्याय, संयम एवं अन्यान्य जितने भी शुभ कर्म निर्दिष्ट हुए हैं, इन सबकी साध्य वस्तु कृष्णभक्ति ही है॥२१॥

नगण्य क्षुद्र अभिलाषा नहीं करनी चाहिये। श्रीमद्भा. ६/१२/२२ में श्रीशुकदेव गोस्वामी महाराज परीक्षित्से कहते हैं—

यस्य भक्तिर्भगवति हरौ निःश्रेयसेश्वरे।
विक्रीडितोऽमृताम्भोधौ किं क्षुद्रैः खातकोदकैः॥२२॥

भगवान् श्रीहरिमें जिनकी परम मङ्गलस्वरूप प्रेममयी भक्ति हो जाती है, वे अमृतके समुद्रमें विहार करते हैं। भुक्ति एवं मुक्तिरूप क्षुद्र गड्ढोंके जलसे ऐसे भक्तोंका क्या लेना-देना है?॥२२॥

असत् गुरुमात्रका ही त्याग कर देना चाहिये। इस विषयमें भगवान् ऋषभदेव श्रीमद्भा. ५/५/१८ में कह रहे हैं—

गुरुर्न स स्यात् स्वजनो न स स्यात्
पिता न स स्याज्जननी न सा स्यात्।
दैवं न तत्स्यान्न पतिश्च स स्यात्
न मोचयेद् यः समुपेतमृत्युम्॥२३॥

जो समुपस्थित (सामने आयी हुई) मृत्युसे मुक्त करानेमें समर्थ न हो सके, वह गुरु, स्वजन, पिता, माता, देवता व पति पदवाच्य नहीं हो सकता॥२३॥

समस्त प्रतिकूल आसक्तियोंका परित्याग कर देना चाहिये। श्रीमद्भा. ११/२८/२७ में भगवान् श्रीकृष्ण उद्धवसे कहते हैं—

तथापि सङ्गः परिवर्जनीयो गुणेषु मायारचितेषु तावत्।
मद्भक्तियोगेन दृढेन यावद् रजो निरस्येत मनःकषायः॥२४॥

मायारचित समस्त गुणों और उन गुणोंके परिणामसे उत्पन्न विषयोंमें जो आसक्ति है, वह वर्जनीय है। जब तक मेरे दृढ़ भक्तियोग द्वारा मन का कषाय अर्थात् रजोगुणरूपी मल दूर नहीं होता, तब तक माया रचित विषयोंकी सङ्गरूपी आसक्ति त्याग करनेका प्रयत्न करना चाहिये॥२४॥

श्रीमद्भा. १/१८/२२ में श्रीसूतगोस्वामी शौनकादि ऋषियोंसे कहते हैं—

यत्रानुरक्ताः सहसैव धीरा व्यपोह्य देहादिषु सङ्गमूढम्।
व्रजन्ति तत्पारमहंस्यमन्त्यं यस्मिन्नहिंसोपशमः स्वधर्मः॥२५॥

धीर पुरुष श्रीकृष्ण भक्तिमें अनुरक्त होकर सहसा देह आदिके प्रति रहनेवाली प्रबल आसक्तिका परित्याग करके जिस आश्रममें हिंसा और आसक्ति आदिसे रहित पराभक्तिरूपी स्वाभाविक धर्म है, सभी आश्रमोंकी चरम सीमा स्वरूप उस पारमंहस्य पदको प्राप्त करते हैं॥२५॥

श्रीमद्भा. २/१/१५ में श्रीशुकदेव गोस्वामी राजा परीक्षित्‌से कहते हैं—

अन्तकाले तु पुरुष आगते गतसाध्वसः।
छिन्द्यादसङ्गशस्त्रेण स्पृहां देहेऽनु ये च तम्॥२६॥

अन्तकाल उपस्थित होनेपर व्यक्तिको अनासक्तिरूपी अस्त्रके द्वारा अपनी देह और देहके अनुगत पुत्र, कलत्रादिकी स्पृहाका छेदन कर देना चाहिये॥२६॥

श्रीमद्भा. २/२/४-५ में भक्तिजनित चरमवैराग्यका वर्णन इस प्रकार मिलता है—

सत्यां क्षितौ किं कशिपोः प्रयासै-
र्बाहौ स्वसिद्धे ह्युपबर्हणैः किम्।
सत्याञ्जलौ किं पुरुधान्नपात्र्या
दिग्वल्कलादौ सति किं दुकूलैः॥२७॥

भूमि रहते शय्याके लिए प्रयास क्यों? दो भुजाओंके रहते तकियेके लिए चेष्टा क्यों? अञ्जलिके रहते भोजनपात्रके लिए अन्वेषण क्यों? दिशारूपी वस्त्रके होनेपर अन्य वस्त्रोंसे क्या प्रयोजन?॥२७॥

चीराणि किं पथि न सन्ति दिशन्ति भिक्षां
नैवाङ्‌घ्रिपाः परभृतः सरितोऽप्यशुष्यन्।

रुद्धा गुहाः किमजितोऽवति नोपसन्नान्
कस्माद् भजन्ति कवयो धनदुर्मदान्धान्॥२८॥

अहो! क्या पथपर चीथड़े नहीं पड़े रहते? क्या वृक्ष इत्यादि हमें भिक्षा नहीं देंगे? क्या सब नदियाँ सूख गयी हैं? क्या सभी गुफाएँ अवरुद्ध (बन्द) हो गयी हैं? क्या अजित श्रीकृष्ण अपने शरणापन्न भक्तोंकी रक्षा नहीं करेंगे? अर्थात् अवश्य रक्षा करेंगे। तो फिर बुद्धिमान व्यक्ति धनके मदमें अन्ध—विषयी व्यक्तियोंकी उपासना अर्थात् चाटुकारिता (चापलूसी) क्यों करेंगे?॥२८॥

भक्तके द्वारा धर्मसम्बन्धी कर्त्तव्योंके प्रति आसक्ति रखनेकी आवश्यकता नहीं है। श्रीमद्भा. ११/५/४१ में योगेश्वर करभाजन राजा निमिसे कहते हैं—

देवर्षिभूताप्तनृणां पितृणां न किङ्करो नायमृणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्॥२९॥

जिसने सर्वात्मभावसे समस्त कर्मोंका परित्याग करके सदाके लिए परम शरण्य भगवान् श्रीकृष्णका आश्रय स्वीकार किया है, वह देवताओं, ऋषियों, प्राणियों, कुटुम्बियों और पितरोंका किङ्कर अर्थात् ऋणी नहीं रहता, बल्कि उनके ऋणसे मुक्त हो जाता है॥२९॥

भगवद्भक्तिमें बाधास्वरूप बहिर्मुख गृहके प्रति आसक्तिका त्याग करना चाहिये। श्रीमद्भा. ७/५/३०-३१ में प्रह्लाद महाराज हिरण्यकशिपुसे कहते हैं—

मतिर्न कृष्णे परतः स्वतो वा मिथोऽभिपद्येत गृहव्रतानाम्।
अदान्तगोभिर्विशतां तमिस्रं पुनः पुनश्चर्वितचर्वणानाम्॥३०॥

अपनी चेष्टा अथवा अन्योंकी चेष्टा द्वारा भी जिनकी श्रीकृष्णमें मति नहीं होती, ऐसे गृहस्थ ही गृहव्रत होकर परस्परमें आसक्तिसे आबद्ध हो जाते हैं। वे अजितेन्द्रिय हैं, अतएव तमिस्त्र

(घोर अन्धकारमय) नरकके यात्रीस्वरूप हैं तथा संसाररूपी निष्फल वस्तुको पुनः-पुनः चर्वित-चर्वण (चबाये हुए को चबा) करके दुःख प्राप्त कर रहे हैं। इनके सङ्गका परित्याग करना ही कर्त्तव्य है। यह सङ्ग दो प्रकारसे (अर्थात् जड़भरत या फिर प्रियव्रतकी भाँति) त्याग किया जा सकता है॥३०॥

न ते विदुः स्वार्थगतिं हि विष्णुं दुराशया ये बहिरर्थमानिनः।
अन्धा यथान्धैरुपनीयमाना-स्तेऽपीशतन्त्र्यामुरुदाम्नि बद्धाः॥३१॥

बहिरर्थमानी (विषय सुखरूपी अनर्थोंको ही अर्थ अर्थात् प्रयोजन समझनेवाले), दुराशय (दुष्ट अन्तःकरणवाले अर्थात् विषयासक्त), ईशतन्त्रीमें दृढ़ (कर्म-काण्डात्मक वेदरूपी दीर्घ रज्जु द्वारा बन्धे हुए), बद्धजीव और अन्धोंके पीछे अन्धेकी तरह चलनेवाले व्यक्ति यह नहीं जानते कि श्रीविष्णु ही जीवकी एकमात्र स्वार्थ गति अर्थात् वास्तविक गति हैं॥३१॥

बहिर्मुख वैराग्यका परिश्रम भी त्याज्य है। श्रीमद्भा. ५/१/१७ में श्रीब्रह्मा प्रियव्रतसे कहते हैं—

भयं प्रमत्तस्य वनेष्वपि स्याद्
यतः स आस्ते सह षट्सपत्नः।
जितेन्द्रियस्यात्मरतेर्बुधस्य
गृहाश्रमः किं नु करोत्यवद्यम्॥३२॥

देखो! अवशीभूत चित्त और इन्द्रियोंको ही तृप्त करनेमें प्रमत्त रहनेवाला व्यक्ति क्या केवल वनमें जानेमात्रसे निर्भय हो सकता है? अर्थात् नहीं, क्योंकि वह जहाँ-कहाँ भी जायेगा, काम-क्रोध इत्यादि छह शत्रुओंको साथ ले जायेगा। और दूसरी तरफ आत्मरत, जितेन्द्रिय और बुद्धिमान व्यक्तिको गृहस्थाश्रम क्या कोई नुकसान पहुँचा सकता है? अर्थात् नहीं, क्योंकि उसका कोई शत्रु है ही नहीं॥३२॥

साधकोंको बहिर्मुख लोगोंका सङ्ग पूरी तरहसे त्याग देना चाहिये। श्रीमद्भा. ३/३१/३३-३४ में श्रीकपिलदेव कहते हैं—

सत्यं शौचं दया मौनं बुद्धि ह्रीः श्रीर्यशः क्षमा।
शमो दमो भगश्चेति यत्सङ्गाद्याति संक्षयम्॥३३॥

सत्य, पवित्रता, दया, मौन, बुद्धि, लज्जा, यश, क्षमा, शम-दम अर्थात् इन्द्रिय-निग्रह और भग (ऐश्वर्य)—ये समस्त गुण कृष्ण-बहिर्मुख असत् व्यक्तियोंके सङ्गसे क्षीण हो जाते हैं॥३३॥

तेष्वशान्तेषु मूढेषु खण्डितात्मस्वसाधुषु।
सङ्गं न कुर्याच्छोच्येषु योषित्क्रीडामृगेषु च॥३४॥

आत्मविनाशी, असाधु, अशान्त एवं मूढ़ स्त्रियोंके क्रीड़ा-मृग (स्त्रियोंके हाथके खिलौने) जैसे व्यक्तियोंका सङ्ग नितान्त शोचनीय जानकर सम्पूर्ण रूपसे त्याग देना चाहिये॥३४॥

(श्रीमद्भा. ३/३१/३९)

सङ्गं न कुर्यात् प्रमदासु जातु योगस्य पारं परमारुरुक्षुः।
सत्सेवया प्रतिलब्धात्मलाभो वदन्ति या निरयद्वारमस्य॥३५॥

जो भक्तियोगरूप योगके परमोच्च स्थानपर आरोहण करना चाहते हैं, उन्हें कभी भी प्रमोद-दायिनी-स्त्रियोंका सङ्ग नहीं करना चाहिये। जिन्हें साधु-सेवाके फलस्वरूप आत्म (ज्ञान) की प्राप्ति हुई है, वे इन प्रमदाओंके सङ्गको नरकका द्वार कहते हैं॥३५॥

(श्रीमद्भा. ३/३१/४१)

यां मन्यते पतिं मोहान्मन्मायामृषभायतीम्।
स्त्रीत्वं स्त्रीसङ्गतः प्राप्तो वित्तापत्यगृहप्रदम्॥३६॥

भक्तस्त्रियोंको भी बहिर्मुख पतियोंका सङ्ग त्याग देना चाहिये, क्योंकि बहिर्मुख पुरुषको पति मानना बड़ा कष्टदायक है। स्त्रीसङ्ग करनेसे स्त्रीत्व प्राप्त होता है। अतएव अगले जन्ममें

स्त्रीयोनिको प्राप्त हुआ वह जीव, पुरुष रूपमें प्रतीत होनेवाली मेरी मायाको ही धन, पुत्र, गृह देनेवाला पति मानता रहता है और मायापुरुष अर्थात् मेरी मायाके द्वारा पुरुषशरीरको प्राप्त उसका पति वृषभ (साँढ़) के समान आचरण करता हुआ पतित्वका अभिमान करता है। यह सब मोह है। इन सबमें आसक्ति रखना अत्यन्त हानिकर है॥३६॥

पशु-पक्षीके पालनमें आसक्ति नहीं करनी चाहिये। श्रीमद्भा. ५/१२/१४ में जड़भरत महाराज रहूगणसे कहते हैं—

अहं पुरा भरतो नाम राजा विमुक्तदृष्टश्रुतसङ्गबन्धः।
आराधनं भगवत ईहमानो मृगोऽभवं मृगसङ्गाद्धतार्थः॥३७॥

मैं पूर्व जन्ममें भरत नामक राजा था। दृष्ट तथा श्रुत (ऐहिक और पारलौकिक) समस्त विषयोंसे विरक्त होकर मैं भगवान्‌की आराधनाके उद्देश्यसे शालग्राम क्षेत्रमें तपस्या करने लगा। वहाँ एक मृग-शावकके प्रति आसक्त होनेके कारण मेरा उद्देश्य विफल हो गया था तथा मैं मृग बन गया था॥३७॥

श्रीमद्भा. ४/३१/२१ में श्रीनारद प्रचेताओंसे कहते हैं—

न भजति कुमनीषिणां स इज्यां हरिरधनात्मधनप्रियो रसज्ञः।
श्रुतधनकुलकर्मणां मदैर्ये विदधति पापमकिंचनेषु सत्सु॥३८॥

पाण्डित्य, धन, कुल और कर्मोंके मदमें उन्मत्त होकर जो अकिञ्चन वैष्णवोंके प्रति तिरस्काररूपी पाप कर्म करता है, ऐसे कुबुद्धि परायण व्यक्तिकी पूजा निर्धनके आत्मधन-प्रिय (निष्काम भक्तोंको ही अपना धन और प्रिय माननेवाले) तथा रसज्ञ (भक्तोंके प्रेमरसको जाननेवाले) श्रीहरि कभी भी स्वीकार नहीं करते।

विद्या, कुल, धन और बृहत् कार्योंको करनेकी सम्पूर्ण योग्यता होनेपर भी व्यक्तिको अहङ्कार नहीं करना चाहिये, क्योंकि जड़ अहङ्कार भक्तिके प्रतिकूल होनेके कारण त्याज्य है॥३८॥

श्रीमद्भा. ७/६/१८ में प्रह्लाद महाराज दैत्यबालकोंसे कह रहे हैं—

ततो विदूरात् परिहृत्य दैत्या दैत्येषु सङ्गं विषयात्मकेषु।
उपेत नारायणमादिदेवं स मुक्तसङ्गैरिषितोऽपवर्गः ॥३९॥

कुसङ्ग जब इतना ही बुरा है, तो हे दैत्यबालको! विषयी दैत्य जनोंका सङ्ग दूरसे ही परित्यागकर मुक्त सङ्ग होकर अपवर्ग (मुक्ति) की आकांक्षासे आदिदेव नारायणका आश्रय ग्रहण करो तथा यह भी समझो कि श्रीहरिके श्रीचरणकमलोंकी सेवा ही वास्तविक अपवर्ग (मुक्ति) है॥३९॥

(श्रीमद्भा. ७/७/४४-४५)

किमु व्यवहितापत्यदारागारधनादयः।
राज्यं कोषगजामात्यभृत्याप्ता ममतास्पदाः ॥४०॥

सन्तान, स्त्री, गृह, धनादि, राज्य, कोष, हाथी, मन्त्री, सेवक, आत्मीय आदि ममतास्पद वस्तुएँ क्या प्रदान कर सकती हैं? ॥४०॥

किमेतैरात्मनस्तुच्छैः सह देहेन नश्वरैः।
अनर्थैरर्थसङ्काशैर्नित्यानन्दरसोदधेः ॥४१॥

आत्माकी तुलनामें ये सब वस्तुएँ तुच्छ हैं। देहके अनुगत समस्त वस्तुएँ नश्वर हैं। ये अर्थके समान प्रतीत होती हैं, किन्तु हैं अनर्थ। नित्यानन्द-रससमुद्र जो कृष्णभक्ति है, उसके सामने ये सब कुछ भी नहीं हैं॥४१॥

(श्रीमद्भा. ७/७/५१-५२)

नालं द्विजत्वं देवत्वमृषित्वं वासुरात्मजाः।
प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता॥४२॥

हे असुरनन्दनो! ब्राह्मणत्व, देवत्व, ऋषित्व, सदाचार और बहुज्ञता (बहुत अधिक ज्ञान)—कृष्ण-प्रीतिको प्राप्त करानेका

कारण नहीं बन सकते। अतः इनसे उत्पन्न अहङ्कार और आसक्तिका त्याग कर देना चाहिये॥४२॥

न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च।
प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद् विडम्बनम्॥४३॥

दान, तप, यज्ञ, पवित्रता एवं कर्ममार्गीय व्रतादिके द्वारा श्रीहरि प्रसन्न नहीं होते, वे तो केवल अमल (शुद्ध) भक्ति द्वारा ही प्रसन्न होते हैं। भक्तिरहित ये समस्त कर्म बिडम्बनामात्र ही हैं॥४३॥

श्रीमद्भा. ७/१०/४ में महाराज प्रह्लाद भगवान्‌से कहते हैं—

नान्यथा तेऽखिलगुरो घटेत करुणात्मनः।
यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक्॥४४॥

हे आदिगुरो! आप परम दयालु हैं, अपने भक्तोंको भोगोंमें फँसानेवाला वर आप कैसे दे सकते हैं? जो आपसे आशीष (वर) प्राप्त करनेकी आशासे आपकी उपासना करते हैं, वे आपके सेवक नहीं, बनिये हैं॥४४॥

श्रीमद्भा. ७/१५/२९ में देवर्षि नारद महाराज युधिष्ठिरसे कहते हैं—

यथा वार्तादयो ह्यर्था योगस्यार्थं न बिभ्रति।
अनर्थाय भवेयुः स्म पूर्तमिष्टं तथाऽसतः॥४५॥

जिस प्रकार सांसारिक कार्य करनेसे योग साधनके फल भगवद्भक्तिकी प्राप्ति नहीं होती, केवल अनर्थ ही वर्धित होते हैं, उसी प्रकार असत् पुरुषोंके द्वारा किये गये पूर्त और इष्ट (विधि-निषेध क्रमसे प्राप्त शास्त्रोक्त कर्म) अनर्थका मूल ही हुआ करते हैं अर्थात् असत् पुरुषों द्वारा किये गये ऐसे कर्म कभी भी कल्याणकारी नहीं होते॥४५॥

श्रीमद्भा. १०/१/४ में श्रीशुकदेव गोस्वामी परीक्षित्‌से कहते हैं—

निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद्
भवौषधाच्छ्रोत्रमनोऽभिरामात् ।

क उत्तमःश्लोकगुणानुवादात्
पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात्॥४६॥

श्रीकृष्णगुणानुवाद (श्रीगुरुमुखसे श्रवण करनेके उपरान्त कीर्त्तित होनेवाला श्रीहरिके गुणोंका वर्णन) कृष्णेत्तर विषयोंकी तृष्णासे रहित मुक्तपुरुषोंके कीर्त्तनका विषय है। यह संसारी लोगोंके लिए भवसागरसे पार होनेकी औषधि तथा श्रवणेन्द्रिय कान और मनके लिए आनन्दप्रद है। ऐसे कृष्णगुणानुवादसे आत्मघाती व्याधके अतिरिक्त और कौन विमुख हो सकता है।

ऐसे आत्मघाती अश्रद्धालु व्यक्तिका सङ्ग त्याज्य है॥४६॥

मुक्त होनेका अभिमान करनेवाले मायावादियोंका सङ्ग त्याज्य है। श्रीमद्भा. १०/२/३२ में देवता कहते हैं—

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिन–स्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः॥४७॥

हे कमलनयन! केवल शुष्क ज्ञानकी चेष्टा द्वारा अपने आपको मुक्त मानकर अभिमान करनेवाले व्यक्ति वास्तवमें भक्तिकी नित्यताके ज्ञानके अभावमें अशुद्धबुद्धिवाले होते हैं। यद्यपि ऐसे लोग ज्ञानचेष्टा द्वारा अर्थात् असत् वस्तुका त्याग करते–करते तत्त्ववस्तुके निकटवर्ती जो परमपद है, वहाँ तक प्रायः पहुँच जाते हैं, तथापि आश्रयरूप आपके श्रीपादपद्मको प्राप्त न कर पानेके कारण पुनः अधःपतित हो जाते हैं।

ऐसे लोगोंका सङ्ग नहीं करना चाहिये, क्योंकि इनके सङ्गसे भक्तिका लोप हो जाता है॥४७॥

श्रीमद्भा. १०/२३/४० में याज्ञिक विप्र कहते हैं—

धिग् जन्म नस्त्रिवृद्धविद्यांधिग् व्रतं धिग् बहुज्ञताम्।
धिक्कुलं धिक्क्रियादाक्ष्यं विमुखा ये त्वधोक्षजे॥४८॥

कृष्ण–विमुख लोगोंके शौक्र, सावित्र्य एवं याज्ञिकरूप तीनों जन्मोंको धिक्कार है, उनके यज्ञ एवं व्रतादिको धिक्कार है,

उनकी बहुज्ञता (अत्यधिक शास्त्र-ज्ञान) को धिक्कार है, उनके उच्चकुलको धिक्कार है, उनके क्रियाकलापकी निपुणताको धिक्कार है, ऐसा कहते हुए बहिर्मुख यज्ञमें दीक्षित माथुर ब्राह्मण अपने आपको धिक्कारने लगे थे।

उपरोक्त योग्यताओंके मदमें मदान्वित कृष्ण-विमुख लोगोंके सङ्गको भी धिक्कार है॥४८॥

श्रीमद्भा. १०/८४/१३ में भगवान् श्रीकृष्णने माता देवकीसे कहा—

यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके
स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः।
यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचि-
ज्जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः॥४९॥

जिनकी कफ, वात, पित्तसे निर्मित जड़शरीरमें आत्मबुद्धि, स्त्री-पुत्र आदिमें आत्मीय बुद्धि, भौम-वस्तुओं (मिट्टी, पत्थर, काष्ठ आदि पार्थिव विकारों) में पूज्य इष्टदेव बुद्धि तथा केवल जलमें तीर्थ बुद्धि होती है—किन्तु इन सब प्रकारकी बुद्धिओंमेंसे किसी भी प्रकारकी बुद्धि भगवद्भक्तोंके प्रति नहीं होती, वह गैयाओंमें नीच गधा है (अर्थात् वह चार पैर वाले पशुओंमें नीच गधा है अथवा जैसे रङ्गमें सफेद और घास खानेमें गायके समान समानता होनेपर भी गधा नीच है, उसी प्रकार मनुष्ययोनि प्राप्त करके मनुष्यों जैसी वेश-भूषा, आहार-विहार और कर्मकाण्डीय आचरण करनेपर भी भगवत्-बहिर्मुख व्यक्ति वास्तवमें मनुष्य कहलाने योग्य नहीं है)॥४९॥

दुष्ट, कपटी, दाम्भिक, नास्तिक एवं श्रद्धाहीनोंका सङ्ग नहीं करना चाहिये। श्रीमद्भा. ११/२९/३० में भगवान् श्रीकृष्ण उद्धवसे कहते हैं—

नैतत्त्वया दाम्भिकाय नास्तिकाय शठाय च।
अशुश्रूषोरभक्ताय दुर्विनीताय दीयताम्॥५०॥

हे उद्धव! मैंने तुम्हें जिन सभी तत्त्वोंका उपदेश दिया है, तुम उसे दाम्भिक, नास्तिक, शठ, अश्रद्धावान, अभक्त और दुर्विनीत

व्यक्तियोंको कभी मत बतलाना। उनका सङ्ग करना उचित नहीं है। जो दाम्भिक अभिमानी व्यक्ति सर्वेश्वर भगवान्‌की सत्तामें ही दृढ़ विश्वास नहीं करते, वे नास्तिक हैं। जो अपने किसी स्वार्थकी सिद्धि हेतु भक्तोंके निकट भक्तवेश धारण करते हैं, वे अश्रद्धालु हैं। जिनमें दैन्यसे उत्पन्न विनय नहीं है, वे दुर्विनीत हैं तथा बहिर्मुख कर्मी, ज्ञानी, योगी और विषयी अभक्त हैं॥५०॥

(श्रीमद्भा. ११/२६/३)

सङ्गं न कुर्यादसतां शिश्नोदरतृपां क्वचित्।
तस्यानुगस्तमस्यन्दे पतत्यन्धानुगान्धवत्॥५१॥

शिश्नोदर-तर्पण-प्रिय (विषयोंके सेवन और केवल उदरपोषणमें लगे हुए) असत् व्यक्तियोंका सङ्ग कभी भी नहीं करना चाहिये। जिस प्रकार अन्धेके द्वारा परिचालित अन्धा व्यक्ति अवश्य ही अन्धतम अवस्थामें पतित होता है, उसी प्रकार ऐसे पुरुषोंका सङ्ग करनेवाले व्यक्तिका भी अवश्य ही पतन हो जाता है॥५१॥

श्रीमद्भा. ११/२६/२४ में ऐल (पुरुरवा) ने कहा—

तस्मात् सङ्गो न कर्तव्यः स्त्रीषु स्त्रैणेषु चेन्द्रियैः।
विदुषां चाप्यविस्त्रब्धः षड्वर्गः किमुदादृशाम्॥५२॥

अतएव स्त्री और स्त्रीसङ्गीका अपने मन आदि इन्द्रियों द्वारा भी कभी सङ्ग नहीं करना चाहिये। हमारे जैसे लोगोंकी तो बात ही क्या? बड़े-बड़े पण्डितोंके लिए भी षड्वर्ग (पाँच इन्द्रियों और मन) के प्रति विश्वास करना उचित नहीं है। संसार एवं जीवनके निर्वाहक धर्म-कर्मको अनासक्त भावसे करना चाहिये। आसक्तिपूर्वक सङ्ग करनेवालोंके लिए ही उपरोक्त सभी विचार दिखाये गये हैं॥५२॥

श्रीमद्भा. ११/५/१० में योगेश्वर चमस राजा निमिसे कहते हैं—

सर्वेषु शश्वत्तनुभृत्स्ववस्थितं
यथा खमात्मानमभीष्टमीश्वरम्।

वेदोपगीतं च न शृण्वतेऽबुधा
मनोरथानां प्रवदन्ति वार्तया॥५३॥

इति श्रीमद्भागवतार्कमरीचिमालायां अभिधेयतत्त्वप्रकरणे भक्तिप्रातिकूल्यविचारे साधनभक्तिनिरूपणं नाम चतुर्द्दशः किरणः।

सभी देहधारी व्यक्तियोंमें भगवान् अवस्थित हैं। जिस प्रकार आकाश सर्वत्र होते हुए भी कहीं लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार ईश्वर भी अलिप्त भावसे सर्वत्र विद्यमान हैं। वेदमें प्रभुका गुणगान सर्वदा कीर्त्तित हो रहा है। अज्ञानी लोग नाना विषय-वार्त्ताओंमें ही डूबकर अपना समय व्यतीत करते हैं—कृष्णकथाओंमें मन नहीं लगाते। सिद्धान्त यह है कि भक्तिविरोधी समस्त वार्त्ताओंको नहीं त्यागनेसे भक्ति-लताके बीजमें वृद्धि होनेके स्थानपर क्रमशः क्षय होने लगता है॥५३॥

चतुर्दश किरणकी 'मरीचिप्रभा' नामक गौड़ीय-व्याख्याका भावानुवाद समाप्त॥

पञ्चदश किरण

भक्त्यानुकूल्य-विचार

अङ्गीकृतं सदा भक्तेरनुकूलं यदेव हि।
गौरपादाश्रयात् येन श्रीवासं तं नमाम्यहम्॥

मैं उन श्रीवास पण्डितको प्रणाम करता हूँ, जिन्होंने श्रीगौराङ्ग महाप्रभुके चरणकमलोंका आश्रय ग्रहण करके सदैव केवल वही (विचार, आचरण एवं वृत्ति आदिको) स्वीकार किया, जो भक्तिके अनुकूल है।

श्रीकृष्णचैतन्यचन्द्राय नमः

श्रीमद्भा. ७/९/१८ में श्रीप्रह्लाद श्रीनृसिंह भगवान्‌की प्रार्थना करते हुए कहते हैं—

सोऽहं प्रियस्य सुहृदः परदेवताया
लीलाकथास्तव नृसिंह विरिञ्चगीताः।
अञ्जस्तितर्म्यनुगृणन् गुणविप्रमुक्तो
दुर्गाणि ते पदयुगालयहंससङ्गः॥१॥

हे प्रियतम भक्तोंके सुहृद परमदेवता स्वरूप! मैं ब्रह्मा द्वारा गानकी हुई आपकी लीला-कथाओंका कीर्त्तन करते-करते निर्गुण होकर दुर्गसमूह (सांसारिक कठिनाइयों) को सहज ही लाँघ जाऊँगा, क्योंकि भक्तिके परम अनुकूल स्वरूप आपके श्रीचरणयुगलके रसको पान करनेवाले हंसरूपी भक्तोंका सङ्ग ही मेरा प्रधान आश्रय है॥१॥

श्रीमद्भा. ११/११/४८ में भगवान् श्रीकृष्ण उद्धवसे कहते हैं—

प्रायेण भक्तियोगेन सत्सङ्गेन विनोद्धव।
नोपायो विद्यते सम्यक् प्रायणं हि सतामहम्॥२॥

सत्सङ्गमें भक्तियोगके आचरणके बिना साधुओंके परम आश्रय मुझे प्राप्त करनेका दूसरा कोई उपाय नहीं है॥२॥

(श्रीमद्भा. ११/१२/१-७)

न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा॥३॥

व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः।
यथावरुन्धे सत्सङ्गः सर्वसङ्गापहो हि माम्॥४॥

अष्टाङ्गयोग, सांख्य, वर्णाश्रमधर्म, स्वाध्याय, तप, त्याग, इष्टापूर्त्त (अग्निहोत्र आदि यज्ञ इष्ट तथा कुएँ आदिका निर्माण पूर्त्त),

दक्षिणा, व्रत, यज्ञ, वेदपाठ, तीर्थ, नियम और यम—ये सब मुझे उस प्रकारसे वशीभूत नहीं कर पाते, जिस प्रकार समस्त प्रकारके दुःखोंका नाश करनेवाला सत्सङ्ग मुझे वशीभूत करता है॥३-४॥

सत्सङ्गेन हि दैतेया यातुधाना खगा मृगा।
गन्धर्वाप्सरसो नागाः सिद्धाश्चारणगुह्यकाः ॥५ ॥

विद्याधरा मनुष्येषु वैश्याः शूद्राः स्त्रियोऽन्त्यजाः।
रजस्तमःप्रकृतयस्तस्मिंस्तस्मिन् युगेयुगे ॥६ ॥

सत्सङ्गके द्वारा ही दैत्य, यातुधान (राक्षस), खग, मृग, गन्धर्व, अप्सरा, नाग, सिद्ध, चारण, गुह्यक, विद्याधर, मनुष्योंमें वैश्य, शूद्र, स्त्री और अन्त्यज आदिने (जिनकी स्वभावतः रज तथा तम प्रकृति है, उन्होंने) भी युग-युगमें मुझे प्राप्त किया है॥५-६ ॥

बहवो मत्पदं प्राप्तास्त्वाष्ट्रकायाधवादयः।
वृषपर्वा बलिर्बाणो मयश्चाथ विभीषणः ॥७ ॥

सुग्रीवो हनुमानृक्षो गजो गृध्रो वणिक्पथः।
व्याधः कुब्जा व्रजे गोप्यो यज्ञपत्न्यस्तथापरे ॥८ ॥

त्वाष्ट्र (वृत्रासुर), कयाधुपुत्र प्रह्लादादि, वृषपर्वा, बलि, बाणासुर, मयदानव, विभीषण, सुग्रीव, हनुमान, जाम्बवान्, गजेन्द्र, गीध (जटायु), वैश्य (तुलाधार), धर्म-व्याध, कुब्जा, व्रजकी साधनसिद्धा गोपियों और यज्ञपत्नियों आदिने भी सत्सङ्गके प्रभावसे मेरे श्रीचरणकमलोंको प्राप्त किया था॥७-८॥

ते नाधीतश्रुतिगणा नोपासितमहत्तमाः।
अव्रतातप्ततपसो मत्सङ्गान्मामुपागताः ॥९ ॥

इन्होंने (पूर्वोक्त व्यक्तियोंने) कभी श्रुतियोंका पाठ नहीं किया, वेद-शिक्षक पण्डितोंकी उपासना नहीं की, किसी प्रकारका व्रताचरण नहीं किया, कोई तपस्या नहीं की, केवल मेरे सङ्गसे ही मुझे प्राप्त किया।

(अर्थात्) मैं समस्त साधुओंका उपास्य हूँ। मेरा सङ्ग ही प्रधान साधुसङ्ग है। साधुसङ्गसे ही इन लोगोंने मुझे प्राप्त किया है॥९॥

श्रीमद्भा. ३/२३/५५ में भगवान् श्रीकपिलदेव माता देवहूतिसे कहते हैं—

सङ्गो यः संसृतेर्हेतुरसत्सु विहितोऽधिया।
स एव साधुषु कृतो निःसङ्गत्वाय कल्पते॥१०॥

असत् व्यक्ति या वस्तुका सङ्ग होनेसे संसार-बन्धनरूपी फल प्राप्त होता है तथा वही सङ्ग यदि साधुव्यक्ति या वस्तुसे किया जाये, तो निःसङ्गत्वरूप फलका उदय होता है। बुद्धिपूर्वक अर्थात् सोच-समझकर भले ही मन-ही-मनमें भी क्यों न हो, हम जिस किसी भी प्रकारका सङ्ग करेंगे, हमें अवश्य ही उसका फल प्राप्त होगा। अज्ञानतासे अर्थात् बिना सोच-विचारके भी जिसका जिस प्रकारका सङ्ग होता है, उसे उस सङ्गके ही फलके बीजकी प्राप्ति होती है॥१०॥

श्रीमद्भा. ११/२/२९-३० में विदेहराजा निमि नवयोगेन्द्रसे कहते हैं—

दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभङ्गुरः।
तत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुण्ठप्रियदर्शनम्॥११॥

देहधारी बद्धजीवात्माओंके लिए क्षणभङ्गुर मानवदेह प्राप्त करना अत्यन्त दुर्लभ है, किन्तु वैकुण्ठप्रिय अर्थात् श्रीभगवान्के प्रियजनोंका दर्शन इसकी तुलनामें और भी दुर्लभ है॥११॥

अत आत्यन्तिकं क्षेमं पृच्छामो भवतोऽनघाः।
संसारेऽस्मिन् क्षणार्धोऽपि सत्सङ्गः सेवधिर्नृणाम्॥१२॥

हे निष्पाप! आप हमें कृपापूर्वक बतलायें कि आत्यन्तिक मङ्गल क्या है अर्थात् सर्वोत्तम पारमार्थिक कल्याण किसमें है? इस संसारमें आधे क्षणका साधुसङ्ग भी मनुष्योंके लिए महामूल्यवान धन है अर्थात् पारमार्थिक कल्याणको प्राप्त करानेवाला है॥१२॥

सङ्गयोग्य साधुओंके लक्षण बतलाते हुए भगवान् श्रीकृष्ण श्रीमद्भा. ११/११/२९-३१ में उद्धवसे कह रहे हैं—

कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्वदेहिनाम्।
सत्यसारोऽनवद्यात्मा समः सर्वोपकारकः॥१३॥

कामैरहतधीर्दान्तो मृदुः शुचिरकिञ्चनः।
अनीहो मितभुक् शान्तः स्थिरो मच्छरणो मुनिः॥१४॥

अप्रमत्तो गभीरात्मा धृतिमान् जितषड्गुणः।
अमानी मानदः कल्यो मैत्रः कारुणिकः कविः॥१५॥

वे कृपालु होते हैं, किसीके प्रति द्रोह नहीं करते, सहनशील होते हैं, सत्यको सार मानते हैं, निन्दारहित स्वभाववाले, सम और सबका उपकार करनेवाले होते हैं। कामनाओंके द्वारा ग्रस्त बुद्धिवाले नहीं होते अर्थात् उनकी बुद्धि कामनाओं द्वारा ग्रस्त नहीं होती। वे इन्द्रियदमनशील, सरल, अन्तर-बाहरसे शुद्ध, अकिञ्चन, जागतिक उन्नतिमें प्रयासशून्य, सीमित भोजन करनेवाले, मनको वशीभूत करनेवाले, धीर, भगवान्के प्रति शरणागत, व्यर्थकी बातोंमें अपनी वाणीका व्यवहार नहीं करनेवाले, अप्रमत्त (इन्द्रिय-तर्पणकी क्रियाओंसे रहित), गम्भीर चित्त, धैर्यशील, षड्-गुणों (भूख, प्यास, मोह, मृत्यु, भय और शोक) से अवशीभूत, स्वयं अमानी रहकर दूसरोंको सम्मान प्रदान करनेवाले, विचार-कुशल, मैत्रीभावसे युक्त, कारुणिक और कवि होते हैं। उपरोक्त सभी लक्षणोंमेंसे शरणागति ही स्वरूपलक्षण और अन्यान्य सब तटस्थलक्षण हैं॥१३-१५॥

(श्रीमद्भा. ११/२६/२७)

सन्तोऽनपेक्षा मच्चित्ताः प्रशान्ताः समदर्शिनः।
निर्ममा निरहङ्कारा निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः॥१६॥

साधुजन निरपेक्ष, भगवान्‌में आविष्ट चित्तवाले, प्रशान्त, समदर्शी, ममताशून्य (जागतिक वस्तुओंमें ममत्व बुद्धिसे रहित), जड़सत्ताके अहङ्कारसे रहित, सर्दी-गर्मी और सुख-दुःखके द्वन्दसे रहित और किसीकी भी किसी वस्तुके प्रति लोभ नहीं रखते॥१६॥

(श्रीमद्भा. ११/२६/३४)

सन्तो दिशन्ति चक्षूंषि बहिरर्कः समुत्थितः।
देवता बान्धवाः सन्तः सन्त आत्माहमेव च॥१७॥

सूर्य उदित होनेपर केवल बाहरी आलोक (बाह्य दृष्टि) ही प्रदान करता है, किन्तु साधुगण अन्तर हृदयमें चक्षुदान करते हैं अर्थात् अन्तर्दृष्टिरूपी ज्ञाननेत्र प्रदान करते हैं, इसलिए साधुगण ही (मनुष्योंके) देवता, बान्धव, आत्मा (परमात्मा) तथा मेरे निजजन हैं॥१७॥

श्रीमद्भा. १/१३/१० में महाराज युधिष्ठिर श्रीविदुरसे कहते हैं—

भवद्विधा भागवतास्तीर्थभूताः स्वयं विभो।
तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता॥१८॥

आपके समान वैष्णवगण स्वयं ही तीर्थस्वरूप होते हैं। वे ही समस्त तीर्थोंको पवित्र करते हैं, क्योंकि उनके हृदयमें श्रीकृष्ण विराजमान रहते हैं॥१८॥

श्रीमद्भा. १/१८/१३ तथा ४/३०/३४ में शौनकादि ऋषि श्रीसूत गोस्वामीसे कहते हैं—

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥१९॥[1]

स्वर्ग या मुक्ति—इनमेंसे किसीकी भी हम वैष्णवसङ्गके साथ तुलना नहीं करते। इस मृत्युलोकमें वास करनेवालोंके लिए

---

[1] यह श्लोक श्रीमद्भागवतमें दो बार आया है।

वैष्णवसङ्गके समान और अधिक कोई लाभ नहीं है अर्थात् सत्सङ्गकी प्राप्ति ही मर्त्यलोकमें सर्वोत्तम मङ्गल है॥१९॥

(श्रीमद्भा. १/१९/३३)

येषां संस्मरणात् पुंसां सद्यः शुध्यन्ति वै गृहाः।
किं पुनर्दर्शनस्पर्शपादशौचासनादिभिः॥२०॥

जिनके स्मरणसे ही सम्पूर्ण गृह तत्क्षणात् शुद्ध हो जाता है, उनके दर्शन, स्पर्शन, चरण-धौत जलके पानसे तथा उन्हें आदर सहित बैठानेसे क्या फल प्राप्त होता है, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता॥२०॥

श्रीमद्भा. ३/५/३ में श्रीविदुर मैत्रेयजीसे कहते हैं—

जनस्य कृष्णाद्विमुखस्य दैवादधर्मशीलस्य सुदुःखितस्य।
अनुग्रहायेह चरन्ति नूनं भूतानि भव्यानि जनार्दनस्य॥२१॥

दैवात् (पूर्व-पूर्व जन्मोंमें किये गये कर्मोंके कारण) कृष्णविमुख, अधर्मशील और अत्यन्त दुःखित व्यक्तियोंपर कृपा करनेके लिए ही श्रीकृष्णके भक्त स्थान-स्थानपर विचरण करते हैं॥२१॥

श्रीमद्भा. ३/२५/२०-२१ में श्रीकपिलदेव अपनी माता देवहूतिसे कहते हैं—

प्रसङ्गमजरं पाशमात्मनः कवयो विदुः।
स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारमपावृतम्॥२२॥

समस्त कवियों (महाजनों) का कहना है कि जो-जो प्रसङ्ग अर्थात् आसक्ति आत्माके बन्धनकारी पाशस्वरूप होते हैं, यदि वही निष्कपट साधुओंके लिए व्यवहृत हो जायें तो मोक्षका द्वार खुल जाता है॥२२॥

तितिक्षवः कारुणिकाः सुहृदः सर्वदेहिनाम्।
अजातशत्रवः शान्ताः साधवः साधुभूषणाः॥२३॥

तितिक्षायुक्त (सहनशील), कारुणिक, समस्त प्राणियोंके सुहृत्, अजातशत्रु और शान्त स्वभावसे युक्त साधु ही साधुओंके भूषणस्वरूप अर्थात् सभी साधुओंमेंसे श्रेष्ठ साधु हैं॥२३॥

(श्रीमद्भा. ३/२५/२३-२४)

मदाश्रयाः कथा मृष्टाः शृण्वन्ति कथयन्ति च।
तपन्ति विविधास्तापा नैतान्मद्गतचेतसः॥२४॥

मेरे भक्तोंका चित्त मुझमें निमग्न रहता है, अतएव वे बहुत प्रकारके कष्टपूर्ण अभ्यास नहीं करते। वे सहज ही मेरा आश्रयकर मेरी कथा द्वारा परिमार्जित मनसे परस्पर हरिकथा कहते और सुनते हैं॥२४॥

त एते साधवः साध्वि सर्वसङ्गविवर्जिताः।
सङ्गस्तेष्वथ ते प्रार्थ्यः सङ्गदोषहरा हि ते॥२५॥

हे साध्वी! समस्त प्रकारके जागतिक सङ्गसे रहित साधुगण सङ्गदोष अर्थात् आसक्तिरूपी दोषोंका नाश करते हैं। अतः तुम उनके सङ्गकी ही प्रार्थना करो॥२५॥

श्रीमद्भा. ४/४/१२ में श्रीपार्वतीदेवी अपने पिता दक्ष प्रजापतिसे कहती हैं—

दोषान् परेषां हि गुणेषु साधवो
गृह्णन्ति केचिन्न भवादृशा द्विज।
गुणांश्च फल्गून् बहुलीकरिष्णवो
महत्तमास्तेष्वविदद्भवानघम् ॥२६॥

साधुपुरुष दूसरोंके दोषोंका कभी दर्शन नहीं करते, अपितु दूसरोंमें जो सामान्य गुण होते हैं, उन्हें भी बहुत मानते हुए उनका सम्मान करते हैं। इसके विपरीत आपने तो महत्-जनके प्रति दोष-दृष्टिकी है, यही दुःखका विषय है॥२६॥

श्रीमद्भा. ४/२२/१९ में सनत कुमार राजा पृथुसे कहते हैं—

सङ्गमः खलु साधूनामुभयेषाञ्च सम्मतः।
यत्सम्भाषणसम्प्रश्नः सर्वेषां वितनोति शम्॥२७॥

साधुओंका परस्पर सङ्गम (श्रोता तथा वक्ता) दोनोंके लिए मङ्गलकारी होता है, अतएव दोनोंके द्वारा ही सम्मत है। उनके परस्पर सम्भाषणमें जो संप्रश्न अर्थात् शिष्टतापूर्वक की गयी जिज्ञासाएँ होती हैं, वे सभीका मङ्गल करती हैं॥२७॥

श्रीमद्भा. ४/२९/४० में श्रीनारद कहते हैं—

तस्मिन् महन्मुखरिता मधुभिच्चरित्र–
पीयूषशेषसरितः परितः स्रवन्ति।
ता ये पिबन्त्यवितृषो नृप गाढकर्णै–
स्तान्न स्पृशन्त्यशनतृड्भयशोकमोहाः॥२८॥

परस्पर साधुसङ्गमें महत् व्यक्तिके मुखसे निकलनेवाली 'कृष्ण–चरित्र' रूपी विशेष अमृतकी नदियाँ चारों ओर प्रवाहित होती हैं। हे राजन्! जो इन नदियोंके जलको गाढ़कर्णों (अतृप्त और अभिनिविष्ट कर्णकुहरों) के द्वारा निरन्तर पान करते हैं, उन्हें भूख–प्यास, भय, शोक और मोह स्पर्श तक नहीं करते॥२८॥

(श्रीमद्भा. ४/२९/४६)

यदा यस्यानुगृह्णाति भगवानात्मभावितः।
स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम्॥२९॥

आत्मभावित (जीवात्माके आत्मसमर्पणको देखकर प्रसन्न होनेवाले अथवा जीवात्माकी आत्मवृत्ति द्वारा सेवित) भगवान् जब जिसके प्रति कृपा करते हैं, तब वह इस लोक अर्थात् लौकिक–व्यवहारमें और वेदोंमें (वर्णित कर्मकाण्ड आदिके प्रति) परिनिष्ठित बुद्धि (अत्यधिक आसक्ति) का त्याग कर देता है। लौकिक–व्यवहार

और शास्त्र-विधिकी अपेक्षा छोड़कर वह भक्ति द्वारा प्रेरित होनेके कारण जो कुछ करता है, वही अति सुन्दर होता है॥२९॥

श्रीमद्भा. ४/३०/३३ में प्रचेतागण भगवान्‌से कहते हैं—

यावत् ते मायया स्पृष्टा भ्रमाम इह कर्मभिः।
तावद्भवत्प्रसङ्गानां सङ्गः स्यान्नो भवे भवे॥३०॥

हम लोग जब तक आपकी माया द्वारा वशीभूत होकर कर्म करते-करते संसारमें भ्रमण करें, तब तक, हे भगवान्! आपके भक्तोंके सङ्गसे वञ्चित न हों, क्योंकि ऐसा होनेपर ही हमारा मङ्गल होगा॥३०॥

श्रीमद्भा. ५/५/३ में भगवान् ऋषभदेव अपने पुत्रोंसे कहते हैं—

ये वा मयीशे कृतसौहृदार्था जनेषु देहम्भरवार्तिकेषु।
गृहेषु जायात्मजरातिमत्सु न प्रीतियुक्ता यावदर्थाश्च लोके॥३१॥

जो व्यक्ति मुझ ईश्वरमें सौहृदके उद्देश्यसे मेरे प्रेमको ही परम पुरुषार्थ मानते हैं, वे देहका पोषण करनेवाली चर्चा, प्रियजनोंसे युक्त गृह, पत्नी, पुत्र और धन इत्यादि विषयोंमें प्रीतियुक्त नहीं होते। वे तो स्वच्छन्द होकर केवल देहयात्रादि सम्बन्धित कार्योंको अनासक्त भावसे करते हैं॥३१॥

श्रीमद्भा. ५/१२/१२-१३ में जड़भरत राजा रहूगणसे कहते हैं—

रहूगणैतत् तपसा न याति
न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा।
न छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यै-
र्विना महत्पादरजोऽभिषेकम्॥३२॥

हे रहूगण! भगवत् शब्द-वाच्य तत्त्व अर्थात् भगवत्-तत्त्वज्ञान छन्दसा अर्थात् ब्रह्मचर्य द्वारा, गृहात् अर्थात् गृहस्थ धर्म द्वारा, तपसा अर्थात् वानप्रस्थ धर्म द्वारा, निर्वपणात् अर्थात् संन्यास द्वारा तथा जल, अग्नि, सूर्य आदिकी पूजा द्वारा प्राप्त नहीं होता।

केवल भक्तोंके चरणोंकी धूलिमें अभिषेक (स्नान करने) द्वारा ही उसे प्राप्त किया जा सकता है॥३२॥

यत्रोत्तमःश्लोकगुणानुवादः
प्रस्तूयते ग्राम्यकथाविघातः।
निषेव्यमाणोऽनुदिनं मुमुक्षो–
र्मतिं सतीं यच्छति वासुदेवे॥३३॥

जिस स्थानपर सांसारिक चर्चाको नष्ट करनेवाली कृष्णकथा होती है, उस स्थानपर बैठकर निरन्तर उन कथाओंको सुनते-सुनते मोक्षकी कामना करनेवाले व्यक्तिकी बुद्धि शुद्ध होकर भगवान् श्रीकृष्णके प्रति अर्पित हो जाती है॥३३॥

भागवत-धर्मको जाननेवाले महाजनोंका परिचय देते हुए यमराज श्रीमद्भा. ६/३/२० में अपने दूतोंसे कहते हैं—

स्वयम्भूर्नारदः शम्भुः कुमारः कपिलो मनुः।
प्रह्लादो जनको भीष्मो बलिर्वैयासकिर्वयम्॥३४॥

स्वयम्भू (ब्रह्मा), नारद, शम्भु, सनत्कुमारादि चारों कुमार, कपिल, मनु, प्रह्लाद, जनक, भीष्म, बलि, शुकदेव और मैं (यमराज) भागवत-धर्मको जाननेवाले हैं॥३४॥

श्रीमद्भा. ६/१४/४-५ में महाराज परीक्षित श्रीशुकदेवसे कहते हैं—

मुमुक्षूणां सहस्रेषु कश्चिन्मुच्येत सिध्यति॥३५क॥

मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः।
सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने॥३५ख॥

हजारों-हजारों मुमुक्षुओं (मुक्तिकी कामना करनेवालों) मेंसे कोई विरला ही मुक्त होता है। हजारों-हजारों मुक्तोंमेंसे कोई-कोई सिद्धि प्राप्त करता है। करोड़ों-करोड़ों सिद्धों और मुक्तोंमेंसे कोई-कोई साधुसङ्ग द्वारा हुई सुकृतिके प्रभावसे नारायणमें अनुरक्त होता है।

हे महामुने! नारायणके भक्त सुदुर्लभ और प्रशान्तात्मा होते हैं॥३५॥

(श्रीमद्भा. ६/१७/२८)

नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति।
स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः॥३६॥

नारायणके भक्तगण निर्भय होते हैं। वे स्वर्ग, अपवर्ग (मोक्ष) और नरक—इन सबको एक समान देखते हैं॥३६॥

श्रीमद्भा. ७/५/३२ में भक्त प्रह्लाद हिरण्यकशिपुसे कहते हैं—

नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिं
स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः।
महीयसां पादरजोऽभिषेकं
निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत्॥३७॥

जब तक कोई निष्किञ्चन भगवद्भक्तोंकी चरण रजमें अभिषिक्त अर्थात् स्नान करनेके लिए प्रस्तुत नहीं होता, तब तक उसकी मति किसी भी प्रकारसे श्रीकृष्णके चरणकमलोंका स्पर्श नहीं कर सकती। श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी सेवा ही जीवोंके समस्त अनर्थोंको नाश करनेका एकमात्र कारण है॥३७॥

श्रीमद्भा. ७/१०/१८-१९ में भगवान् श्रीनृसिंह प्रह्लादसे कहते हैं—

त्रिःसप्तभिः पिता पूतः पितृभिः सह तेऽनघ।
यत् साधोऽस्य कुले जातो भवान् वै कुलपावनः॥३८॥

हे साधो! क्योंकि तुमने कुलपावन अर्थात् कुलका उद्धार करनेवालेके रूपमें इसके कुलमें जन्म ग्रहण किया है, इसलिए यह (तुम्हारे पिता) इक्कीस पीढ़ियोंके पितरों सहित पवित्र हो गये है अर्थात् तर गये है॥३८॥

यत्र यत्र च मद्भक्ताः प्रशान्ताः समदर्शिनः।
साधवः समुदाचारास्ते पूयन्तेऽपि कीकटाः॥३९॥

जिस–जिस स्थानपर मेरे समदर्शी, प्रशान्त भक्त साधुगण वास करते हैं, उस–उस स्थानपर सम्पूर्ण रूपसे सदाचारका प्रवर्त्तन होता है। कीकट (अनार्य अर्थात् अपवित्र) देश होनेपर भी वह स्थान ब्रह्मवर्त्त (सरस्वती और दृषद्वती नदियोंके बीचमें स्थित आर्योंके पवित्र वास स्थान) से भी अधिक पवित्र हो जाता है॥३९॥

श्रीमद्भा. ९/४/६३ और ६५–६८ में भगवान् दुर्वासासे कहते हैं—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥४०॥

मैं भक्तोंके अधीन हूँ (अर्थात् रुद्र आदि देवता जैसे मेरे अधीन होनेके कारण तुम्हारी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं हुए, उसी प्रकार मैं भी भक्तोंके अधीन हूँ, इसलिए तुम्हारी रक्षा करनेमें असमर्थ हूँ, अतएव) हे द्विज! मैं भक्त परतन्त्र हूँ। परमभक्त साधुओंके द्वारा मेरा हृदय वशीभूत है। मैं भक्तजन प्रिय हूँ अर्थात् भक्तों द्वारा पालित जन भी मुझे प्रिय हैं॥४०॥

ये दारागारपुत्राप्तप्राणान् वित्तमिमं परम्।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥४१॥

जिन्होंने पत्नी, गृह, पुत्र, बन्धु–बान्धव, प्राण, धन आदि सबका त्याग करके मेरे चरणोंका आश्रय लिया है, उन्हें परित्याग करनेका साहस मुझमें किस प्रकार हो सकता है?॥४१॥

मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः।
वशेकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा॥४२॥

सत्–स्त्री जिस प्रकार अपने सत्–पतिको वशमें कर लेती है, उसी प्रकार मुझमें निबद्ध हृदयवाले (मेरे अनन्यप्रेमी) समदर्शी साधुगण मुझे भक्ति द्वारा वशीभूत कर लेते हैं॥४२॥

मत्सेवया प्रतीतं ते सालोक्यादिचतुष्टयम्।
नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत् कालविप्लुतम्॥४३॥

मेरी सेवा करनेके फलस्वरूप सालोक्यादि चारों प्रकारकी मुक्तियाँ स्वयं ही उपस्थित हो जाती हैं, किन्तु भक्त मेरी सेवासे परिपूर्ण रहनेके कारण उन मुक्तियोंको ग्रहण करनेकी इच्छा तक नहीं करते हैं। अन्यान्य नश्वर सुखोंकी तो बात ही क्या?॥४३॥

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।
मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥४४॥

साधुगण मेरे हृदय हैं और मैं साधुओंका हृदय हैं। मेरे अलावा वे और कुछ नहीं जानते और मैं भी उन्हें छोड़कर और कुछ नहीं जानता॥४४॥

साधुजनोंके स्नानसे गङ्गा निष्पाप होती है। श्रीमद्भा. ९/९/६ में भगीरथ गङ्गासे कहते हैं—

साधवो न्यासिनः शान्ता ब्रह्मिष्ठा लोकपावनाः।
हरन्त्यघं तेऽङ्गसङ्गात् तेष्वास्ते ह्यघभिद्धरिः॥४५॥

हे गङ्गे! साधु, संन्यासी, शान्त, ब्रह्मनिष्ठ, जगत्‌को पवित्र करनेवाले व्यक्ति स्नानरूपी सङ्ग द्वारा तुम्हारे पापोंका क्षय करेंगे, क्योंकि उनके हृदयमें श्रीहरि, भक्ति द्वारा सदैव आबद्ध रहते हैं॥४५॥

श्रीमद्भा. १०/८/४ में श्रीशुकदेव गोस्वामी राजा परीक्षित्‌से श्रीनन्दरायजी द्वारा गर्गाचार्यसे कहे गये वचनोंको उद्धृत करते हुए कह रहे हैं—

महद्विचलनं नृणां गृहिणां दीनचेतसाम्।
निःश्रेयसाय भगवन् कल्पते नान्यथा क्वचित्॥४६॥

हे भगवन्! हम दीन चित्तवाले गृहस्थ हैं। हमारे मङ्गलके लिए ही आपके जैसे महत्-भक्तोंका गमनागमन होता है। अन्य किसी कारणसे नहीं॥४६॥

श्रीमद्भा. १०/१४/३० में श्रीब्रह्मा भगवान् श्रीकृष्णसे कहते हैं—

तदस्तु मे नाथ स भूरिभागो
भवेऽत्र वान्यत्र तु वा तिरश्चाम्।
येनाहमेकोऽपि भवज्जनानां
भूत्वा निषेवे तव पादपल्लवम्॥४७॥

इस मनुष्यजन्ममें रहूँ या अन्यत्र कहीं जन्म लूँ अथवा पशु-पक्षीकी योनि प्राप्त करूँ, आपसे मेरी एकमात्र यही प्रार्थना है कि आप मुझे केवल ऐसा सौभाग्य प्रदान करें, जिसके द्वारा मैं आपके भक्तोंके साथ रहकर आपके चरणकमलोंकी सेवा कर सकूँ॥४७॥

श्रीमद्भा. १०/३९/२ में श्रीशुकदेव गोस्वामी परीक्षित्से कहते हैं—

किमलभ्यं भगवति प्रसन्ने श्रीनिकेतने।
तथापि तत्परा राजन् नहि वाञ्छन्ति किञ्चन॥४८॥

श्रीनिकेतन भगवान्के प्रसन्न होनेपर क्या अप्राप्य रह जाता है? तथापि हे राजन्! भक्तजन कुछ भी प्राप्त करनेकी लालसा नहीं रखते॥४८॥

श्रीमद्भा. १०/४८/३०-३१ में भगवान् श्रीकृष्ण अक्रूरसे कहते हैं—

भवद्विधा महाभागा निषेव्या अर्हसत्तमाः।
श्रेयस्कामैर्नृभिर्नित्यं देवाः स्वार्था न साधवः॥४९॥

आपके समान पूज्यतम महानुभाव सर्वदा आत्म कल्याण कामी व्यक्तियोंके द्वारा सेवनीय हैं। देवता स्वार्थपरायण होते हैं, किन्तु साधुगण सर्वदा दूसरोंके मङ्गलका ही अन्वेषण करते हैं॥४९॥

नह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः।
ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः॥५०॥

जलमय तीर्थ, मिट्टी तथा शिला द्वारा निर्मित देवमूर्त्तियाँ बहुत समय तक सेवा किये जानेपर पवित्र करती हैं, किन्तु साधु दर्शनमात्रसे ही पवित्र करते हैं॥५०॥

श्रीमद्भा. १०/५१/५३ में मुचुकुन्द भगवान् श्रीकृष्णसे कहते हैं—

भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवे–
ज्जनस्य तर्ह्यच्युत सत्समागमः।
सत्सङ्गमो यर्हि तदैव सद्गतौ
परावरेशे त्वयि जायते रतिः॥५१॥

नाना प्रकारकी योनियोंमें भ्रमण करते–करते किसी सौभाग्यसे जिस जन्ममें जीवका संसार क्षयोन्मुख होता है, उसी समय हे अच्युत! उसके भाग्यमें साधुसङ्ग प्राप्त होता है। साधुसङ्ग होनेपर ही परावरेश सद्गतिस्वरूप (सद्गतिदायक तथा निखिल कार्य–कारणके नियन्ता) आपमें रति उदित होती है॥५१॥

भागवत (वैष्णव) तीन प्रकारके होते हैं—उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ। उनकी स्थितिके अनुसार उनके लक्षणोंका यहाँ वर्णन किया जा रहा है। जब तक उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ भक्तोंके बीच तारतम्यका ज्ञान नहीं होता, तब तक अपनेसे श्रेष्ठ साधुसङ्ग प्राप्त नहीं होता। अतएव पहले कनिष्ठका लक्षण बतलाते हुए दूसरे योगीश्वर हवि श्रीमद्भा. ११/२/४७ में राजा निमिसे कहते हैं—

अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते।
न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः॥५२॥

लौकिक श्रद्धाके अनुसार जो अर्चामूर्त्तिमें हरिकी पूजा तो करते हैं, किन्तु भगवान् श्रीहरिके भक्त तथा श्रीहरिके अधिष्ठानस्वरूप अन्य जीवोंके प्रति दया और श्रद्धा नहीं करते, वे कनिष्ठ हैं। इस लक्षणके अनुसार कर्मी तथा मायावादियोंको कनिष्ठ भक्त भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि जो श्रीकृष्णके स्वरूपको नित्य जानकर उनकी श्रद्धापूर्वक पूजा करते हैं, वे ही कनिष्ठ भक्त हैं॥५२॥

श्रीमद्भा. ११/२/४६ में मध्यम भक्तका लक्षण इस प्रकार बताया गया है—

ईश्वरे तदधीनेषु वालिशेषु द्विषत्सु च।
प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः ॥५३॥

जो ईश्वरमें प्रेम, वैष्णवोंसे मैत्री, अज्ञानी जीवोंपर कृपा तथा द्वेषियोंके प्रति उपेक्षाका भाव रखते हैं, वे मध्यम भक्त हैं॥५३॥

श्रीमद्भा. ११/२/४५ में उत्तम भागवतका लक्षण इस प्रकार बताया गया है—

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ॥५४॥

जो सभी प्राणियोंमें भगवान्‌के आत्मभावको अर्थात् अपने उपास्य भगवान्‌को सभी प्राणियोंमें तथा भगवान्‌में समस्त प्राणियोंको देखते हैं, वे उत्तम भागवत हैं। ये ही उत्तम भागवतके स्वरूप लक्षण हैं॥५४॥

उत्तम भागवतोंके तटस्थ लक्षण श्रीमद्भा. ११/२/४८-५५ में इस प्रकार बतलाये गये हैं—

गृहीत्वापीन्द्रियैरर्थान् यो न द्वेष्टि न हृष्यति।
विष्णोर्मायामिदं पश्यन् स वै भागवतोत्तमः ॥५५॥

जो समस्त इन्द्रियोंके द्वारा समस्त विषयोंको यथायोग्य ग्रहण करते हैं, किन्तु उनके प्रति द्वेष तथा आसक्ति नहीं रखते, जो सम्पूर्ण जड़विश्वको विष्णुकी माया मानते हैं, वे उत्तम भागवत हैं॥५५॥

देहेन्द्रियप्राणमनोधियां यो जन्माप्ययक्षुद्भयतर्षकृच्छ्रैः।
संसारधर्मैरविमुह्यमानः स्मृत्या हरेर्भागवतप्रधानः ॥५६॥

संसारमें रहनेपर भी देहके जन्म और मृत्यु, इन्द्रियोंके परिश्रम, प्राणोंके भूख, मनके भय और बुद्धिके तृष्णा आदि सांसारिक धर्मोंसे जो मोहित नहीं होते अर्थात् आसक्त नहीं होते, सर्वदा

हरिस्मृति द्वारा कुशलतापूर्वक रहते हैं, वे ही भागवत-प्रधान हैं ॥५६ ॥

न कामकर्मबीजानां यस्य चेतसि सम्भवः।
वासुदेवैकनिलयः स वै भागवतोत्तमः ॥५७ ॥

जो श्रीकृष्णमें अवस्थित रहकर अर्थात् श्रीकृष्णको ही अपना परम आश्रय मानकर शान्त रहते हैं तथा जिनके चित्तमें कभी कामकर्मका बीज उदय नहीं होता, वे ही उत्तम भागवत हैं ॥५७ ॥

न यस्य जन्मकर्मभ्यां न वर्णाश्रमजातिभिः।
सज्जतेऽस्मिन्नहंभावो देहे वै स हरेः प्रियः ॥५८ ॥

जो वर्णाश्रममें रहते हुए भी सत्कुलमें हुए जन्म और तपस्या आदि कर्म तथा वर्णाश्रम—जाति द्वारा आसक्त नहीं होते तथा इस जड़देहमें जिनका अहंभाव नहीं है, वे श्रीहरिके प्रियपात्र हैं ॥५८ ॥

न यस्य स्वः पर इति वित्तेष्वात्मनि वा भिदा।
सर्वभूतसमः शान्तः स वै भागवतोत्तमः ॥५९ ॥

जो धन और देहमें अपने और पराये का भेद नहीं रखते तथा जो समस्त प्राणियोंमें समदर्शी और शान्त होते हैं, वे ही उत्तम भागवत हैं ॥५९ ॥

त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठ-
स्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात् ।
न चलति भगवत्पदारविन्दाल्लव-
निमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः ॥६० ॥

जो त्रिभुवन-प्राप्तिके लोभसे भी अर्थात् त्रिभुवन-प्राप्तिकी सम्भावना रहनेपर भी लव अथवा आधे निमेषके लिए भी अजितेन्द्रिय देवता आदि जिन श्रीकृष्णको ढूँढ़ते रहते हैं, उन श्रीकृष्णके श्रीचरणकमलोंसे विचलित नहीं होते, सर्वदा अकुण्ठ

(कभी न कुण्ठित होनेवाली) स्मृतिसे युक्त रहते हैं, वे ही वैष्णवोंमें अग्रगण्य हैं॥६०॥

भगवत उरुविक्रमाङ्घ्रिशाखा–
नखमणिचन्द्रिकया निरस्ततापे।
हृदि कथमुपसीदतां पुनः स
प्रभवति चन्द्र इवोदितेऽर्कतापः॥६१॥

जब सूर्यके तापसे तप्त व्यक्तिका ही रात्रिमें चन्द्रकी स्निग्ध सुशीतल ज्योत्सना प्राप्त हो जानेपर कोई ताप व क्लेश नहीं रह जाता, तब श्रीकृष्णके उरुक्रम अर्थात् महाविक्रमशाली श्रीचरणोंकी अङ्गुलियोंके नखमणिकी चन्द्रिका द्वारा जिनके हृदयका ताप दूर हो गया है, क्या उन्हें और कोई दुःख हो सकता है?॥६१॥

विसृजति हृदयं न यस्य साक्षाद्–
धरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः ।
प्रणयरसनया धृताङ्घ्रिपद्मः
स भवति भागवतप्रधान उक्तः॥६२॥

जो अवश अर्थात् असहाय अवस्थामें भी कृष्णनामका उच्चारण करते हैं, अघ (पापोंका सम्पूर्ण रूपसे) नाश करनेवाले श्रीहरि जिनके हृदयको कभी भी साक्षात् रूपसे परित्याग नहीं करते तथा जिन्होंने प्रणय–रज्जु द्वारा उनके चरणकमलोंको अपने हृदयमें सर्वदा आबद्ध कर रखा है, वस्तुतः ऐसे पुरुष ही प्रधान भक्त हैं॥६२॥

श्रीमद्भा. ११/११/३२–३३ में भगवान् श्रीकृष्ण उद्धवसे कहते हैं—

आज्ञायैवं गुणान् दोषान् मयादिष्टानपि स्वकान्।
धर्मान् सन्त्यज्य यः सर्वान् मां भजेत् स तु सत्तमः॥६३॥

मेरे द्वारा उपदिष्ट धर्मशास्त्रके अनुसार स्वधर्ममें गुण और दोषको जानकर जो समस्त धर्मोंका परित्यागकर मेरा ऐकान्तिक भजन करते हैं, वे ही सर्वोत्तम भक्त हैं॥६३॥

ज्ञात्वाऽज्ञात्वाथ ये वै मां यावान् यश्चास्मि यादृशः।
भजन्त्यनन्यभावेन ते मे भक्ततमा मताः॥६४॥

सम्बन्धज्ञान सम्पूर्ण रूपसे प्राप्त नहीं हुआ, किन्तु अनन्य निष्कपट भक्ति हो गयी है, ऐसी भक्तिको भी उत्तमाभक्ति कहा जायेगा। मेरा स्वरूप, मेरी शक्तिका स्वरूप तथा समस्त रस तत्त्व केवल सम्बन्धज्ञानसे ही जाना जा सकता है। इस प्रकार सम्बन्धज्ञानसे उत्पन्न होनेवाले अचिन्त्य शक्तिपरिणाम तत्त्वको पूर्ण रूपसे न जानकर भी जो अनन्य भावसे तथा निष्कपट रूपसे मेरा भजन करता है, वह भी उत्तम भक्त है; क्योंकि मेरी कृपासे उसे अतिशीघ्र ही सम्पूर्ण सम्बन्धज्ञानकी प्राप्ति हो जायेगी॥६४॥

(श्रीमद्भा. ११/२६/२६)

ततो दुःसङ्गमुत्सृज्य सत्सु सज्जेत बुद्धिमान्।
सन्त एवास्य छिन्दन्ति मनोव्यासङ्गमुक्तिभिः॥६५॥

अतएव बुद्धिमान व्यक्तिको चौदहवीं किरणमें बतलाये गये सब प्रकारके दुःसङ्गका परित्याग करके इस किरणमें उक्त साधुओंका सङ्ग करना चाहिये। साधुगण उपदेश द्वारा चित्तके क्लेश-बन्धनोंका छेदन कर देते हैं। साधकको अपनेसे श्रेष्ठ साधुओंका सङ्ग करना चाहिये; इसीलिए ही कनिष्ठ, मध्यम और उत्तम साधुओंके लक्षण पृथक्-पृथक् बतलाये गये हैं। निष्कपट वैष्णवमात्रका ही अवश्य आदर करना चाहिये॥६५॥

साधुसङ्गको प्राप्त करनेवाले व्यक्तिको भक्तिके अनुकूल जिन-जिन क्रियाओंका आश्रय करना होता है, अब उनका वर्णन किया जायेगा। सर्वप्रथम अनासक्त भावसे विषयोंको अङ्गीकार करनेके विषयमें श्रीमद्भा. ११/२०/२७-३० में इस प्रकार बतलाया गया है—

जातश्रद्धो मत्कथासु निर्विण्णः सर्वकर्मसु।
वेद दुःखात्मकान् कामान् परित्यागेऽप्यनीश्वरः॥६६॥

मेरी कथाओंमें दृढ़ श्रद्धावान व्यक्ति सभी कर्मफलोंसे विरक्त रहकर जीवन-यात्राका निर्वाह करेंगे। कामनाओंको परित्याग करनेमें असमर्थ होनेपर भी कामनाओंको चरम दुःखदायक जानकर उन्हें क्रमशः संकुचित करेंगे॥६६॥

ततो भजेत मां प्रीतः श्रद्धालुर्दृढनिश्चयः।
जुषमाणश्च तान् कामान् दुःखोदर्कांश्च गर्हयन्॥६७॥

श्रद्धावान व्यक्तिको दृढ़निश्चयके साथ मेरा भजन करते रहना चाहिये। (किसी परिस्थितिवशतः विषयवासनाओंको परित्याग करनेमें अशक्त होनेपर) दुःख ही इनका चरम फल है, ऐसा जानकर उन भोगकी कामनाओंकी निन्दा करते-करते उसे स्वीकार करेंगे। यदि कोई निष्कपट भावसे ऐसा करता है, तो मैं उस पर अवश्य ही कृपा करता हूँ॥६७॥

प्रोक्तेन भक्तियोगेन भजतो मासकृन्मुनेः।
कामा हृदय्या नश्यन्ति सर्वे मयि हृदि स्थिते॥६८॥

पूर्वोक्त भक्तियोगके द्वारा निरन्तर मेरा भजन करनेवाले भक्तोंके हृदयमें अवस्थित होकर मैं उनके हृदयमें उत्पन्न समस्त भोग-कामनाओंको समूल (जड़सहित) नष्ट कर देता हूँ॥६८॥

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि मयि दृष्टेऽखिलात्मनि॥६९॥

तब साधककी अविद्यामय हृदय-ग्रन्थि खुल जाती है, समस्त संशय दूर हो जाते हैं तथा मुझे समस्त प्राणियोंकी आत्माके रूपमें दर्शन करनेसे उसकी सम्पूर्ण कर्मवासनाएँ क्षीण हो जाती हैं॥६९॥

ज्ञान और वैराग्यकी चेष्टा करना साधक भक्तोंका कर्त्तव्य नहीं है। श्रीमद्भा. ११/२०/३१ में इस प्रकार बतलाया गया है—

तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः।
न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह॥७०॥

मेरे चिन्तनमें निमग्न रहकर भक्तिसे युक्त योगी-व्यक्ति मेरा भजन करते हैं। उस भजनमें ज्ञान अथवा वैराग्यकी चेष्टा करना प्रायः श्रेयस्कर नहीं होता है॥७०॥

अन्य-अन्य उपायोंका अवलम्बन किये बिना ही भक्तोंको सब प्रकारके लाभकी प्राप्ति होती है। श्रीमद्भा. ११/२०/३२-३३ में इस प्रकार कहा गया है—

यत् कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत्।
योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि॥७१॥

सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा।
स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथञ्चिद् यदि वाञ्छति॥७२॥

शुद्धभक्तिसे समस्त प्रकारके शुभ उदित होते हैं। कर्म, तपस्या, ज्ञान, वैराग्य, अष्टाङ्गयोग, दानधर्म तथा अन्य जितने भी प्रकारके कल्याणकारी शुभ कर्म हैं, उन सबके द्वारा जो फल प्राप्त हो सकते हैं, वे सभी फल मेरे भक्त भक्तियोगके द्वारा सहज ही प्राप्त कर लेते हैं। वे स्वर्ग, अपवर्ग (मोक्ष), वैकुण्ठ—जो कुछ भी वाञ्छा करते हैं, उसे प्राप्त कर सकते हैं॥७१-७२॥

(श्रीमद्भा. ११/२०/३६)

न मय्येकान्तभक्तानां गुणदोषोद्भवा गुणाः।
साधूनां समचित्तानां बुद्धेः परमुपेयुषाम्॥७३॥

मेरे ऐकान्तिक भक्त बुद्धिसे अतीत परमतत्त्वको प्राप्त कर चुके हैं। वे साधु और समदर्शी हैं। गुण अर्थात् विधि और दोष अर्थात् निषेधरूपी आचरणसे जो गुणसमूह अर्थात् पाप और पुण्य उदित होते हैं, वे उनमें उदित नहीं हो सकते॥७३॥

(श्रीकृष्ण जन्माष्टमी, रामनवमी आदि) जयन्ती व्रत, एकादशी तथा ऊर्जा व्रतादि श्रीहरिसम्बन्धी व्रतोंका पालन करनेसे भक्तिमें वृद्धि होती है। श्रीमद्भा. ३/१/१९ में श्रीशुकदेव गोस्वामी परीक्षित्से कहते हैं—

गां पर्यटन् मेध्यविविक्तवृत्तिः सदाप्लुतोऽधःशयनोऽवधूतः।
अलक्षितः स्वैरवधूतवेशो व्रतानि चेरे हरितोषणानि॥७४॥

विदुर महाशय पवित्र सद्वृत्तिके द्वारा जीवनकी रक्षा करते हुए पृथ्वीपर पर्यटन करने लगे। उपयुक्त समयमें स्नान, भूमिपर शयन, अवधूत (देह आदिके संस्कारसे रहित) और अलक्षित भावसे (जिससे कोई उन्हें पहचान न सके) स्वाधीन चेष्टा तथा अवधूत वेश धारणपूर्वक श्रीहरिको सन्तुष्ट करनेवाले समस्त व्रतोंका पालन करने लगे॥७४॥

यथा-लाभसे सन्तुष्ट रहना ही भक्तिके अनुकूल है। श्रीमद्भा. ४/८/२९, ३३ में श्रीनारद ध्रुवसे कहते हैं—

परितुष्येत्ततस्तात तावन्मात्रेण पूरुषः।
दैवोपसादितं यावद् वीक्ष्येश्वरगतिं बुधः॥७५क॥

यस्य यद् दैवविहितं स तेन सुखदुःखयो।
आत्मानं तोषयन् देही तमसः पारमृच्छति॥७५ख॥

हे तात! दैवकी इच्छासे जो कुछ भी मिल जाय, उतनी प्राप्तिमात्रसे परितुष्ट रहना। विश्वेश्वर (विश्वके ईश्वर) जो देते हैं, वही हमारे प्राप्त करनेयोग्य है, ऐसा विचार करके इस तमोमय संसारको पार करनेके लिए (जो कुछ प्राप्त हो जाये) उसीके द्वारा आत्माको सन्तुष्ट रखना॥७५॥

क्षोभके त्यागके लिए दृढ़ निश्चय रखना चाहिये। श्रीमद्भा. ४/८/३४ में इसीलिए कहा गया है—

गुणाधिकान्मुदं लिप्सेदनुक्रोशं गुणाधमात्।
मैत्रीं समानादन्विच्छेन्न तापैरभिभूयते॥७६॥

अपनेसे अधिक गुणवाले व्यक्तिसे आनन्दकी आशा रखें। अपनेसे कम गुणवाले व्यक्तिके प्रति दयाका भाव रखें न कि तिरस्कारका और समान गुणवालेसे मैत्रीकी इच्छा करें। ऐसा करनेसे मनमें कोई ताप नहीं रह सकता॥७६॥

साधकको नये उपाय न ढूँढ़कर पूर्व महाजनोंके द्वारा प्रदर्शित उपायोंका ही अनुसरण करना चाहिये। श्रीमद्भा. ४/१८/४-५ में मैत्रेय ऋषि श्रीविदुरसे कहते हैं—

तानातिष्ठति यः सम्यगुपायान् पूर्वदर्शितान्।
अवरः श्रद्धयोपेत उपेयान् विन्दतेऽञ्जसा॥

ताननादृत्य योऽविद्वानर्थानारभते स्वयम्।
तस्य व्यभिचरन्त्यर्था आरब्धाश्च पुनः पुनः॥७७॥

पूर्व महाजनों द्वारा प्रदर्शित समस्त उपायों (साधनों) का ही अवलम्बन करें। उन उपायोंको अवलम्बन करनेसे इस समयके व्यक्ति भी सहज ही उपेय (साध्य) को प्राप्त कर सकेंगे, किन्तु पूर्व महाजनों द्वारा दिखाये गये पथका अनादर करके जो अपनेको विद्वान मानता है और स्वतन्त्र इच्छानुयायी मनःकल्पित विचारसमूहरूपी उपायोंका आश्रय लेता है, उसके सभी उपाय और समस्त प्रयत्न पुनः-पुनः निष्फल हो जाते हैं॥७७॥

गृहत्यागका अधिकार प्राप्त होनेसे पूर्व गृहस्थाश्रममें रहकर ही भजन करना अनुकूल होता है। श्रीमद्भा. ५/१/१८ में श्रीब्रह्मा प्रियव्रतसे कहते हैं—

यः षट् सपत्नान् विजिगीषमाणो गृहेषु निर्विश्य यतेत पूर्वम्।
अत्येति दुर्गाश्रित ऊर्जितारीन् क्षीणेषु कामं विचरेद्विपश्चित्॥७८॥

काम, क्रोध आदि छह शत्रुओंपर जो विजय प्राप्त करना चाहता है, वे पहले घरमें ही रहकर उसके लिए प्रयास करें। गृहरूप दुर्गका आश्रय लेकर छहों बलवान शत्रुओंका दमन करें। काम क्षीण होनेपर ही पण्डित व्यक्ति गृहस्थाश्रम त्याग करनेके योग्य होते हैं, उससे पहले नहीं॥७८॥

गृहस्थ–वैष्णवोंको वर्णाश्रममें निर्देशकी गयी धर्मवृत्तिसे जीवन निर्वाह करना चाहिये। श्रीमद्भा. ७/११/१४–१५ में देवर्षि नारद युधिष्ठिरसे कहते हैं—

विप्रस्याध्ययनादीनि षडन्यस्याप्रतिग्रहः।
राज्ञो वृत्तिः प्रजागोप्तुरविप्राद् वा करादिभिः॥७९॥

वैश्यस्तु वार्तावृत्तिः स्यान्नित्यं ब्रह्मकुलानुगः।
शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा वृत्तिश्च स्वामिनो भवेत्॥८०॥

विप्र–वैष्णव अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन, दान और प्रतिग्रह (इन सबमें याजन और प्रतिग्रह द्वारा जीवन निर्वाह) करें। क्षत्रिय प्रजापालन तथा विप्रोंके अलावा अन्य वर्णोंसे कर–शुल्क आदि ग्रहण करें। वैश्य कृषि–गौरक्षा आदि (व्यापार) वृत्ति द्वारा ब्राह्मणकुलके अनुगत होकर जीवन–यापन करें। शूद्र द्विजोंकी सेवा द्वारा ही अपना जीवन यापन करें॥७९–८०॥

(श्रीमद्भा. ७/११/२१–२४)

शमो दमस्तपः शौचं सन्तोषः क्षान्तिरार्जवम्।
ज्ञानं दयाच्युतात्मत्वं सत्यञ्च ब्रह्मलक्षणम्॥८१॥

शम, दम, तप, शौच, सन्तोष, क्षान्ति (क्षमा), आर्जव (सरलता), ज्ञान, दया, भगवद्भक्ति और सत्य—ये ब्राह्मणके कुछेक लक्षण हैं॥८१॥

शौर्यं वीर्यं धृतिस्तेजस्त्यागश्चात्मजयः क्षमा।
ब्रह्मण्यता प्रसादश्च सत्यञ्च क्षत्रलक्षणम्॥८२॥

शौर्य, वीर्य, धैर्य, तेज, त्याग, आत्मजय (देह आदिके धर्म भूख–प्यास आदिसे अनजान), क्षमा, ब्रह्मण्यता (ब्राह्मण–परायणता), अनुग्रह और सत्य—ये क्षत्रियके कुछेक लक्षण हैं॥८२॥

देवगुर्वच्युते भक्तिस्त्रिवर्गपरिपोषणम्।
आस्तिक्यमुद्यमो नित्यं नैपुण्यं वैश्यलक्षणम्॥८३॥

देवता, गुरु तथा अच्युत भगवान् श्रीकृष्णके प्रति भक्ति, त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) का परिपोषण, आस्तिकता अर्थात् वेदोंमें विश्वास, उद्यम और निपुणता—ये वैश्योंके कुछेक लक्षण हैं॥८३॥

शूद्रस्य सन्नतिः शौचं सेवा स्वामिन्यमायया।
अमन्त्रयज्ञो ह्यस्तेयं सत्यं गोविप्ररक्षणम्॥८४॥

सज्जनोंके प्रति नमन, शौच (शुद्धता), निष्कपट होकर अपने प्रभुकी सेवा, अमन्त्रयज्ञ (अर्थात् पञ्चयज्ञ करनेमें अनधिकारी होनेके कारण नमस्कारमात्रसे ही पञ्चयज्ञके अनुष्ठानका फल प्राप्त करनेवाले) चोरी न करना, सत्यवादिता और गौ-ब्राह्मणकी रक्षा—ये शूद्रोंके कुछेक लक्षण हैं॥८४॥

(श्रीमद्भा. ७/११/३०)

वृत्तिः सङ्करजातीनां तत्तत्कुलकृता भवेत्।
अचौराणामपापानामन्त्यजान्तेवसायिनाम्॥८५॥

सङ्कर (अनुलोम और प्रतिलोम) जातिवाले व्यक्तियोंकी वृत्तियाँ अपने-अपने कुलमें प्रचलित वृत्तियोंके अनुसार होती है, किन्तु चोरी तथा पापसे रहित जो वृत्ति सिद्ध है, वह अन्त्यजोंके लिए भी हैं॥८५॥

(श्रीमद्भा. ७/११/३२)

वृत्त्या स्वभावकृतया वर्तमानः स्वकर्मकृत्।
हित्वा स्वभावजं कर्म शनैर्निर्गुणतामियात्॥८६॥

स्वभावपर ही वृत्ति निर्भर करती है। अपने पूर्वकर्म द्वारा प्राप्त स्वाभाविक वृत्तिका आश्रय लेकर धीरे-धीरे उन स्वाभाविक कर्मोंका त्याग करते-करते व्यक्ति निर्गुण अवस्थाको प्राप्त करता है अर्थात् स्वभाव जितना उन्नत होगा, स्वधर्म भी उतना ही उच्च होता जायेगा॥८६॥

(श्रीमद्भा. ७/११/३५)

यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसो वर्णाभिव्यञ्जकम्।
यदन्यत्रापि दृश्येत तत् तेनैव विनिर्दिशेत्॥८७॥

मनुष्योंके वर्णको प्रकाश करनेवाले जो-जो लक्षण कहे गये हैं, उनमेंसे जिस-जिस वर्णके लक्षण जिस-जिस व्यक्तिमें दिखायी दें, उन्हें उसी वर्णका समझना चाहिये। केवल जन्म द्वारा ही वर्णका निर्देश नहीं हो सकता॥८७॥

जीवनकी अनित्यताको सदैव स्मरण रखना चाहिये। श्रीमद्भा. १०/१/३८ में श्रीवसुदेव कंससे कहते हैं—

मृत्युर्जन्मवतां वीर देहेन सह जायते।
अद्य वाब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः॥८८॥

हे भ्राताः! जिसने जन्म ग्रहण किया है, उसकी देहके उत्पन्न होनेके साथ-ही-साथ मृत्युने भी जन्म लिया है। आज हो या सौ वर्षोंके बाद, प्राणीकी मृत्यु तो अवश्यभावी है॥८८॥

सर्वदा हृदयमें दैन्यका भाव रखना चाहिये। श्रीमद्भा. १०/१४/३८ में ब्रह्मा भगवान् श्रीकृष्णसे कहते हैं—

जानन्त एव जानन्तु किं बहूक्त्या न मे प्रभो।
मनसो वपुषो वाचो वैभवं तव गोचरः॥८९॥

हे श्रीकृष्ण! जिन्होंने आपको जान लिया है, वे जानते रहें, मुझे उनके विषयमें बहुत कुछ कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। किन्तु आपका वैभव मेरे तो मन, शरीर तथा वचनोंके कभी भी गोचर नहीं होता॥८९॥

बन्धु-बान्धवोंके वियोग होनेपर शोक-मोह आदि करनेसे हृदयमें श्रीकृष्ण विराजमान नहीं होते। (इनसे रहित होना ही अनुकूलता है।) इसलिए श्रीमद्भा. ६/१५/३ में कहा गया है—

यथा प्रयान्ति संयान्ति स्त्रोतोवेगेन बालुकाः।
संयुज्यन्ते वियुज्यन्ते तथा कालेन देहिनः॥९०॥

स्रोतके वेगसे जिस प्रकार समस्त बालूके कण बहते-बहते कभी तो अलग हो जाते हैं और कभी मिल जाते हैं, उसी प्रकार कालके वेगके द्वारा प्राणियोंका भी संयोग और वियोग होता है। इसमें शोक-मोह करनेकी क्या आवश्यकता है? ॥९०॥

क्षमाका अवलम्बन करना भक्तिके अनुकूल है। श्रीमद्भा. ६/१७/३७ में श्रीशुकदेव गोस्वामी परीक्षित्से कहते हैं—

इति भागवतो देव्याः प्रतिशप्तुमलन्तमः।
मूर्ध्ना स जगृहे शापमेतावत् साधुलक्षणम् ॥९१॥

चित्रकेतु पार्वतीदेवीको प्रतिशाप (शापके बदले शाप) देनेमें यथेष्ट सक्षम थे, तथापि वैष्णवतावशतः उन्होंने देवीके शापको मस्तकपर ग्रहणकर उन्हें क्षमा कर दिया। यही साधुओंका लक्षण है ॥९१॥

श्रीमद्भा. ९/५/१४ में श्रीदुर्वासाने कहा—

अहो अनन्तदासानां महत्त्वं दृष्टमद्य मे।
कृतागसोऽपि यद् राजन् मङ्गलानि समीहसे ॥९२॥

हे महाराज अम्बरीष! आज मैंने भगवान् अनन्तदेवके दासोंकी महिमाको देखा। वैष्णवजन अपराधी व्यक्तियोंके भी मङ्गलकी कामना करते हैं ॥९२॥

भगवान् श्रीकृष्ण ही वैष्णवोंके एकमात्र रक्षक हैं, ऐसा विश्वास करना कर्त्तव्य है। श्रीमद्भा. १०/२/३३ में देवता भगवान् श्रीकृष्णसे कह रहे हैं—

तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद्
भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः।
त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया
विनायकानीकपमूर्द्धसु प्रभो ॥९३॥

हे माधव! आपके भक्तजन आपके दृढ़ प्रेमसे बद्ध हैं, वे कभी भी (सुपथ अर्थात् भक्तिमार्गसे) भ्रष्ट नहीं होते। आपके द्वारा

रक्षित होकर वे बड़े-बड़े विघ्नकारियोंके मस्तकपर पैर रखते हुए निर्भय विचरण करते हैं॥९३॥

समस्त प्राणियोंपर दया करना आवश्यक है। श्रीमद्भा. ७/९/४४ में भक्त प्रह्लाद भगवान् श्रीनृसिंहसे कहते हैं—

प्रायेण देव मुनयः स्वविमुक्तिकामा
मौनं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठाः।
नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्ष एको
नान्यं त्वदस्य शरणं भ्रमतोऽनुपश्ये॥९४॥

हे देव! बड़े-बड़े ऋषि-मुनि प्रायः अपनी मुक्तिकी कामनासे निर्जन वनमें जाकर मौनव्रत धारणकर दिन यापन करते हैं। वे अन्य जीवोंके कल्याणकी चेष्टा नहीं करते। किन्तु मैं आपका दासानुदास हूँ। मैं स्वयं मुक्तिकी कामनासे इन सब असुर बालकोंका त्याग नहीं कर सकता। आपके अतिरिक्त सांसारिक लोगोंके लिए अन्य कोई शरण नहीं है। जीवोंके हृदयमें कृष्णभक्तिका उदय कराना ही सर्वोत्तम उपकार है। भोजन, आच्छादन (वस्त्र) और औषधि आदिके दानको भी उपकार माना जाता है, किन्तु ये क्षुद्र उपकार हैं। इससे कभी-कभी अपकार भी हो जाता है। जीवोंको अभय (अभय चरणारविन्द भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी सेवा-वृत्ति) प्रदान करनेके समान कोई उपकार नहीं है, वही वास्तविक उपकार है॥९४॥

दृढ़ पवित्र जीवन हेतु अनासक्त भावसे विषयोंका भोग ही उपदिष्ट हुआ है। श्रीमद्भा. ७/१०/१३ में श्रीभगवान् कहते हैं—

भोगेन पुण्यं कुशलेन पापं कलेवरं कालजवेन हित्वा।
कीर्तिं विशुद्धां सुरलोकगीतां विताय मामेष्यसि मुक्तबन्धः॥९५॥

जब तक जीवित रहो, जब तक पूर्वकृत पुण्योंको भोगके द्वारा तथा पूर्वकृत पापोंको कर्मोंकी कुशलता द्वारा क्षय करते हुए कालके वेगकी सहायतासे इस अनित्य शरीरका त्याग करके तथा

देवलोकवासियों द्वारा प्रार्थित भक्तिसम्बन्धित विशुद्ध कीर्त्तिका विस्तार करते हुए समस्त बन्धनोंसे मुक्त होकर तुम मुझे प्राप्त कर लोगे॥९५॥

श्रीमद्भा. १०/१४/३६ में श्रीब्रह्मा भगवान् श्रीकृष्णसे कहते हैं—

तावद् रागादयः स्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम्।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत् कृष्ण न ते जनाः॥९६॥

हे श्रीकृष्ण! राग-द्वेष आदि दोष तभी तक चोरकी भाँति सर्वस्व हरण करते हैं, गृह तभी तक कारागार है तथा मोह तभी तक पैरोंकी बेड़ियाँ हैं, जब तक जीव आपके दास नहीं हो जाते॥९६॥

(श्रीमद्भा. १०/१४/८)

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक्॥९७॥

अतएव आपकी अनुकम्पाकी आशा करके जो अपने कर्मोंके अनुसार प्राप्त सुख या दुःखोंको निर्विकार चित्तसे भोगता हुआ हृदय, वाणी और शरीरसे आपको निरन्तर नमस्कार करता रहता है, वही व्यक्ति मुक्तिपदरूप आपके परमपदका अधिकारी होता है॥९७॥

दूसरोंका उपकार करनेमें उत्साहित रहना चाहिये। श्रीमद्भा. १०/२२/३५ में श्रीशुकदेव गोस्वामी कहते हैं—

एतावज्जन्मसाफल्यं देहिनामिह देहिषु।
प्राणैरर्थैर्धिया वाचा श्रेय आचरणं सदा॥९८॥

अन्य प्राणियोंके प्रति प्राण, अर्थ, बुद्धि तथा वाक्य द्वारा कल्याण करनेका जो आचरण है, वही मनुष्यजन्मकी सफलता है। इसीको उत्साहके साथ कर्त्तव्य-कर्म करना कहते हैं॥९८॥

दरिद्रताको दुःखके रूपमें मानना उचित नहीं है। श्रीमद्भा. १०/८८/८ में भगवान् कहते हैं—

यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः।
ततोऽधनं त्यजन्त्यस्य स्वजना दुःखदुःखितम्॥९९॥

मैं जिनपर अनुग्रह करता हूँ, उनका धन धीरे-धीरे हरण कर लेता हूँ, क्योंकि ऐसा होनेपर उसके जो सम्पूर्ण रूपसे कपटी बान्धवगण हैं, वे उसे दुःखित मानकर उसका सम्पूर्ण रूपसे त्याग कर देंगे। इस प्रकार उसका असत्-सङ्ग अपने आप छूट जायेगा॥९९॥

श्रीमद्भा. १०/४१/५१ में श्रीशुकदेव गोस्वामी वैष्णवोंके कर्त्तव्यका संक्षेपमें वर्णन करते हैं—

सोऽभिवव्रेऽचलां भक्तिं तस्मिन्नेवाखिलात्मनि।
तद्भक्तेषु च सौहार्दं भूतेषु च दयां पराम्॥१००॥

उसने (मथुरा निवासी माला बनानेवाले सुदामा मालीने) अखिलात्मा श्रीकृष्णमें अचला भक्ति, श्रीकृष्णके भक्तोंके प्रति सौहार्द तथा समस्त प्राणियोंके प्रति श्रेष्ठ दया प्राप्त करनेका वरदान माँगा॥१००॥

शुद्धभक्तोंमें तो सभी सद्गुण स्वाभाविक रूपसे विद्यमान रहते हैं। (शुद्धभक्तिकी अभिलाषा रखनेवाले निष्कपट साधकोंको भी) पृथक्-पृथक् सद्गुण सीखनेके लिए चेष्टा करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। शुद्धभक्ति होनेसे ही अन्य समस्त तटस्थ सद्गुण स्वतः उदित हो जाते हैं। श्रीमद्भा. ५/१८/१२ में श्रीप्रह्लाद कहते हैं—

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः।
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा मनोरथेनासति धावतो बहिः॥१०१॥

जिनकी श्रीकृष्णमें अकिञ्चनाभक्ति होती है, समस्त सद्गुण तथा देवता उसके शरीरमें शोभायमान होते हैं अर्थात् उसमें ही

सम्पूर्ण रूपसे अवस्थान करते हैं, दूसरे शब्दोंमें वह भक्त ही सर्वदेवमय हो जाता है। नाना प्रकारके मनोरथोंके साथ जो बाहरी विषयोंकी ओर धावित होते हैं, बहुत चेष्टा करनेपर भी उन्हें सद्गुण किस प्रकारसे प्राप्त हो सकते है? ॥१०१॥

धैर्य वैष्णवोंका एक प्रधान गुण है। श्रीमद्भा. ३/२२/३७ में श्रीमैत्रेय विदुरसे कहते हैं—

शारीरा मानसा दिव्या वैयासे ये च मानुषाः।
भौतिकाश्च कथं क्लेशा बाधेरन् हरिसंश्रयम्॥१०२॥

शारीरिक, मानसिक, दिव्य (आधिदैविक) और भौतिक (सर्दी, गर्मी आदिसे उत्पन्न), मनुष्योंके जो समस्त क्लेश होते हैं, वे श्रीहरिके आश्रित जनोंको कभी भी कोई बाधा नहीं दे सकते हैं॥१०२॥

श्रीमद्भा. ११/२०/१९ में मनको स्थिर करनेका उपाय बतलाते हुए श्रीकृष्ण उद्धवसे कहते हैं—

धार्यमाणं मनो यर्हि भ्राम्यदाश्वनवस्थितम्।
अतन्द्रितोऽनुरोधेन मार्गेणात्मवशं नयेत्॥१०३॥

मनको स्थिर करनेसे भक्ति दृढ़ होती है। जब तक चञ्चल मन शीघ्र भ्रमणशील होकर (लक्षित वस्तुमें) स्थिर नहीं होता, तब तक सावधानीपूर्वक अनुरोध मार्गसे (किञ्चित् उसकी इच्छा पूर्ण करके) उसे अपने वशमें कर लें। घोड़ेपर सवार व्यक्ति घोड़ेकी इच्छानुसार किञ्चित् अग्रसर होकर जिस प्रकार उसे कुशलतापूर्वक लौटा लाता है, उसी प्रकार कामके प्रति धावित-मनको थोड़ा धर्मसम्मत प्रश्रय देकर क्रमशः कृष्णभक्तिके प्रति मोड़ लेना चाहिये। इस कौशलको सर्वदा स्मरण रखना आवश्यक है॥१०३॥

कर्म-ज्ञानादिसे रहित शुद्धभक्तिकी चेष्टा द्वारा सर्वार्थ लाभ होता है। श्रीमद्भा. ११/१४/१८-१९ में कहा गया है कि—

बाध्यमानोऽपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रियः।
प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयते॥१०४॥

भक्तिके आश्रित व्यक्तिका अजितेन्द्रिय मन पूर्व अभ्यासवशतः कुछ दिनों तक विषयोंमें रहनेके लिए बाध्य है। परन्तु भक्तिका अनुशीलन करते-करते भक्तिकी प्रबलता जितनी वर्द्धित होती है, उसके प्रभावसे अजितेन्द्रिय व्यक्ति उतना ही विषयोंके वशीभूत नहीं होता। तब भी जो कहीं-कहीं पतन होता है, वह केवल कपटताका फल है॥१०४॥

यथाग्निः सुसमृद्धार्चिः करोत्येधांसि भस्मसात्।
तथा मद्विषया भक्तिरुद्धवैनांसि कृत्स्नशः॥१०५॥

सुसमृद्ध (अत्यन्त प्रचण्ड) अग्नि जिस प्रकार समस्त लकड़ियोंको भस्म कर देती है, उसी प्रकार मेरी भक्ति समस्त पापोंको जड़सहित दग्ध कर डालती है॥१०५॥

(श्रीमद्भा. ११/१४/२१-२३)

भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयात्मा प्रियः सताम्।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात्॥१०६॥

मैं साधुजनोंका प्रिय हूँ। अनन्य होनेपर ही मुझे प्राप्त किया जा सकता है। मेरे प्रति निष्ठापूर्वक की गयी भक्ति चाण्डालोंको भी जाति दोषसे पवित्र कर देती है॥१०६॥

धर्मः सत्यदयोपेतो विद्या वा तपसान्विता।
मद्भक्त्यापेतमात्मानं न च सम्यक् पुनाति हि॥१०७॥

मेरी भक्तिसे हीन व्यक्तिकी आत्माको धर्म, सत्यादि और तपस्यासे युक्त विद्या सम्पूर्ण रूपसे पवित्र नहीं कर सकती॥१०७॥

कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना।
विनानन्दाश्रुकलया शुध्येद् भक्त्या विनाशयः॥१०८॥

द्रवित-चित्तके द्वारा आनन्द-अश्रु-कलायुक्ता शुद्धभक्तिके बिना आशय (कर्म वासनारूपी संस्कार) किस प्रकारसे शुद्ध हो सकता है?॥१०८॥

भक्तिके अनुकूल होनेके कारण आश्रय लेने योग्य धर्मोंका वर्णन करते हुए श्रीप्रबुद्ध श्रीमद्भा. ११/३/२३-२८ में निमिसे कह रहे हैं—

सर्वतो मनसोऽसङ्गमादौ सङ्गञ्च साधुषु।
दयां मैत्रीं प्रश्रयञ्च भूतेष्वद्धा यथोचितम्॥१०९॥

शौचं तपस्तितिक्षाञ्च मौनं स्वाध्यायमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसाञ्च समत्वं द्वन्द्वसंज्ञयोः॥११०॥

सर्वत्रात्मेश्वरान्वीक्षां कैवल्यमनिकेतताम्।
विविक्तचीरवसनं सन्तोषं येन केनचित्॥१११॥

मनोवाक्कर्मदण्डञ्च सत्यं शमदमावपि॥११२॥

श्रवणं कीर्तनं ध्यानं हरेरद्भुतकर्मणः।
जन्मकर्मगुणानाञ्च तदर्थेऽखिलचेष्टितम्॥११३क॥

इष्टं दत्तं तपो जप्तं वृत्तं यच्चात्मनः प्रियम्।
दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् यत् परस्मै निवेदनम्॥११३ख॥

सब विषयोंसे मनको अनासक्त रखना, शीघ्र ही साधुसङ्ग करना, दया, मैत्री, दीन-हीन प्राणियोंको आश्रय प्रदान करना, शौच, तप, सहनशीलता, मौन, भक्तिशास्त्रोंका अध्ययन, सरलता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, मान-अपमान आदि द्वन्द्व-विषयोंमें समता, सर्वत्र आत्मारूपमें ईश्वरका दर्शन (सर्वत्र अपने इष्टदेवके दर्शनका अभ्यास), कैवल्य (आत्माको जड़से पृथक् मानना), अनिकेतता (गृहारम्भ आदि प्रयासशून्यता), निर्जनवास, साधारण वस्त्र-व्यवहार, अनायास प्राप्त वस्तुमात्रमें ही सन्तोष, प्रयोजन स्थलपर अर्थात् आवश्यक होनेपर तन, मन और वचनका निग्रह, सत्य, शम, दम, हरिकथा श्रवण, कीर्त्तन, ध्यान, भगवान्के जन्म-कर्म-गुणादिकी

कथा, श्रीकृष्णके लिए ही अखिल चेष्टाएँ, इष्ट (यज्ञ आदि), दान, तप, जप तथा निज प्रिय सात्त्विक वस्तु और धन भगवान्‌को अर्पण; स्त्री, गृह, पुत्र, प्राणको श्रीकृष्णके लिए निवेदन करना—ये सब भक्तिके उद्देश्यसे करनेपर भक्तिके अनुकूल होते हैं॥१०९-११३॥

श्रीमद्भा. १०/८१/४ में अकिञ्चन भक्तों द्वारा की जानेवाली श्रीकृष्णकी पूजा-विधिका वर्णन करते हुए भगवान् कह रहे हैं—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥११४॥

पत्र, पुष्प, फल और जल (जो बिना व्यय किये ही संग्रहीत हो सकते हैं) को यदि कोई यत्नपूर्वक भक्ति सहित मुझे प्रदान करता है, तो मैं भक्तिपूर्वक प्रदान की गयी इन वस्तुओंको स्वीकार करता हूँ॥११४॥

श्रीमद्भा. ६/९/४९ में लोक-शिक्षाके विषयमें भगवान् श्रीकृष्ण देवताओंसे कहते हैं—

स्वयं निःश्रेयसं विद्वान् न वक्त्यज्ञाय कर्म हि।
न राति रोगिणोऽपथ्यं वाञ्छतोऽपिभिषक्तमः॥११५॥

जिस प्रकार रोगीकी इच्छा होनेपर भी उत्तम चिकित्सक उसे कुपथ्य नहीं देते, उसी प्रकार विद्वान पुरुष अज्ञानी मनुष्योंको कर्मत्यागरूप निःश्रेय (परमानन्द प्राप्तिके साधन भगवत्-भजनका) तत्त्व नहीं बतलाते, क्योंकि अज्ञानी पुरुषोंके लिए वह फलदायक नहीं होता। अज्ञानी पुरुष कर्म-प्रिय होते हैं, उन्हें भक्तिके अनुकूल कर्मोंका उपदेश प्रदान करना चाहिये। अधिकारके विचारसे उपदेशमें भेद होता है। अश्रद्धालु व्यक्तियोंको नामका उपदेश करनेसे नामापराध होता है॥११५॥

साधकोचित प्रार्थना करते हुए वृत्रासुर श्रीमद्भा. ६/११/२७ में भगवान्‌से कहते हैं—

ममोत्तमश्लोकजनेषु सख्यं संसारचक्रे भ्रमतः स्वकर्मभिः।
त्वन्माययात्मात्मजदारगेहेष्वासक्तचित्तस्य न नाथ भूयात्॥११६॥

हे नाथ! अपने कर्मोंके द्वारा संसार-चक्रमें भ्रमण करनेवाला मेरा, कृष्णभक्तोंके साथ सख्य हो। आपकी मायासे मोहित होकर आसक्तचित्तवशतः स्त्री, पुत्र तथा गृहादिमें मेरी आसक्ति न हो—मेरी यही प्रार्थना है॥११६॥

श्रीमद्भा. ११/२/४२ में कवि निमिसे कहते हैं—

भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैष त्रिक एककालः।
प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्युस्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम्॥११७॥

जिस प्रकार सुपथ्य अन्न भोजनकारीकी प्रति-ग्रासमें एक ही साथ तुष्टि, पुष्टि और भूखकी निवृत्ति क्रमशः होती है, उसी प्रकार शरणागत भक्त मात्रके लिए ही भक्ति, परमेश्वरका अनुभवरूप सम्बन्धज्ञान तथा अनित्य वस्तु और व्यक्तिसे विरक्ति, एक समयमें ही होती है। तात्पर्य यह है कि जो शुद्धभक्तिका आश्रय करते हैं, उनके हृदयमें कृष्णभक्ति, कृष्ण-सम्बन्धज्ञान और इतर (भक्तिके प्रतिकूल) वस्तुओंमें विरक्ति एक ही समयमें होती है। ज्ञान और वैराग्य पृथक् तत्त्व नहीं हैं, अतएव पृथक्-पृथक् रूपसे उन्हें प्राप्त करनेकी चेष्टा द्वारा बहिर्मुखता आने लगती है। बहिर्मुख ज्ञान और शुष्क वैराग्य—दोनों ही अत्यधिक तुच्छ हैं। भक्तिसे सम्बन्धज्ञान और इतर वस्तुओंके प्रति वैराग्य स्वयं ही उत्पन्न हो जाता हैं। जिस स्थानपर ये उत्पन्न नहीं होते, वहाँ भक्तिका अभाव समझना चाहिये। इसलिए ऐसी भक्तिको कपट भक्ति कहना होगा। वैराग्यसे आत्माकी तुष्टि, सम्बन्धज्ञानसे आत्माकी पुष्टि और भक्तिक्रियासे आत्माकी भूखकी निवृत्ति होती है। इस प्रकार तीन उपमाएँ प्रदर्शित हुईं हैं॥११७॥

भगवान्‌की कृपासे सभी कामनाओंका क्षय हो जाता है। इस विषयमें देवता श्रीमद्भा. ५/१९/२६ में कह रहे हैं—

सत्यं दिशत्यर्थितमर्थितो नृणां नैवार्थदो यत्पुनरर्थिता यतः।
स्वयं विधत्ते भजतामनिच्छतामिच्छापिधानं निजपादपल्लवम्॥११८॥

यह सत्य है कि प्रार्थना करनेपर भगवान् अभीष्ट वस्तुओंको प्रदान कर देते हैं किन्तु उन वस्तुओंसे परमार्थ प्राप्त नहीं होता, क्योंकि पुनः भगवान्से याचना करनेका कारण उपस्थित हो जाता हैं। इसलिए किसी सामान्य कामनाके साथ भजन करनेवाले भक्त द्वारा इच्छा न करनेपर भी भगवान् उसे इच्छा (कामना) निवारक अपने श्रीचरणकमलोंको स्वयं प्रदान करते हैं, जिससे और किसी प्रकारकी कामना नहीं रह जाती। कामनाओंकी पूर्तिके लिए जो लोग अन्य देवताओंकी उपासना करते हैं, उससे अभिलाषा किये हुए विषय प्राप्त तो हो जाते हैं, किन्तु उनसे कामनाओंमें और भी वृद्धि होती है। अतएव कामना रहनेपर भी श्रीकृष्णभजन करनेसे शीघ्र निष्कामतारूप परम फलकी प्राप्ति होती है॥११८॥

श्रीकृष्णका भजन करनेमें बहुत प्रयास करनेकी आवश्यकता नहीं होती। श्रीमद्भा. ७/६/१९ में श्रीप्रह्लाद दैत्यबालकोंसे कहते हैं—

न ह्यच्युतं प्रीणयतो बह्वायासोऽसुरात्मजाः।
आत्मत्वात् सर्वभूतानां सिद्धत्वादिह सर्वतः॥११९॥

श्रीकृष्ण सब प्राणियोंकी आत्मा हैं, वे सब प्रकारसे सिद्धतत्त्व हैं। हे असुरबालको! बहुत प्रयासों (अर्थात् बहुत अधिक परिश्रम, बुद्धि, बल, सौन्दर्य आदि) द्वारा अच्युत भगवान् श्रीकृष्ण प्रसन्न नहीं होते। सहज भक्ति द्वारा ही उन्हें प्राप्त किया जा सकता है॥११९॥

भजनमें कालका विलम्ब नहीं करना चाहिये। श्रीमद्भा. ७/६/१ में इसका इस प्रकार वर्णन है—

कौमार आचरेत् प्राज्ञो धर्मान् भागवतानिह।
दुर्लभं मानुषं जन्म तदप्यध्रुवमर्थदम्॥१२०॥

यद्यपि मनुष्य जन्म दुर्लभ और क्षणभङ्गुर है, तथापि इसी जन्ममें ही परमार्थकी प्राप्ति हो सकती है। अतएव बुद्धिमान व्यक्तिको कौमार-अवस्था (बाल्य-काल) से ही भागवत-धर्मका आचरण करना चाहिये॥१२०॥

(श्रीमद्भा. ७/६/४-५)

तत्प्रयासो न कर्तव्यो यत आयुर्व्ययः परम्।
न तथा विन्दते क्षेमं मुकुन्दचरणाम्बुजम्॥१२१॥

जिससे आयुका वृथा ही क्षय होता है, उन विषयोंकी प्राप्तिका प्रयास नहीं करना चाहिये। ऐसा करनेपर भगवान् श्रीमुकुन्दके चरणकमलोंकी सेवारूप चरम कल्याणकी प्राप्ति नहीं होती॥१२१॥

ततो यतेत कुशलः क्षेमाय भयमाश्रितः।
शरीरं पौरुषं यावन्न विपद्येत पुष्कलम्॥१२२॥

यह सर्वश्रेष्ठ मनुष्य शरीर जब तक नष्ट नहीं हो जाता, तब तक संसारमें रह रहे व्यक्तिको अपने परम कल्याणके लिए प्रयत्न करना चाहिये, क्योंकि यह शरीर नष्ट होनेपर भजन किस प्रकार होगा?॥१२२॥

वास-स्थान और भोजन आदि सभी व्यावहारिक वस्तुओंको निर्गुण कराना चाहिये। श्रीमद्भा. ११/२५/२५ और २७-२८ में श्रीकृष्ण उद्धवसे कहते हैं—

वनन्तु सात्त्विको वासो ग्रामो राजस उच्यते।
तामसं द्यूतसदनं मन्निकेतन्तु निर्गुणम्॥१२३॥

सात्त्विक भावयुक्त वस्तुओंमें कृष्णभाव स्थापित करनेसे वे निर्गुण हो जाती हैं। वनमें वास करना सात्त्विक है, ग्राममें वास करना राजसिक है और क्रीड़ादि स्थान (जुआघर) में वास करना तामसिक है, मेरे मन्दिरमें वास करना निर्गुण है॥१२३॥

सात्त्विक्याध्यात्मिकी श्रद्धा कर्मश्रद्धा तु राजसी।
तामस्यधर्मे या श्रद्धा मत्सेवायां तु निर्गुणा॥१२४॥

आध्यात्मिकी श्रद्धा सात्त्विकी, कर्म-श्रद्धा राजसी और अधर्मके प्रति होनेवाली श्रद्धा तामसी है। मेरी सेवामें जो श्रद्धा है, वह निर्गुण है॥१२४॥

पथ्यं पूतमनायस्तमाहार्यं सात्त्विकं स्मृतम्।
राजसञ्चेन्द्रियप्रेष्ठं तामसञ्चार्तिदाशुचि॥१२५॥

सुपथ्य अर्थात् सुपाच्य, हृद्य (रोचक) वस्तु, स्निग्ध, पूत अर्थात् पवित्र तथा अल्प चेष्टा द्वारा प्राप्त आहार सात्त्विक हैं। इन्द्रियोंको प्रिय लगनेवाले खाद्य-पदार्थ राजसिक तथा दुःख दायक अर्थात् अपाच्य और अमेध्य द्रव्य तामसिक हैं। श्रीकृष्णको निवेदित सात्त्विक आहार ही निर्गुण है॥१२५॥

निष्कपट विषयीजनोंके प्रति कृपा करना उचित है। श्रीमद्भा. ११/५/४ में चमस निमिसे कहते हैं—

दूरे हरिकथाः केचित् दूरे चाच्युतकीर्तनाः।
स्त्रियः शूद्रादयश्चैव तेऽनुकम्प्या भवादृशाम्॥१२६॥

स्त्री और शूद्रादि, लौकिक विषयोंमें आविष्ट रहनेके कारण हरिकथा और अच्युत-कीर्त्तनसे दूर रहते हैं। वे सब यदि निष्कपट हों, तो आपकी कृपाके पात्र हैं॥१२६॥

श्रीमद्भा. १०/१४/५८ में श्रीशुकदेव परीक्षित्‌से कहते हैं—

समाश्रिता ये पदपल्लवप्लवं महत्पदं पुण्ययशो मुरारेः।
भवाम्बुधिर्वत्सपदं परं पदं पदं पदं यद् विपदां न तेषाम्॥१२७॥

इति श्रीमद्भागवतार्कमरीचिमालायां अभिधेयतत्त्वप्रकरणे
भक्त्यानुकूल्यविचारविषये साधनभक्तिनिरूपणं
नाम पञ्चदशः किरणः॥

जिन्होंने भगवान् श्रीकृष्णके महत् पुण्यकीर्त्ति पदरूप पदपल्लवात्मक नौकाका आश्रय कर लिया है, वे भव-सागरको वत्सपद (बछड़ेके खुर) के समान समझते हैं। उनके लिए परमपद अनायास ही लभ्य है तथा उनके लिए किसी विपत्तिका भय नहीं रहता॥१२७॥

पञ्चदश किरणकी 'मरीचिप्रभा' नामक गौड़ीय-व्याख्याका भावानुवाद समाप्त॥

षोडश किरण

भावके उदयका क्रम

साधनैर्जीवने यस्य दृष्टो भावोदयक्रमः।
रघुनाथमहं वन्दे दासगोस्वामिनं प्रभुम्॥

मैं उन श्रील रघुनाथदास गोस्वामी प्रभुके श्रीचरणकमलोंकी वन्दना करता हूँ, जिनके जीवनमें साधन द्वारा भावोदयका क्रम दिखायी देता है।

श्रीकृष्णचैतन्यचन्द्राय नमः

भावोदयका क्रम वर्णन करते हुए भगवान् श्रीकपिलदेव श्रीमद्भा. ३/२५/२५ में माता देवहूतिसे कहते हैं—

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति॥१॥

साधुजनोंके प्रकृष्ट सङ्गमें मेरी महिमा प्रकाशक कथा उदित होती है, जो हृदय तथा कर्णके लिए रसायनस्वरूप है। उसे सुनते-सुनते कुछ दिनोंमें ही मोक्ष-पथस्वरूप श्रीकृष्णमें प्रथमतः श्रद्धा होती है। उस श्रद्धाके साथ भजन करते-करते जितने परिमाणमें अनर्थ दूर होते हैं, उतने अधिक रूपमें श्रद्धाकी क्रमोन्नतिसे निष्ठा, रुचि, आसक्ति तथा रति उत्पन्न होती है। रतिका ही दूसरा नाम भाव है। रति ही क्रमशः परिपक्व अवस्थामें प्रेमभक्ति होती है॥१॥

भावकी सर्वोत्तमताका वर्णन करते हुए श्रीनारद श्रीमद्भा. १/५/३९ में श्रीव्यासदेवसे कहते हैं—

इमं स्वनिगमं ब्रह्मन्नवेत्य मदनुष्ठितम्।
अदान्मे ज्ञानमैश्वर्यं स्वस्मिन् भावञ्च केशवः॥२॥

अपने निगम अर्थात् अपने अन्तरङ्ग वेदोक्त ज्ञानरूपी उपदेश वाणीका मेरे द्वारा पालन होता देखकर भगवान् श्रीहरि मेरे प्रति बहुत प्रसन्न हुए तथा मुझे चित्-सम्बन्धीय ऐश्वर्य और उसके प्रति भाव प्रदान किया॥२॥

साधन भक्तिसे क्रमशः किस प्रकार भाव उदित होता है, उसका वर्णन करते हुए श्रीसूत गोस्वामी श्रीमद्भा. १/२/१४-१८ में शौनकादि ऋषियोंसे कहते हैं—

तस्मादेकेन मनसा भगवान् सात्वतां पतिः।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च ध्येयः पूज्यश्च नित्यदा॥३॥

अतएव ऐकान्तिक मनसे सात्वतपति (वैष्णवोंके प्रभु) भगवान् श्रीकृष्णकी कथाका श्रवण, कीर्त्तन, ध्यान और पूजन नित्य करना चाहिये ॥३॥

यदनुध्यासिना युक्ताः कर्मग्रन्थिनिबन्धनम्।
छिन्दन्ति कोविदास्तस्य को न कुर्यात्कथारतिम्॥४॥

जिनकी निरन्तर ध्यानरूपी तलवार द्वारा पण्डितगण कर्मग्रन्थिका छेदन करते हैं, उनकी कथामें किस भाग्यवान व्यक्तिकी रति नहीं होगी? ॥४॥

शुश्रूषोः श्रद्दधानस्य वासुदेवकथारुचिः।
स्यान्महत्सेवया विप्राः पुण्यतीर्थनिषेवणात्॥५॥

हरिकथा सुननेकी इच्छाका नाम शुश्रूषा है। भाग्यक्रमसे इसी शुश्रूषाके उदय होनेपर श्रद्धा होती है। सुकृतिके बिना यह श्रद्धा उत्पन्न नहीं होती। महत्-पुरुषोंकी सेवा ही सुकृति है। इस सुकृतिसे क्रमशः हरिकथामें श्रद्धा होती है। पुण्यतीर्थोंकी सेवासे महत्-पुरुषोंका सङ्ग प्राप्त होता है, इसलिए पुण्यतीर्थमें गमनरूप सुकृतिसे महत्-सेवा प्राप्त होती है। महत्-सेवा होनेपर हरिकथामें श्रद्धा होती है। प्राचीन हो अथवा आधुनिक हो, सुकृतिसे ही श्रद्धा उत्पन्न होती है॥५॥

शृण्वतां स्वकथाः कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्तनः।
हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम्॥६॥

जातश्रद्ध (जिनके हृदयमें श्रद्धा उत्पन्न हो गयी है, ऐसे) पुरुषोंके हृदयमें कृष्णकथाके श्रवण और कीर्त्तन द्वारा पुण्यश्रवण-कीर्त्तन अर्थात् जिनका श्रवण-कीर्त्तन पुण्यकारी है, ऐसे श्रीकृष्ण प्रवेश करते हैं तथा उनके हृदयमें बैठकर साधुओंके परम सुहृद हरि समस्त अभद्रों (अनर्थों) का नाश कर देते हैं। अनर्थ बहुत प्रकारके होते हैं। प्रारम्भमें कृष्ण-विस्मृतिरूप अपराध होनेसे

अविद्याका बन्धन होता है। अविद्याके बन्धनसे स्वरूपभ्रम होनेके कारण कर्मचक्रमें फँसना पड़ता है। इस कर्मचक्रसे काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह और मात्सर्य होता है। इसीसे ही पुण्य और पाप होते हैं और पाप-पुण्यसे स्वर्ग-नरकरूप अभद्रोंका[१] संग्रह करना

---

[१] स्वर्ग और नरक दोनोंको ही अभद्र कहा गया है, क्योंकि दोनों ही स्थानोंपर जीवोंको उनके द्वारा किये गये पाप-पुण्योंके फलस्वरूप दण्डकी प्राप्ति होती है। यदि प्रश्न हो कि यह तो समझ आता है कि पापके फलस्वरूप जिस नरककी प्राप्ति है, वह अभद्र स्थान है किन्तु पुण्य कर्मोंके फलस्वरूप प्राप्त हुए स्वर्गको अभद्र स्थान कैसे कहा जा सकता है? तो इसका उत्तर यह है कि मान लो, मैं एक व्यक्तिका वध करना चाहता हूँ। उसे मारनेके लिए मेरे पास दो उपाय हैं। एक तो यह कि मैं उसे बहुत दिनों तक भूखा रखूँ और दूसरा उसे बहुत अधिक खिला-खिलाकर मार डालूँ। यद्यपि देखनेमें भूखा रखना और बहुत अधिक खिलाना भिन्न-भिन्न दिखायी पड़ता है, किन्तु सूक्ष्म रूपसे विचार करनेपर पता चलेगा कि दोनों क्रियाओंका उद्देश्य एक ही है।

इसी प्रकार भगवान्‌की दैव माया द्वारा जीवको स्वर्ग अथवा नरक भिन्न-भिन्न दिखायी देनेपर भी वास्तवमें एक ही हैं अर्थात् दोनों ही अभद्र स्थान हैं। दैवी माया नरकमें भोग-शरीर द्वारा दण्ड तथा स्वर्गमें भोग-शरीर द्वारा भोग (दण्डका ही दूसरा स्वरूप) प्रदान करती है। इसलिए हमारे पूर्वाचार्य श्रील नरोत्तम दास ठाकुर कहते हैं कि—

पाप ना करिहो मन   अधम से पापी जन
तारे मुइ दूरे परिहरि।
पुण्य जे सुखेर धाम,   तार न लइहो नाम
पाप-पुण्य दुइ त्याग करि॥

(प्रेमभक्तिचन्द्रिका ७१)

भक्ति विघातक पाप और पुण्य दोनोंका ही परित्याग करना चाहिये।

श्रील रघुनाथ दास गोस्वामी भी अपने श्रीमनः-शिक्षाके दूसरे श्लोकमें कहते हैं कि—

न धर्मं नाधर्मं श्रुतिगणनिरुक्तं किल कुरु
व्रजे राधाकृष्ण प्रचुरपरिचर्यामिह तनु।

हे मेरे प्यारे मन! श्रुतियोंमें कथित धर्म और अधर्म (पुण्यजनक धर्म और पापमूलक अधर्म) कुछ भी मत करो, बल्कि श्रुतियोंने चरम सिद्धान्तके रूपमें जिन्हें सर्वोपादेय चरम उपास्य एवं सर्वोपरि **गोलोकमें** स्थित परम तत्त्वके रूपमें निर्धारित किया है, उन श्रीश्रीराधाकृष्ण युगलकी प्रेममयी प्रचुर परिचर्या करो।

होता है अर्थात् वहाँ वास करना पड़ता है। जीवके संसारमें सुख-दुःखरूप बहुत प्रकारके क्लेश हैं। अविद्यासे उत्पन्न काम्य-कर्म ही सारे क्लेशोंकी जड़ है। कामनाओंका दमन करनेके लिए ज्ञानी योगचेष्टा करते रहते हैं, किन्तु वह पथ ठीक नहीं है। भक्तिका पथ ही उत्तम है। भक्तिमार्गमें भगवान्‌के ऊपर निर्भर करनेसे भगवान् श्रीकृष्णकी कृपासे अनर्थ शीघ्र ही दूर हो जाते हैं तथा चित्त स्थिर हो जाता है॥६॥

नष्टप्रायेष्वभद्रेषु नित्यं भागवतसेवया।
भगवत्युत्तमःश्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी॥७॥

अनर्थ जितनी मात्रामें नष्ट होते हैं, उतने ही परिमाणमें कृष्णकथाके प्रति रहनेवाली श्रद्धा निष्ठाके रूपमें उदित होती है। इसीसे नैष्ठिकीभक्ति होती है। नित्य निरन्तर भागवत-सेवा अर्थात् भक्तसेवा और भागवत-ग्रन्थकी श्रवणादि रूप सेवाके द्वारा सारे अनर्थ नष्ट हो जाते हैं और उत्तमश्लोक रूप भगवान् श्रीकृष्णमें नैष्ठिकीभक्ति उदित होती है॥७॥

प्रारम्भमें श्रद्धा, फिर साधुसङ्ग, भजन-क्रिया, उससे अमङ्गलरूप अनर्थोंकी निवृत्ति, निष्ठा, रुचिका क्रम श्रीनारदके चरित्रमें प्रदर्शित हुआ है। उसीका स्वयं श्रीनारद श्रीमद्भा. १/५/२५-२८ में वर्णन करते हुए श्रीव्याससे कहते हैं—

उच्छिष्टलेपाननुमोदितो द्विजैः सकृत् स्म भुञ्जे तदपास्तकिल्विषः।
एवं प्रवृत्तस्य विशुद्धचेतसस्तद्धर्म एवात्मरुचिः प्रजायते॥८॥

हे व्यास! मैं साधुओंके जूठे बर्तन धो देता था। साधुओंकी अनुमति प्राप्त करके मैंने एक बार उनके भिक्षा-पात्रमें लगा हुआ उच्छिष्ट भोजन किया था। उससे मेरे समस्त पाप दूर हो गये। इस प्रकार उनकी सेवा करते-करते मेरा चित्त विशुद्ध हो गया। इससे उनके द्वारा पालन किये जानेवाले पवित्र भागवत-धर्ममें मेरी रुचि उदित हो गयी। यहाँपर रुचि होनेका अर्थ निष्ठा है॥८॥

तत्रान्वहं कृष्णकथाः प्रगायताम् अनुग्रहेणाशृणवं मनोहराः।
ताः श्रद्धया मेऽनुपदं विशृण्वतः प्रियश्रवस्यङ्ग ममाभवद्रतिः॥९॥

प्रतिदिन मैं उस सत्सङ्गमें कृष्णकथा-गानकारी महानुभावोंकी कृपासे मनका हरण कर लेनेवाली कथाओंका श्रवण करने लगा। श्रद्धापूर्वक उनका निरन्तर श्रवण करते-करते प्रियकीर्त्ति श्रीकृष्णमें मेरी रति उत्पन्न हो गयी। इस प्रसङ्गमें रति शब्दका अर्थ रुचि है॥९॥

तस्मिंस्तथा लब्धरुचेर्महामते प्रियश्रवस्यस्खलिता मतिर्मम।
ययाहमेतत् सदसत् स्वमायया पश्ये मयि ब्रह्मणि कल्पितं परे॥१०॥

हे महामते! रुचि प्राप्त होनेपर क्रमशः प्रियकीर्त्ति श्रीकृष्णमें मेरी मति स्थिर हो गयी। यहाँ 'मति' शब्दका अर्थ है 'आसक्ति'। उस आसक्तिके द्वारा क्रमशः मैंने अपनेको चित्-सत्ता जानकर परब्रह्ममें स्थिति प्राप्त की।[१] परब्रह्म परमचैतन्य हैं, मैं अणुचैतन्य हूँ—ऐसा निश्चय होनेपर चित्-जातीय मेरी ब्रह्ममें स्थिति हो गयी। जड़देहमें जो 'मैं' का अभिमान था, वह दूर हो गया और जड़चित्-संघात् दुष्ट द्वैत-प्रतीति अर्थात् चित्से भिन्न जड़ होनेकी प्रबल प्रतीति दूर हो गयी। जीव तथा ब्रह्मकी चित्-तत्त्वमें स्वजातीय प्रतीति उदित हो गयी॥१०॥

उपरोक्त मतिका तात्पर्य आसक्ति है—

इत्थं शरत्प्रावृषिकावृतू हरेर्विशृण्वतो मेऽनुसवं यशोऽमलम्।
संकीर्त्यमानं मुनिभिर्महात्मभिर्भक्तिः प्रवृत्ताऽऽत्मरजस्तमोपहा॥११॥

इस प्रकार शरद्काल और वर्षाकाल अर्थात् चातुर्मास्यमें एकत्रित हुए महात्मा मुनियोंके मुखसे समय-समयपर श्रीहरिका

---

[१] अर्थात् मैंने साक्षात् अनुभव किया कि मैं स्थूल अथवा सूक्ष्म शरीर नहीं, बल्कि आत्मा हूँ। मेरा स्थूल और सूक्ष्म शरीर श्रीकृष्णकी सेवाके लिए है, न कि इन्द्रिय तृप्तिके लिए।

अमल यश (पवित्र कीर्त्ति) श्रवण करते-करते चित्तके रजोगुण और तमोगुणका नाश करनेवाली भक्ति हृदयमें उदित हो गयी। यही भावरूपा भक्ति है॥११॥

उपरोक्त भक्तिका तात्पर्य भाव है। श्रीमद्भा. १/२/१९-२० में कहा गया है—

तदा रजस्तमोभावाः कामलोभादयश्च ये।
चेत एतैरनाविद्धं स्थितं सत्त्वे प्रसीदति॥१२॥

एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः।
भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसङ्गस्य जायते॥१३॥

तबसे रजोभाव और तमोभावस्वरूप काम, लोभादि मेरे चित्तको विद्ध (विकृत) नहीं कर पाये। सत्त्वगुणमें स्थित होनेसे आत्मा प्रसन्न हो गयी।

यहाँपर ऐसा क्रम है। नैष्ठिकी श्रद्धापूर्वक भगवद्भक्तोंके सङ्गमें हरिकथा-श्रवण-कीर्त्तनसे समस्त पाप नाश हो गये तथा चित्त शुद्ध हो गया। नैष्ठिकी श्रद्धासे पूर्व जिन अनर्थोंका नाश हुआ था, उन्हें केवल नष्टप्रायः ही समझना चाहिये। यह विचार पञ्चम, षष्ठ तथा सप्तम श्लोकमें दिखलाया गया है। जो अमङ्गल नष्टप्रायः थे, निष्ठा सहित हरिभजन करनेसे उन पापोंके अंश भी दूर हो गये, फिर भी चित्तगत पापाशय अर्थात् अशुभ वासनाएँ नष्ट नहीं हुईं। रुचिके साथ हरिभजनके द्वारा क्रमशः सम्बन्धज्ञानका उदय होनेपर अस्खलितमति अर्थात् पुण्य-पापके कारणस्वरूप अशुभ वासनाएँ नष्ट हो गयीं, तथापि पुण्य-पापकी वासनाओंका मूल, जो अविद्या है, वह नहीं गयी। आसक्तिके साथ कृष्णभजन करनेसे अविद्याके तिरोहित होनेपर स्वरूपका उदय होता है। इसीका नाम भावभक्ति है। भावभक्ति शुद्धसत्त्वमें अवस्थित रहती है। उस समय चित्त अविद्या द्वारा विद्ध नहीं होता, इस स्वरूपसिद्धिके उदयके बाद देहत्याग होनेसे श्रीकृष्णकी

इच्छानुसार वस्तुसिद्धि होती है। इस प्रकारसे प्रसन्नमन होकर भगवद्भक्तियोगके क्रमसे मुक्तसङ्ग पुरुषोंको भगवत्-तत्त्वका विज्ञान प्राप्त होता है। नवम श्लोकमें जिस चित्-तत्त्व-विज्ञानके विषयमें कहा गया था, वह भगवत्-तत्त्वसे पृथक् है। उपास्य-तत्त्वमें ब्रह्म-प्रतीति प्रथम है, परमात्म-प्रतीति द्वितीय है, भगवत्-प्रतीति तृतीय है। ब्रह्म-प्रतीतिमें शान्तरसकी अधिकता होती है। भगवत्-प्रतीतिमें दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुररसका उदय होता है। यहाँ इस विषयकी केवल सूचनामात्र की गयी है।

भगवत्-तत्त्व-विज्ञानमें चतुःश्लोकी-भागवतमें उदित रसतत्त्वका लक्षण देखा जाता है। भाव या रति रसका स्थायीभाव है। उसमें विभाव, अनुभाव, सात्त्विक तथा व्यभिचारी भावोंका संयोग होनेपर प्रेमरस होता है। इसीका नाम भगवत्-तत्त्व-विज्ञान है। दशमस्कन्ध भागवत ही इस तत्त्वकी व्याख्या है। इसे आगे प्रकाशित किया जायेगा॥१२-१३॥

(श्रीमद्भा. १/२/२२)

अतो वै कवयो नित्यं भक्तिं परमया मुदा।
वासुदेवे भगवति कुर्वन्त्यात्मप्रसादनीम्॥१४॥

इस रसको प्राप्त करनेकी आशासे सभी बुद्धिमान कवि (आनन्दपूर्वक) पराभक्ति अर्थात् केवलाभक्तिके द्वारा वासुदेव भगवान्‌की आत्मप्रसादिनी अर्थात् साधनकी अवस्थामें भी आनन्दप्रदायिनी भक्तिका साधन किया करते हैं।

सुकृतिवशतः श्रद्धा, साधुसङ्ग, भजन-क्रिया, अनर्थनिवृत्ति, निष्ठा, रुचि, आसक्ति तथा भाव क्रमपूर्वक साधित होते हैं—यही वैधी साधनभक्तिकी प्रक्रिया है॥१४॥

अभी तक (उपरोक्त श्लोकोंमें) वैधीभक्ति प्रदर्शित की गयी है। किन्तु अब उस रागानुगा साधनभक्तिकी प्रक्रियाका प्रदर्शन किया जा रहा है, जिसका वैधी साधनभक्तिकी प्रक्रियासे कुछ-कुछ भेद है। श्रीमद्भा. ११/१२/८-९ में श्रीकृष्णने श्रीउद्धवसे कहा—

केवलेन हि भावेन गोप्यो गावो नगा मृगाः।
येऽन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामीयुरञ्जसा॥१५॥

यं न योगेन सांख्येन दानव्रततपोऽध्वरैः।
व्याख्यास्वाध्याय संन्यासैः प्राप्नुयाद् यत्नवानपि॥१६॥

भगवान्‌के नित्यसिद्ध रागात्मिक परिकर व्रजवासियोंकी श्रीकृष्णसेवाकी रीतिको देखकर भक्तिके साधकको उसे प्राप्त करनेके लिए जो लोभ उत्पन्न होता है, वही लोभ रागानुगाभक्तिका मूल है। लोभ होनेपर उसी भक्तका अनुकरण किया जाता है, जिसकी कृष्णसेवाको देखकर लोभ उत्पन्न हुआ था। रक्तक, पत्रक आदि श्रीकृष्णके बहुत प्रकारके दास हैं। श्रीदाम आदि श्रीकृष्णके अनेक सखा हैं। श्रीयशोदा, श्रीरोहिणी, श्रीनन्द और श्रीबलदेव आदि अनेक गुरुजन हैं। श्रीललिता, श्रीविशाखा और चन्द्रावली आदि श्रीकृष्णकी अनन्त प्रेयसियाँ हैं। किसी भी व्यक्तिको अपने बहुत जन्मोंकी सुकृतिके प्रभावसे व्रजके किसी भावभक्तका चरित्र श्रवणकर, उसकी जैसी कृष्णसेवाके लिए जो लोभ प्राप्त होता है, वह रागकी गन्धसे युक्त होता है। उस लोभके द्वारा उन व्रज भक्तोंका अनुसरण करते-करते साधनसिद्धि और भाव प्राप्ति होती है। इसीका नाम रागानुगसाधन है। रागानुगसाधनसे अल्पसमयमें ही भाव उदित होता है। साधनदशाके परिपक्व होनेपर सिद्धदशा प्राप्त होती है।

वैधीभक्तिके साधनसे श्रीनारदको चार मासमें सिद्धि प्राप्त हुई थी। किन्तु रागानुगसाधनमें अनेक महाजनोंको दर्शन तथा विचार करनेमात्रसे तत्काल ही भावोदय हुआ है।

पाँच प्रकारके रसोंमें मधुररस ही सर्वश्रेष्ठ है। हमारे जीवितेश्वर श्रीचैतन्यदेवने मधुररसके विषयका ही अधिक अनुमोदन किया है। इसलिए हम इसी मधुररसके भाव और प्रेम विषयक प्रसङ्गोंका ही वर्णन करेंगे।

अन्य सभी रसोंकी अपेक्षा इस ग्रन्थमें मधुररसकी अधिक आलोचना है। श्रीकृष्ण कहते हैं—हे उद्धव! केवल भावके द्वारा गोपियोंने, गायोंने, नग (यमलार्जुन आदि वृक्षों) ने, हिरणोंने, मूढ़बुद्धिवाले (कालिय आदि) नागोंने सिद्ध होकर मुझे प्राप्त किया है। इस प्रकारका फल अष्टाङ्गयोग, सांख्यज्ञान, दान, व्रत, तप, यज्ञ, व्याख्या, स्वाध्याय और संन्यासके द्वारा यत्न करनेपर भी किसीने कभी भी प्राप्त नहीं किया। गोपियोंमें जो साधनसिद्धा हैं, यहाँपर उन्हींके विषयमें बतलाया गया है॥१५-१६॥

साधनसिद्धा गोपियोंको मधुररसके द्वारा तथा नित्यसिद्धा गोपियोंके आनुगत्यके फलस्वरूप श्रीकृष्णकी प्राप्ति हुई है। श्रीमद्भा. ११/१२/१२-१३ में इसका इस प्रकार वर्णन है—

ता नाविदन् मय्यनुषङ्गबद्ध-धियः स्वमात्मानमदस्तथेदम्।
यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे॥१७॥

वे समस्त साधनसिद्धा गोपियाँ मुझमें आसक्त चित्त होनेके कारण अपनी पूर्व कथा और इस समय प्राप्त गोपीदेहका स्मरण नहीं कर सकीं। जब वे दण्डकारण्यके ऋषि थे, उस समय श्रीरामचन्द्रके कमनीय रूपको देखकर सम्भोगकी कामना करने लगे थे। उसी सुकृतिके फलस्वरूप उन्हें गोपीदेहकी प्राप्ति हुई। श्रुतियोंने भी उसी प्रकार (के भावसे) कृष्णपदकी कामना करके गोपगृहमें जन्म ग्रहण किया था। किन्हीं-किन्हीं देवियोंका भी ऐसा ही हुआ था। इस समय वे अपनी पूर्व देहको भूल गयीं तथा पति-भ्रातृवर्ग द्वारा घरोंमें रोक लिये जानेपर उपस्थित (वर्त्तमान) देहको भी भूल गयीं। मन-ही-मन सिद्धदेहसे सखियोंके अनुगत हुईं। इस विषयकी कोई तुलना ही नहीं है। अतएव समाधिमें ऋषि-मुनि जो दशा प्राप्त करते हैं, उससे किञ्चित् तुलनाकी जा सकती है। नदियाँ अपना नाम, रूप छोड़कर जिस प्रकार समुद्रमें मिल जाती हैं, उसी प्रकार अपने-अपने पूर्व नाम, रूपका त्यागकर उन साधनसिद्ध गोपियोंने नित्यसिद्ध गोपियोंके भोग्य रससमुद्रमें प्रवेश किया॥१७॥

मत्कामा रमणं जारमस्वरूपविदोऽबलाः।
ब्रह्म मां परमं प्रापुः सङ्गाच्छतसहस्रशः॥१८॥

देखो, श्रीकृष्णके प्रति काम (जारभाव) के द्वारा वस्तुतः परब्रह्मस्वरूप मुझमें अर्थात् कृष्णस्वरूपमें नित्यसिद्ध गोपियोंके सङ्गसे साधनसिद्ध अबलाओंने भी परकीयभावसे रमणस्वरूप मुझे प्राप्त किया था।

इस श्लोकके 'अस्वरूपविद्' शब्दका अर्थ पारकीय (जार) भावकी ओर ही इङ्गित करता है। मधुररसकी परम पुष्टिके लिए ही मेरी गोलोककी प्रेयसियोंकी मेरे प्रति नित्य ही परकीय बुद्धि रहती है। उस परकीय अभिमानसे नित्यपति श्रीकृष्णमें जारबुद्धि योगमाया द्वारा नित्यसिद्ध है। श्रीकृष्ण जगत्पति, गोलोकपति, गोपति, गोपीपति हैं, इसलिए उनमें जार पतिका भाव घटित होता ही नहीं है। किन्तु पारकीय बुद्धि गोपियोंका रससे उदित सिद्धधर्म है। महिषी तथा लक्ष्मीके रूपमें नित्य पतिबुद्धि होनेपर भी गोपी-स्वरूपमें परकीय बुद्धि अवश्यम्भावी है। श्रीकृष्णकी नित्य पत्नी होनेका ज्ञान स्वरूपज्ञान होनेपर भी रस माधुर्य अस्वरूप (परकीय) ज्ञान द्वारा लीलातत्त्वको अति रमणीय बनाता है। इसीलिए उन नित्यसिद्ध गोपियोंके अनुगत साधनसिद्धा गोपियोंका भी यह पारकीयभाव सम्पूर्ण रूपसे नित्य सिद्ध है॥१८॥

पारकीय भावनाकी श्रेष्ठता दिखायी गयी है। पारकीय भावनाकी गति भी वैधी-सिद्धि अर्थात् वैधीसे साधित गतिकी अपेक्षा श्रेष्ठ है। श्रीमद्भा. १०/२९/९-११ में श्रीशुकदेव गोस्वामी परीक्षित्से कहते हैं—

अन्तर्गृहगताः काश्चिद् गोप्योऽलब्धविनिर्गमाः।
कृष्णं तद्भावनायुक्ता दध्युर्मीलितलोचनाः॥१९॥

कोई-कोई गोपी घरसे बाहर ही नहीं निकल सकी, घरके भीतर ही नेत्र मूँद करके बड़ी तन्मयतासे श्रीकृष्णके सौन्दर्य, माधुर्य और क्रियाओंका ध्यान करने लगी॥१९॥

दुःसहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधूताशुभाः ।
ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीणमङ्गलाः ॥२०॥

अतिप्रिय श्रीकृष्णके दुःसहनीय विरहके तीव्र-तापसे उनके समस्त अशुभ धुल गये। ध्यान द्वारा प्राप्त श्रीकृष्णका आलिङ्गन करते हुए उन्होंने जिस आनन्दको प्राप्त किया, उसके द्वारा उनके समस्त पुण्य क्षीण हो गये॥२०॥

तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि सङ्गताः।
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः ॥२१॥

जारबुद्धि अर्थात् पारकीयबुद्धि द्वारा ध्यानमें परमात्माके अंशीरूप श्रीकृष्णका आलिङ्गन करते हुए शीघ्र ही उनका बन्धन खुल गया और उन्होंने गुणमय देहका परित्यागकर अप्राकृत देहसे श्रीकृष्णको प्राप्त कर लिया। यहाँपर व्रजमें जन्म प्राप्त करनेपर भी किस प्रकारसे उनका पाप-पुण्य और गुणमय देह था? इसकी मीमांसा यह है कि साधनकालमें स्वरूपदेहका आभास होनेपर भी गुणमय देह रहता है अर्थात् गुणमय देह तब तक रहता है, जब तक निर्गुण वस्तुसिद्धि नहीं हो जाती। वे-वे ऋषिगण, वे सब उपनिषदगण तथा देवियाँ साधनमय व्रजमें गोपीदेह प्राप्तकर भी साधनदेहमें थीं। भौमव्रजमें योगमायाके द्वारा स्वरूपकी प्रतीति होती है, वहाँ सिद्ध गोपियोंके अनुगत होकर भजन करते-करते रागात्मिका भावकी प्राप्ति होती हैं। उस रागात्मिक भावकी प्राप्तिके समय उन्होंने गौणदेहका परित्यागकर निर्गुण देहको प्राप्त किया। इसीको साधनसिद्धि कहते हैं। अप्रकट प्रकाशमें जो गोलोकीय व्रज वृन्दावन है, वहाँ सभी वस्तुसिद्ध है। उस नित्य गोलोककी प्रापञ्चिक प्रतीति ही यह भौमव्रज है। गोपियोंके अनुगत होकर रागानुगभक्त जहाँ भी भजन करते हैं, वहींपर भौमव्रजकी जननिष्ठ विशेष प्रतीति अर्थात् भौम व्रजमें वास करनेवालेके रूपमें प्रतीति रहती है। परन्तु साक्षात् भौमव्रजमें यह

प्रतीति साधारण-भक्त-निष्ठके रूपमें अर्थात् साधारण साधनसिद्ध होती है॥२१॥

श्रद्धा, अनर्थ-निवृत्ति, निष्ठा, रुचि तथा आसक्ति क्रमसे वैध साधनभक्तिकी जो गति अर्थात् भावकी प्राप्ति होती है, वही गति रागानुगभक्तिमें लोभके उदित होते ही प्राप्त हो जाती है। श्रीमद्भा. १०/२९/१४-१५ में इसीका वर्णन करते हुए श्रील शुकदेव गोस्वामी परीक्षित् महाराजसे कहते हैं—

नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप।
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः॥२२॥

भगवान् और उनकी नित्य लीलास्थली गोलोक-वृन्दावन आदि सभी कुछ अव्यय, अप्रमेय, निर्गुण तथा चिन्मय है।[१] कृष्णलीलाका प्रपञ्च-विजय अर्थात् इस जगत्में उदय केवल अधिकारी जीवोंके परम मङ्गलके लिए होता है। श्लोकमें प्रयुक्त 'व्यक्ति' शब्दका अर्थ केवल प्रपञ्चमें उदय होना है॥२२॥

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सोहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥२३॥

काम, क्रोध, भय, स्नेह, ऐक्य और सौहृद सदैव श्रीकृष्णमें नियुक्त करनेसे कृष्णलीलाके साथ तन्मयता प्राप्त होती है। तन्मयता तीन प्रकारकी होती है अर्थात् स्वरूपगत, गुणगत और लीलारसगत। क्रोध तथा भयके द्वारा स्वरूपगत तन्मयता होती है। कंस और शिशुपाल इसके उदाहरण हैं। मायावादी संन्यासी भी

---

[१] नित्य अनेक प्रकारसे अनेक भक्तोंको आत्मदान अर्थात् अपने आपको देनेपर भी उनका कुछ भी व्यय (कम) नहीं होता, इसलिए उन्हें 'अव्यय' कहा गया है। किन्तु यह कैसे सम्भव है? उसके लिए कह रहे हैं—'अप्रमेय', जो अपरिच्छिन्न है, जिनका परिमाण (नाप-तोल) कोई नहीं कर सकता, उनके तत्त्वको कौन जान सकता है? यह भावार्थ है। क्योंकि वे निर्गुण अर्थात् प्राकृत गुणसे रहित है, ऐसा होनेपर भी वे गुणात्मा अर्थात् स्वरूपभूत अखिल कल्याण गुणमय हैं। (श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर)

इसी स्वरूपगत तन्मयताको प्राप्त करते हैं। स्वरूपगत तन्मयतामें आत्माका लोप हो जाता है। "ये यथा मां प्रपद्यन्ते, तांस्तथैव भजाम्यहम्" भगवान्की इस प्रतिज्ञा द्वारा केवल चिन्मात्र सत्तानिष्ठ प्रपत्तिमें मायावादियोंको आसुरिक तन्मयताके साथ ऐक्य फलकी प्राप्ति होती है।

सौहृदभाव द्वारा गुणगत तन्मयता प्राप्त होती है। उस समय भक्त ऐकान्तिक रूपमें श्रीकृष्णमें तन्मय रहता है। कृष्णगुणगत होकर भक्त दास्य, सख्य और वात्सल्य प्रेममें मग्न रहता है।

कामके द्वारा ही लीलागत तन्मयता आती है। यही गोपियोंके अनुगत भक्तोंका प्राप्य अर्थात् साध्य है॥२३॥

दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर आदि रस पृथक्-पृथक् रागानुग साधनभक्तिसे उदित होते हैं। रस-सम्बन्धित ज्ञान भावके सङ्गसे उदित होता है। व्रजजनोंके पृथक्-पृथक् रागके दर्शन द्वारा जो लोभ उत्पन्न होता है, भावको उदय करानेका प्रबल उपाय होनेके कारण यही लोभ ही बादमें भावको उदित कराता है। श्रीमद्भा. ११/३/३२ में योगीश्वर प्रबुद्ध राजा निमिको भावके लक्षण बतलाते हुए कहते हैं—

क्वचिद् रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचित्
हसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः।
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं
भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः॥२४॥

कृष्णलीलाका चिन्तन करके भक्त कभी-कभी मुग्ध होकर रोदन करने लगता है। कभी-कभी उस लीलाकी अचिन्त्यता पर विचार करके हँसने लगता है। कभी-कभी आश्चर्यान्वित होकर आनन्द प्रकाश करने लगता है। कृष्णानुशीलन करते हुए वह कभी नृत्य करता है, कभी गान करने लगता है। कभी विस्मित होकर कृष्णके संस्पर्शसे आनन्दको प्राप्त करके स्तम्भित हो जाता है। इन सब विकारोंको अष्टसात्त्विक विकार कहा जाता है। प्रेमी भक्तकी मुद्रा (कार्य तथा व्यवहार) सुदुर्गम है। वह कभी-कभी

अलौकिक बातें करने लगते हैं, जिन्हें संसारी पण्डिताभिमानी व्यक्ति समझ नहीं सकते॥२४॥

भावभक्तिकी अवस्थामें प्रेमके लक्षण स्वरूप सात्त्विक विकारसमूह स्वल्पमात्रामें ही भक्तोंमें लक्षित होते हैं। श्रद्धासे आरम्भ करके आसक्ति तक भक्ति 'अभिधेय-तत्त्व' के अन्तर्गत आती है। भावभक्ति प्रेमाभक्तिकी प्रथमावस्था है। यहाँ प्रेम और भावका वर्णन केवल अभिधेयकी परिष्कृति अर्थात् अभिधेय-तत्त्वको सुस्पष्ट रूपसे वर्णन करनेके लिए प्रदर्शित हुआ है। श्रीमद्भा. ११/२/३९-४० में स्पष्ट रूपसे भावके लक्षण बतलाते हुए श्रीकवि निमिसे कह रहे हैं—

शृण्वन् सुभद्राणि रथाङ्गपाणे-
र्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके।
गीतानि नामानि तदर्थकानि
गायन् विलज्जो विचरेदसङ्गः॥२५॥

भावुक भक्त श्रीकृष्णकी मङ्गलमयी लीलाकथाओंका श्रवण करके उनके जन्म, कर्म और लौकिक चेष्टाओं तथा उन-उन लीलामय सुगीत 'मधुसूदन', 'मुरारि' जैसे नामोंको लज्जारहित होकर गान करते-करते सङ्गहीन होकर (अर्थात् संसारिक सङ्गसे रहित वैष्णव सङ्गमें) विचरण करते हैं। ऐसी अवस्थामें उनके हृदयमें स्वल्पमात्रामें विकार तथा पुलकाश्रु होते हैं, क्योंकि भाव ही प्रेमकी प्रथम अभिव्यक्ति है॥२५॥

एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥२६॥

इस प्रकार अपने प्रिय श्रीकृष्णके नामोंका गान करते-करते उनके हृदयमें अनुराग उदित हो जानेपर उनका चित्त द्रवित हो जाता है तथा ऐसे द्रवित चित्तसे वे उच्च स्वरसे हास्य करते हैं,

रोदन करते हैं, चीत्कार करते हैं और लोकापेक्षा नहीं रखते (अर्थात् यह चिन्ता नहीं करते कि कौन क्या कहेगा?)॥२६॥

श्रीप्रह्लादके चरित्रमें भावदशाके लक्षण। यथा श्रीमद्भा. ७/४/३६-३७ में श्रीशुकदेव गोस्वामी परीक्षित्से कहते हैं—

गुणैरलमसंख्येयैर्माहात्म्यं तस्य सूच्यते।
वासुदेवे भगवति यस्य नैसर्गिकी रतिः॥२७॥

वासुदेव श्रीकृष्णमें जिनकी स्वाभाविक रति हुई थी, उन प्रह्लादका असंख्य गुणों द्वारा माहात्म्य सूचित होता है॥२७॥

न्यस्तक्रीडनको बालो जडवत् तन्मनस्तया।
कृष्णग्रहगृहीतात्मा न वेद जगदीदृशम्॥२८॥

प्रह्लादने बालक होनेपर भी खेलना छोड़ दिया था। श्रीकृष्णका ध्यान करनेके कारण संसारमें रहते हुए भी उन्होंने जड़वत् भाव धारण किया था। कृष्णग्रह गृहीत मन[१] वह बालक ऐसे (कृष्णेतर प्रतीतिमय व्यवहारिक) जगत्के विषयमें कुछ भी अनुभव नहीं करते थे (अर्थात् भगवान् श्रीकृष्णके अनुग्रह रूप ग्रहने उनके हृदयको इस प्रकार आकर्षित कर लिया था कि उन्हें जगत्की कुछ सुध-बुध ही नहीं रहती थी)॥२८॥

(श्रीमद्भा. ७/४/३९-४२)

क्वचिद् रुदति वैकुण्ठचिन्ताशबलचेतनः।
क्वचिद्धसति तच्चिन्ताह्लाद उद्गायति क्वचित्॥२९॥

---

[१] श्रीप्रह्लाद महाराजने अनन्य भक्तोंके समान अपने मनको श्रीकृष्णके प्रति अर्पित नहीं किया, किन्तु कोई ग्रह (मगरमच्छ) जैसे लोभनीय वस्तुको ग्रहण करता है, उसी प्रकार श्रीकृष्णने ही उनके मनको ग्रहण किया था अर्थात् श्रीकृष्णरूपी ग्रहने ही उनके मनको आकर्षित किया था। इसलिए उन्हें कृष्णग्रह ग्रहीत मन कहा गया है। (श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर)

वैकुण्ठ चिन्ताकी विचित्रता अर्थात् समय-समयपर भगवान्‌की अनेकानेक लीलाओंकी स्फूर्ति होनेसे श्रीप्रह्लाद कभी तो रोने लगते और कभी हँसने लगते तथा कभी श्रीकृष्णकी चिन्तामें आह्लादित होकर उच्च स्वरसे गान करने लगते॥२९॥

नदति क्वचिदुत्कण्ठो विलज्जो नृत्यति क्वचित्।
क्वचित् तद्भावनायुक्तस्तन्मयोऽनुचकार ह॥३०॥

वे कभी-कभी चीत्कार करने लगते, कभी लज्जाका त्याग करके नृत्य करते और कभी-कभी श्रीकृष्ण भावनामें तन्मय होकर श्रीकृष्णका ही अनुकरण करने लगते। यह अवस्था प्रेमके अधिरूढ़ भावका बीजस्वरूप है॥३०॥

क्वचिदुत्पुलकस्तूष्णीमास्ते संस्पर्शनिर्वृतः।
अस्पन्दप्रणयानन्दसलीलामीलितेक्षणः ॥३१॥

कभी-कभी रोमाञ्चित होकर स्तम्भित हो जाते। कभी-कभी ध्यानमें संस्पर्श पाकर आनन्दित होते और कभी स्पन्दनहीन होकर प्रणयानन्दकी धारामें प्रवाहित होनेपर नेत्र बन्द कर लेते॥३१॥

स उत्तमःश्लोकपदारविन्दयोर्निषेवयाऽकिञ्चनसङ्गलब्धया।
तन्वन् परां निर्वृतिमात्मनो मुहुर्दुःसङ्गदीनस्य मनः शमं व्यधात्॥३२॥

अकिञ्चन भक्तोंके सङ्गसे प्राप्त श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी भाव-सेवा द्वारा परम-आत्मानन्दके विस्तारसे उन्होंने ऐसे व्यक्तियोंके मनको भी भगवन्निष्ठ शान्ति-गुणसे परिपूर्ण कर दिया था, जो अपने पूर्व-पूर्व जन्मोंमें किये हुए दुसङ्गके कारण अत्यन्त दीन-हीन अवस्थावाले थे॥३२॥

भावभक्ति दुर्लभ है। श्रीमद्भा. ६/१४/२ में महाराज परीक्षित् श्रीशुकदेवसे कहते हैं—

देवानां शुद्धसत्त्वानामृषीणां चामलात्मनाम्।
भक्तिर्मुकुन्दचरणे न प्रायेणोपजायते॥३३॥

अनेक साधन करनेपर भी भावभक्तिको प्राप्त नहीं किया जा सकता। यहाँ तक कि सत्त्व-शोधित (शुद्धसत्त्वमय) देवताओंकी और योग द्वारा निर्मल मनवाले ऋषियोंकी भी श्रीमुकुन्दके श्रीचरणोंमें भावभक्ति नहीं होती है। व्रज-रागानुगाभक्ति केवल व्रजवासियोंके अनुगत होनेपर ही हो सकती है। दण्डकारण्यवासी ऋषियोंके चरितमें ऐसा देखा गया है, इसीलिए श्लोकमें 'प्राय' शब्दका व्यवहार हुआ है। अधिकांश ऋषियों और देवताओंका चित्त योगादि द्वारा शुष्क हो जाता है॥३३॥

भावुक भक्तोंकी रुचिके विषयमें बताते हुए सनत्कुमार श्रीमद्भा. ४/२२/२३ में पृथु महाराजसे कहते हैं—

अर्थेन्द्रियाराम-सगोष्ठ्यतृष्णया तत्सम्मतानामपरिग्रहेण च।
विविक्तरुच्या परितोष आत्मनि विना हरेर्गुणपीयूषपानात्॥३४॥

इति श्रीमद्भागवतार्कमरीचिमालायां अभिधेयतत्त्वप्रकरणे भावोदयक्रमविचारो नाम षोडशः किरणः॥

भाव द्वारा वशीभूत चित्तवाले पुरुष अपनी इन्द्रियों, आराम (इन्द्रियोंको सुख पहुँचानेवाली वस्तुओं) तथा घरसे सम्बन्धित चर्चाओंके प्रति स्वभावतः तृष्णा रहित होते है। विषयी लोगोंका सङ्ग उन्हें अच्छा नहीं लगता। विषयीका अर्थ (धन) अल्पमात्रामें भी ग्रहण करना उन्हें रुचिकर नहीं लगता। विविक्त अर्थात् निर्जनमें हरिके गुणरूपी अमृतके पानके अतिरिक्त और किसी भी वस्तुसे उनकी आत्माको सन्तोष नहीं होता। क्षान्ति[१], अव्यर्थकालत्व[२], विरक्ति, मानशून्यता, कृष्ण-प्राप्तिकी आशा, समुत्कण्ठा, सदा नामगानमें रुचि, कृष्ण-गुणाख्यानमें आसक्ति, कृष्णधाममें ही

---

[१] क्रोधका कारण उपस्थित होनेपर भी क्रोध न करना क्षान्ति कहलाता है।

[२] कृष्ण सेवाके अतिरिक्त एक मुहूर्त्तको भी व्यर्थके कार्योंमें नहीं लगाना अव्यर्थकालत्व कहलाता है।

रहनेकी वासना—इस प्रकारके सभी अनुभव (लक्षण) भावुक-जीवनमें अवश्य उदित होते हैं॥३४॥

षोडश किरणकी 'मरीचिप्रभा' नामक गौड़ीय-व्याख्याका भावानुवाद समाप्त॥

सप्तदश किरण

प्रयोजनतत्त्वका विचार

भोगं मोक्षं प्रतिष्ठाञ्च हित्वा प्रीतिसमाश्रयम्।
गौरपादाश्रयाद्यस्य वन्दे तं लोकनाथकम्॥

मैं उन श्रीलोकनाथ गोस्वामीकी वन्दना करता हूँ, जिन्होंने श्रीगौराङ्ग महाप्रभुके चरणकमलोंका आश्रय लेनेके फलस्वरूप जिन्होंने भोग, मोक्ष और प्रतिष्ठासे सम्बन्धित समस्त कामनाओंका परित्याग करके (केवलमात्र) भगवत्-प्रीतिका भलीभाँति आश्रय किया था।

श्रीकृष्णचैतन्यचन्द्राय नमः

(प्रयोजन प्रकरण)

धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष जीवनके प्रयोजन नहीं हैं। श्रीमद्भा. ३/४/१५ में उद्धव भगवान् श्रीकृष्णसे कहते हैं—

कोन्वीश ते पादसरोजभाजां सुदुर्लभोऽर्थेषु चतुर्ष्वपीह।
तथापि नाहं प्रवृणोमि भूमन् भवत्पदाम्भोजनिषेवणोत्सुकः॥१॥

जैवजगत्, जड़जगत्, चित्-जगत् तथा साक्षात् श्रीकृष्णके बीचमें जो नित्य सम्बन्ध है, उसके ज्ञानको ही सम्बन्धज्ञान कहते हैं। दशम किरणके अन्त तक वही सम्बन्धज्ञान प्रदर्शित हुआ है। जीव कृष्णदास है, सम्बन्धज्ञानके द्वारा ऐसा जान लेनेपर उसके लिए जो शास्त्रनिर्दिष्ट कर्त्तव्य-कर्म हैं, उनके अनुष्ठानका नाम अभिधेयतत्त्व है। एकादश किरणसे लेकर षोड़श किरण तक अभिधेयतत्त्व विचारित एवं प्रदर्शित हुआ है। उसी कर्त्तव्यानुष्ठानके द्वारा जो चरम फल प्राप्त होता है, उसे प्रयोजन कहा जाता है। इस सप्तदश (सत्रहवीं) किरणमें उसी प्रयोजनतत्त्वका निरूपण किया जा रहा है। कर्मी लोग त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) से उत्पन्न सुखको प्रयोजन कहते हैं। ज्ञानाभिमानी व्यक्ति चतुर्थ वर्गमें जो मोक्ष है, उसीको प्रयोजन कहते हैं। किन्तु शुद्ध भक्तोंका कथन इस प्रकार है—हे ईश! आपके श्रीचरणकमलोंकी सेवा करनेवाले भक्तोंके लिए धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारोंमेंसे कुछ भी दुर्लभ नहीं है। तथापि हे भूमन् (विभो)! आपके श्रीचरणकमलोंके सेवा-सुखके अतिरिक्त मैं और कुछ भी नहीं चाहता हूँ॥१॥

श्रीमद्भा. ३/५/२ में श्रीविदुर मैत्रेयसे कहते हैं—

सुखाय कर्माणि करोति लोको न तैः सुखं वान्यदुपारमं वा।
विन्देत भूयस्तत एव दुःखं यदत्र युक्तं भगवान् वदेन्नः॥२॥

सुख प्राप्त करनेके लिए सभी व्यस्त रहते हैं। वे सुखके लिए जो कुछ भी करते हैं, उससे सुख नहीं मिलता। उन-उन

चेष्टाओंके द्वारा, बाधारहित होनेपर कुछ परिमाणमें दुःखकी निवृत्तिमात्र होती है, किन्तु पुनः उसमें भी किसी-न-किसी अन्य प्रकारका दुःख उदित हो जाता है। अतएव इस विषयमें मेरे लिए जो उपयुक्त हो, वही बतलाइये। तात्पर्य यह है कि यद्यपि सुख ही प्रयोजन है, किन्तु जड़ीय देहसुख अथवा वासनासुख वास्तवमें नित्य सुख नहीं है। चित्-सुख ही सुख है। वही प्रयोजन है। आत्यन्तिक मोक्ष अर्थात् आत्यन्तिक दुःख-निवृत्तिमें भी किसी प्रकारका सुख नहीं है। इसलिए नित्य सुखरूप प्रयोजनके ज्ञान द्वारा सम्बन्धज्ञानकी पुष्टि तथा अभिधेय-आचरणकी दृढ़ता तथा शुद्धता होती है॥२॥

यदि किसी कर्ममें सुख नहीं है तथा दुःखका सम्पूर्ण नाश भी नहीं है, तो ब्रह्मके साथ एकात्मतारूप आत्महत्या क्या उचित है? इसीके उत्तरमें श्रीमद्भा. ३/२५/३४ में भगवान् कपिलदेव माता देवहूतिसे कहते हैं—

नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचित्—मत्पादसेवाभिरता मदीहाः।
येऽन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य सभाजयन्ते मम पौरुषाणि॥३॥

नहीं, साधुजन मुझसे सायुज्यकी अर्थात् मुझसे मिलकर एक हो जानेकी प्रार्थना कदापि नहीं करते, क्योंकि वे मेरे श्रीचरणकमलोंकी सेवासे उत्पन्न सुखकी ही कामना करते हैं। वे मेरी सेवा-चेष्टाके द्वारा परमानन्दको प्राप्त करते हैं तथा समस्त दुःखोंसे अनायास ही छुटकारा प्राप्त कर लेते हैं। वे परस्पर मेरी वीर्यवती लीलाकथाओंका श्रवण और कीर्त्तन करते रहते हैं, जिससे उन्हें एक प्रकारके अत्यन्त तीव्र सुखकी प्राप्ति होती है। ऐसा करनेसे उन्हें किस प्रकारके सुखकी प्राप्ति होती है, उसे प्राकृत लोग नहीं समझ सकते हैं॥३॥

(श्रीमद्भा. ३/२९/१३)

सालोक्य सार्ष्टि सामीप्य सारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥४॥

सायुज्यको छोड़कर अन्य जो चार प्रकारकी मुक्तियाँ हैं, भक्त क्या उसे प्राप्त करनेकी इच्छा करते हैं? नहीं, मेरे द्वारा उन्हें सालोक्य, सार्ष्टि, सारूप्य और सामीप्य देनेकी इच्छा करनेपर भी वे मेरी सेवाको छोड़कर और कुछ भी लेना नहीं चाहते। सायुज्य मेरी सेवाका अत्यन्त विरोधी है, अतएव मेरे भक्तोंकी इसके प्रति अत्यन्त तुच्छ बुद्धि होती है अर्थात् वे इसे घृणित मानते हैं। अन्य प्रकारकी मुक्तियोंमेंसे जिनमें केवल मेरी सेवा है, वे उसीको ही ग्रहण करते हैं॥४॥

श्रीमद्भा. ४/२०/२४ में पृथु महाराज भगवान्से प्रार्थना करते हुए कहते हैं—

न कामये नाथ तदप्यहं क्वचित्–
न यत्र युष्मच्चरणाम्बुजासवः।
महत्तमान्तर्हृदयान्मुखच्युतो
विधत्स्व कर्णायुतमेष मे वरः॥५॥

हे नाथ! मैं ऐसी किसी वस्तुकी कभी भी कामना नहीं करता, जिसमें आपके श्रीचरणकमलोंका आसव (मकरन्द) नहीं है। आप तो मुझे महत्–व्यक्तियोंके हृदयसे उनके मुख द्वारा निर्गत आपके गुणगानको सुनने योग्य अयुत (दस हजार) कान दे दीजिये, क्योंकि आपका यश श्रवण करनेसे मुझे परमानन्दकी प्राप्ति होती है॥५॥

श्रीमद्भा. ५/१४/४४ में श्रीऋषभदेवके माहात्म्य–वर्णनके प्रसङ्गमें कहा गया है कि—

यो दुस्त्यजान् क्षितिसुतस्वजनार्थदारान्
प्रार्थ्यां श्रियं सुरवरैः सदयावलोकाम्।
नैच्छन्नृपस्तदुचितं महतां मधुद्विट्–
सेवानुरक्तमनसामभवोऽपि फल्गुः॥६॥

कोई–कोई दार्शनिक पण्डित मायासे मोहित होकर जरा–मरणसे रहित अपुनर्भव (मुक्ति) को आत्यन्तिक (सम्पूर्ण) कल्याण मान

लेते हैं, किन्तु वह भी निःश्रेय (कल्याणकारी) नहीं है। भरत राजाने दुस्त्यज साम्राज्य, पुत्र, स्वजन, धन, पत्नी तथा इन्द्र आदि द्वारा प्रार्थनीय दयादृष्टियुक्त श्रीलक्ष्मीकी भी इच्छा नहीं की। यह उनके लिए सचमुच उचित ही था, क्योंकि कृष्णसेवामें अनुरक्त चित्तवाले महत्-पुरुषोंके लिए यह सब अति तुच्छ है। उन्हें अपुनर्भव (मुक्ति) निरर्थक बोध होता है॥६॥

कोई-कोई कहते हैं कि जिनमें क्षमता है, वे ऐहिक (इस मर्त्यलोक) और स्वर्गीय सुखका भोग करें और कोई-कोई कहते हैं कि योगसिद्धि ही जीवका प्रयोजन है। निम्नलिखित कुछेक श्लोकोंमें इस प्रकारकी वाचालताओंकी निवृत्तिके सम्बन्धमें बताया जा रहा है। श्रीमद्भा. ६/११/२५ में वृत्रासुर भगवान्से कहते हैं—

न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे॥७॥

हे समदर्शी! मैं नाकपृष्ठ[१] (ध्रुवलोक) नहीं चाहता, केवल यही नहीं, स्वर्गलोक, महर्लोक, जनलोक, तपोलोक, सत्यलोक तथा पारमेष्ठ्य पदरूप ब्रह्मलोकको भी नहीं चाहता। मैं पृथ्वीका सार्वभौम पद तथा रसातलका आधिपत्य भी नहीं चाहता। मैं तो केवल आपकी सेवा चाहता हूँ॥७॥

श्रीमद्भा. ९/४/६७ में भगवान् दुर्वासा ऋषिसे कहते हैं—

मत्सेवया प्रतीतं ते सालोक्यादिचतुष्टयम्।
नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत् कालविप्लुतम्॥८॥

---

[१] यद्यपि नाकपृष्ठका साधारण अर्थ स्वर्गलोक ही किया जाता है, तथापि कहीं-कहींपर टीकाओंमें इसका अर्थ ध्रुवलोक भी मिलता है। हमने गौड़ीय व्याख्याकी सङ्गति बैठाते हुए भिन्न-भिन्न स्थानोंपर इन दोनों अर्थोंको ही स्वीकार किया है।

मेरी सेवामें सर्वोत्कृष्ट अमिश्र चित्-सुखकी प्राप्ति होती है। उसका परित्याग करके भक्तजन सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य तथा सार्ष्टिरूप चारों मुक्तियोंके उपस्थित होनेपर भी उन्हें लेनेकी इच्छा नहीं करते, तब फिर नाकपृष्ठ (स्वर्गलोक) पारमेष्ठ्यपद (ब्रह्मलोक) और योगसिद्धिरूप काल-विप्लुत (समयके परिवर्तनसे नश्वर) अस्थायी सुखकी तो बात ही क्या?॥८॥

पुनः-पुनः उसी बातको कहकर सत्यताकी दृढ़ता प्रदर्शित की जा रही है। नागपत्नियाँ (श्रीमद्भा. १०/१६/३७ में) भगवान् श्रीकृष्णसे कहती हैं—

न नाकपृष्ठं न च सार्वभौमं
न पारमेष्ठ्यं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
वाञ्छन्ति यत्पादरजः प्रपन्नाः॥९॥

आपकी चरणरजमें शरणागत व्यक्ति नाकपृष्ठ (स्वर्गलोक), सार्वभौमपद, पारमेष्ठ्यपद, रसातलका आधिपत्य, योगसिद्धि तथा अपुनर्भव (मोक्ष) को ग्रहण करने की कभी भी इच्छा नहीं करते॥९॥

श्रीमद्भा. ११/२०/३४ में श्रीकृष्ण उद्धवसे कहते हैं—

न किञ्चित् साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम।
वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम्॥१०क॥

एकान्तिक भक्त साधुजन धीरपुरुष होते हैं। मैं यदि उन्हें अपुनर्भव (आवागमनरहित मोक्ष) रूप कैवल्य प्रदान करना भी चाहूँ, तो भी वे उसे लेना नहीं चाहते॥१०क॥

श्रीमद्भा. २/१०/१-७ में मुक्तिके स्वरूपको बतलाने हेतु भागवतकी विचार-प्रणालीका प्रदर्शन करते हुए श्रीशुकदेव गोस्वामीने भागवतके दस लक्षणोंका इस प्रकार वर्णन किया—

अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः।
मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः॥१०ख॥

दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानामिह लक्षणम्।
वर्णयन्ति महात्मानः श्रुतेनार्थेन चाञ्जसा॥१०ग॥

भूतमात्रेन्द्रियधियां जन्म सर्ग उदाहृतः।
ब्रह्मणो गुणवैषम्याद् विसर्गः पौरुषः स्मृतः॥१०घ॥

स्थितिर्वैकुण्ठविजयः पोषणं तदनुग्रहः।
मन्वन्तराणि सद्धर्म ऊतयः कर्मवासनाः॥१०ङ॥

अवतारानुचरितं हरेश्चास्यानुवर्तिनाम्।
पुंसामीशकथाः प्रोक्ता नानाख्यानोपबृंहिताः॥१०च॥

निरोधोऽस्यानुशयनमात्मनः सह शक्तिभिः।
मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः॥१०छ॥

आभासश्च निरोधश्च यतोऽस्त्यध्यवसीयते।
स आश्रयः परं ब्रह्म परमात्मेति शब्द्यते॥१०ज॥

श्रीमद्भागवतमें सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊति, मन्वन्तरकथा, ईशकथा, निरोध, मुक्ति तथा आश्रय—इन दस विषयोंका वर्णन किया गया है। आश्रयतत्त्वको विस्तारसे समझानेके लिए महात्मागण वेदशास्त्रादिमें लिखित वचनोंके द्वारा मूलतत्त्वको दिखलाकर उसका वर्णन करते हैं। (आकाश आदि) पञ्चभूत, (शब्द, स्पर्श आदि) पञ्चतन्मात्रा, दस इन्द्रियाँ तथा बुद्धि, मन और अहङ्कार (तथा महतत्त्व और प्रकृति)—इन पच्चीस तत्त्वोंके जन्मका नाम अपौरुषेय **सर्ग** है। गुण-वैषम्य द्वारा ब्रह्माके द्वारा रचित जो सृष्टि है, वही पौरुष सृष्टि अर्थात् **विसर्ग** कहलाती है। प्रापञ्चिक जगत्में साक्षात् भगवान्की विष्णु रूपमें विजय (आविर्भाव) का नाम वैकुण्ठ विजय अर्थात् **स्थान** है। जगत्-पालन क्रियामें विष्णुका जो अनुग्रह है, वही **पोषण** है। महत्-जनोंके इतिहासमें

सद्धर्मका जो वर्णन है, उसीको **मन्वन्तरकथा** कहते हैं। जीवकी कर्मवासना पूर्ति रूप भगवान्‌की लीलाका नाम **ऊति** है। भगवत्-अवतारका चरित तथा भक्तोंकी भक्तिका चरित ही **ईशकथा** है। विभिन्न आख्यानों (उपाख्यानों) के द्वारा यह ईशकथा परिपुष्ट हुई है। परमात्मारूप विष्णुका समस्त शक्तियोंके साथ अनुशयन करनेका नाम **निरोध** है। जीवकी अविद्या द्वारा अन्यथारूप परित्यागपूर्वक स्वस्वरूपमें पुनः जो व्यवस्थिति होती है, उसका नाम **मुक्ति** है। ये नौ विषय जिनके द्वारा उदित होते हैं तथा स्थिर रहते हैं, वही पुरुष परमब्रह्म और परमात्मा नामसे परिचित स्वयं भगवान् हैं। वे ही एकमात्र **आश्रयतत्त्व** हैं। इस सिद्धान्तके द्वारा यह जाना गया कि जीवकी मुक्ति एक अवश्यम्भावी तथा अवान्तर (गौण) फल है, किन्तु आश्रयकी प्राप्ति ही चरम नित्य फल है॥१०॥

मेरी प्रीति ही प्रयोजन है। इसीका तात्पर्य बतलाते हुए भगवान् श्रीमद्भा. ३/९/४१-४२ में ब्रह्मासे कहते हैं—

पूर्तेन तपसा यज्ञैर्दानैर्योगैः समाधिना।
राद्धं निःश्रेयसं पुंसां मत्प्रीतिस्तत्त्वविन्मतम्॥११॥

तत्त्वज्ञानी पण्डितोंने यह निश्चित किया है कि प्रीति ही जीवका प्रयोजन है। प्रीतिके लिए मानव अपना जीवन तक विसर्जित कर देते हैं। प्रीति ही मधु है। प्रीति श्रीकृष्ण विषयक होनेपर अत्यन्त उत्कृष्ट और इतर (कृष्णके अतिरिक्त अन्य) विषयक होनेपर अत्यन्त हेय होती है। इसलिए पूर्त्त (सरोवर, कुएँ आदि का खनन), तपस्या, यज्ञ, दान आदि समस्त शुभकर्मोंका, अष्टाङ्गयोग तथा ब्रह्मज्ञान-समाधि जैसी समस्त श्रेयकारी चेष्टाओंका चरम फल भगवत्-प्रीति ही बतलाया गया है। वही जीवोंके लिए शास्त्रके अभिधेयका पालन करनेका एकान्त मङ्गलमय नित्य फल है॥११॥

अहमात्मात्मनां धातः प्रेष्ठः सन् प्रेयसामपि।
अतो मयि रतिं कुर्याद् देहादियेत्कृते प्रियः॥१२॥

हे ब्रह्मन्! मैं (कृष्ण) समस्त आत्माओंका आत्मा हूँ। जीवात्माकी जितनी प्रिय वस्तुएँ हो सकती हैं, उन सबमें मैं ही सबसे अधिक प्रिय हूँ। मैं आत्माका आत्मा हूँ। मेरे कारण ही देहादि पर्यन्त सब प्रिय हुए हैं। अतएव सभीको मुझमें ही रति करनी चाहिये॥१२॥

श्रीमद्भा. ४/२९/५१ में श्रीनारद प्राचीनबर्हि राजासे कहते हैं—

स वै प्रियतमश्चात्मा यतो न भयमन्वपि।
इति वेद स वै विद्वान् यो विद्वान् स गुरुर्हरिः॥१३॥

वे श्रीहरि ही प्रियतम आत्मा हैं। उनका भजन स्वाभाविक है। इसलिए उसमें किसी भी प्रकारके भयका कारण नहीं है। कृष्णप्रेम सूर्य है तथा भक्त उस सूर्यकी आश्रित किरणमें उपस्थित परमाणु सदृश हैं। इनका परस्परका सम्बन्ध अति घनिष्ठ है। जो इस तत्त्वको जानता है, वही विद्वान होनेके कारण गुरुपदवाची है॥१३॥

श्रीमद्भा. ९/४/६६ में मधुर प्रीतिके विषयमें भगवान् दुर्वासासे कहते हैं—

मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः।
वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा॥१४॥

मधुर व्रजरस–भजनमें ही सर्वश्रेष्ठ प्रीतिभाव है। मुझमें निर्बद्ध हृदय (मेरे अनन्य प्रेमी) साधु समदर्शी होते हैं। प्रीति द्वारा निर्बद्ध हृदयमें भक्त मुझे आश्चर्यजनक रूपसे वशीभूत कर लेते हैं। सत्–स्त्री जिस प्रकार सत्–पतिको वशमें कर लेती है, उसी प्रकार मधुररसके भक्त मुझे निरन्तर वशीभूत करते हैं। कृष्णप्रेम अतुलनीय तथा प्रकृतिसे अतीत तत्त्व है॥१४॥

श्रीमद्भा. ७/५/१४ में एक सामान्य उदाहरणके द्वारा कृष्ण–प्रीतिका स्वरूप लक्षण बतलाते हुए प्रह्लाद शण्डामर्कसे कहते हैं—

यथा भ्राम्यत्ययो ब्रह्मन् स्वयमाकर्षसन्निधौ।
तथा मे भिद्यते चेतश्चक्रपाणेर्यदृच्छया॥१५॥

हे ब्रह्मन्! लोहा जिस प्रकार चुम्बकके चारों ओर घूमनेपर भी वास्तवमें चुम्बककी आकर्षण शक्ति द्वारा उसे लक्ष्य करके ही धावित होता है, उसी प्रकार भक्त और श्रीकृष्णके बीच भी परस्पर प्रीतिका लक्षण जानना चाहिये (अर्थात् अपनी स्वाभाविक शक्तिसे चुम्बक जिस प्रकार लोहेको आकर्षण करके अपने साथ जोड़ लेता है, उसी प्रकार भगवान् चक्रपाणि भी कृपापरवशता रूपी अपनी स्वाभाविक शक्ति द्वारा भक्तके चित्तको आकर्षित कर लेते हैं)। जिस प्रकार लोहे और चुम्बकमें औत्पत्तिकी (जन्मजात अर्थात् एक का आकर्षित करनेका तथा दूसरेका आकर्षित होनेका) धर्म है, उसी प्रकार भक्त और श्रीकृष्णका परस्पर आकर्षण स्वाभाविक धर्म है। जीवात्माके गठनमें यह धर्म अनुस्यूत है (अर्थात् जीवमें यह धर्म पहलेसे ही ओत–प्रोत है।) दोनोंके बीचमें अविद्याके उपस्थित होनेपर ही इस धर्मकी क्रिया बाधित होती है। जीवका स्वाभाविक प्रीतिधर्म सत्यविषयको न पाकर इतर विषयमें लगकर विकृत हो जाता है। अतः अभिधेयके अनुष्ठान द्वारा अविद्यारूप प्रतिबन्धक दूर होनेपर जीव तथा श्रीकृष्णका जो नित्यधर्म लुप्तप्रायः था, वह पुनः सहज रूपसे क्रियावान् हो उठता है॥१५॥

यह प्रीतिधर्म प्रतिबन्धकरहित होनेपर किस प्रकारसे हठात् क्रियावान हो उठता है, उसका एक उदाहरण चतुःसन–चरित में देखा जाता है। यथा, श्रीमद्भा. ३/१५/४३ में—

तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्द–
किञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्दवायुः ।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां
संक्षोभमक्षर जुषामपि चित्ततन्वोः॥१६॥

चतुःसन बहुत समयसे ज्ञानमार्गमें भ्रमण कर रहे थे। वे निराकार तथा निर्विशेष ब्रह्मके चिन्तनमें मग्न रहा करते थे। किसी समय किसी भक्तसङ्गरूप सुकृतिके बलसे दैवात् वे वैकुण्ठमें पहुँच गये। वहाँ भगवत्-अर्पित तुलसीका सेवनकर उनकी अति-विद्यारूप मायाका प्रतिबन्धक दूर हो गया। अति-विद्या अविद्याका ही भावान्तर है, ऐसा ईशोपनिषदमें कहा गया है। इस प्रतिबन्धकके दूर होनेपर उन्हें श्रीभगवान्का सविशेष स्वरूप दिखायी दिया और हठात् उन्हें प्रेम प्राप्त हो गया। कमलनयन भगवान्के चरणकमल-किञ्जल अर्थात् केशरके समान सफेद और अरुण कान्तियुक्त अगुँलियोंसे लगी हुई (भक्तों द्वारा अर्पित) तुलसीसे स्पृष्ट-मकरन्द-वायु उनकी नासिकाके छिद्रोंके माध्यमसे उनके भीतर प्रविष्ट हो गयी, जिससे उन निर्भेद ब्रह्मवादियोंका चित्त और शरीर प्रेम-विकारके द्वारा क्षोभित हो गया। अक्षर-ब्रह्ममें उनकी जो निष्ठा थी, वह सहसा दूर हो गयी। अक्षर-ज्ञानरूप प्रतिबन्धक दूर होनेसे, आत्माका स्वभाव-सिद्ध-धर्म—कृष्णप्रीति सहसा जाग्रत हो गया तथा हृदय द्रवीभूत हो गया। तब वे महात्मागण भगवान्के सेवा-सौन्दर्यको हृदयङ्गम कर पाये। सत्सङ्गसे निर्विशेषवादियोंकी इस प्रकारकी उपलब्धियाँ श्रीशुकदेव आदि अनेक चरित्रोंमें देखी जाती हैं॥१६॥

प्रीतिबन्धकके नष्ट होनेपर प्रीतिका विषय उदित होता है। प्रीतिका प्रतिबन्धक नष्ट होनेपर चतुःसनने जो कुछ कहा, श्रीमद्भा. ३/१५/५० में उसका इस प्रकार वर्णन है—

प्रादुश्चकर्थ यदिदं पुरुहूत रूपं
तेनेश निर्वृतिमिवापुरलं दृशोर्नः।
तस्मा इदं भगवते नम इद्विधेम
योऽनात्मनां दुरुदयो भगवान् प्रतीतः॥१७॥

हे पुरुहूत (हे विपुल कीर्त्ति)! हे ईश! ज्ञान-घनस्वरूप अपनी मूर्त्तिका आपने कृपापूर्वक हमलोगोंको दर्शन कराया। इसके

दर्शनसे हमारे चक्षु यथेष्ट आनन्द प्राप्त कर रहे हैं। हमारा पहलेवाला शुष्कभाव दूर हो गया है। (यह अपूर्व दर्शन आत्मानुभूत पुरुषोंके लिए ही सम्भव है।) आत्माकी उपलब्धिसे रहित पुरुषोंके लिए यह दुष्कर है। हमलोगोंने ऐसा कौन-सा शुभकार्य किया था कि आपने कृपा करके हमें अपना दर्शन दिया। अब आपकी कृपासे हमारा निर्भेद ब्रह्मज्ञान दूर हो गया है। हम निर्भय होकर भगवत्तत्त्वके प्रति नमस्कार करते हैं। नमस्कार ही भक्तियोग है। तभीसे चतुःसन शान्तभक्तोंमें गिने जाने लगे ॥१७॥

भगवत्-प्रीतिके उदय होनेपर जीवमें जिन स्वरूपसिद्ध लक्षणोंका प्रादुर्भाव होता है, श्रीमद्भा. १०/८७/३८ में उसका श्रुतियों द्वारा इस प्रकार वर्णन किया गया है—

स यदजया त्वजामनुशयीत गुणांश्च जुषन्
भजति सरूपतां तदनु मृत्युमपेतभगः।
त्वमुत जहासि तामहिरिव त्वचमात्तभगो
महसि महीयसेऽष्टगुणितेऽपरिमेयभगः ॥१८॥

जीवका नित्यस्वरूप अप्राकृत है। किन्तु अविद्याके बन्धनसे वह नित्यस्वरूप एक लिङ्गशरीर और उसके ऊपर और एक स्थूलशरीरसे आच्छादित हो जाता है। कृष्ण-प्रीतिके उदय होनेपर भी जब तक श्रीकृष्णकी इच्छासे लिङ्गशरीर भङ्ग नहीं होता, तब तक जीव केवलमात्र स्वरूपसिद्धि ही प्राप्त करता है। लिङ्गशरीरके नष्ट होनेपर ही वस्तुसिद्धि होती है। जीव जिस समय अविद्यासे मोहित होकर मायाके साथ अनुशयन अर्थात् मायाका आलिङ्गन करता है, उस समय मायाके गुणोंका भोग करते-करते मायिक स्वरूपताको प्राप्त कर लेता है तथा अपने चित्-गुणसे रहित होकर दुर्भागेकी भाँति मायाके अनुगत रहता है और जन्म-मृत्युको स्वीकार करता है। किन्तु हे भगवन्! आप चित्-सूर्यस्वरूप हैं। 'अजा' आपकी बहिरङ्गाशक्ति है। आप उसके द्वारा जिस समय

जो कार्य करते हैं, उस कर्मको करके आप बहिरङ्गाशक्तिको उसी प्रकार त्याग कर देते हैं, जिस प्रकार सर्प अपनी केंचुलीका परित्याग कर देता है। अतएव आप स्वयं सर्वदा अष्टगुणित धर्म सहित अपनी महिमासे महिमान्वित, अपरिमेय भगस्वरूप (ऐश्वर्योंके अधिकारी स्वरूप ऐश्वर्यमयपद पर विराजमान) हैं।

तात्पर्य यह है कि जीव जब बहिर्मुख होता है, उस समय उसकी मायिक स्वरूपता होती है। किन्तु जिस समय जीव ऐकान्तिक रूपसे आपके आश्रित होता है, उस समय आपकी कृपासे आठ प्रकारके धर्म प्राप्तकर वह अपनी महिमामें विराजमान हो जाता है। वस्तुसिद्धि प्राप्त होनेपर जीव आठ धर्म प्राप्त करता है। यथा—"आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः सोऽन्वष्टव्यः।" इस श्रुति वाक्यके अनुसार आठ धर्म इस प्रकार हैं—(१) अपहतताप (त्रिगुणात्मक मायासे छुटकारा), (२) विजर (जरासे रहित), (३) विमृत्यु (मरणसे रहित), (४) विशोक (शोकसे रहित), (५) विजिघत्स (पर-हिंसासे रहित), (६) अपिपास (सांसारिक आनन्दकी इच्छासे रहित), (७) सत्यकाम, और (८) सत्यसङ्कल्प॥१८॥

भक्तिसिद्धि दो प्रकारकी होती है—स्वरूपसिद्धि और वस्तुसिद्धि। सर्वप्रथम स्वरूपसिद्धिका लक्षण बतलाया जा रहा है। श्रीमद्भा. ३/१५/४८ में सनकादि चार कुमार भगवान्के समक्ष स्वरूपसिद्धिके विषयमें बतलाते हुए कहते हैं—

नात्यन्तिकं विगणयन्त्यपि ते प्रसादं
किन्त्वन्यदर्पितभयं भ्रुव उन्नयैस्ते।
येऽङ्ग त्वदङ्घ्रिशरणा भवतः कथायाः
कीर्तन्यतीर्थयशसः कुशला रसज्ञाः॥१९॥

जिन्होंने आपके श्रीचरणकमलोंमें शरण ली है तथा जो कीर्त्तन करने योग्य तीर्थ यशस्वरूप (परम पवित्रता प्रदान करनेवालीके नामसे प्रसिद्ध) आपकी कथाओंमें कुशल और रसज्ञ हैं, वे

आपकी आत्यन्तिक कृपारूप सायुज्यमुक्तिको भी 'वस्तु' नहीं मानते हैं (अर्थात् उसे अत्यन्त हेय तथा तुच्छ मानकर उससे घृणा करते है)। आपकी भ्रू-भङ्गी द्वारा जो-जो नाशके भयसे भयभीत (इन्द्र आदिके पद) हैं—उनके विषयमें तो फिर कहना ही क्या है। भोग, मोक्ष तथा अन्य कामनाओंसे रहित होकर भगवद्भक्त कृष्णलीलारसमें प्रविष्ट होते हैं अर्थात् मग्न रहते हैं। ऐसे व्यक्तियोंने ही स्वरूपसिद्धि प्राप्त की है॥१९॥

श्रीमद्भा. ११/१३/३५-३७ में भगवान् हंस सनकादि कुमारोंसे कहते हैं—

दृष्टिं ततः प्रतिनिवर्त्य निवृत्ततृष्ण-
स्तूष्णीं भवेन्निजसुखानुभवो निरीहः।
संदृश्यते क्व च यदीदमवस्तुबुद्ध्या
त्यक्तं भ्रमाय न भवेत् स्मृतिरानिपातात्॥२०॥

भक्त तृष्णाओंसे रहित होकर जड़जगत्से दृष्टिको प्रतिनिवृत्त कर लेते हैं अर्थात् जड़जगत्के विषयमें देखना, सुनना और ध्यान देना सम्पूर्ण रूपसे बन्द कर देते हैं। निरीह होकर आत्माके निज सुखानुभवसे वे मौन हो जाते हैं। जहाँ-जहाँ जो कुछ जड़जगत्में देखते हैं, उसे अवस्तु मानकर त्याग कर देते हैं तथा उनकी स्मृति मृत्युके समय तक भी भ्रान्त नहीं होती। तात्पर्य यह है कि कृष्णलीला-रसमें प्रविष्ट स्वरूपसिद्ध व्यक्तियोंका संसार ऐसा ही होता है। श्रीकृष्ण-सम्बन्धके बिना वे किसी भी वस्तुका आदर नहीं करते॥२०॥

देहञ्च नश्वरमवस्थितमुत्थितं वा
सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत् स्वरूपम्।
दैवादपेतमथ दैववशादुपेतं
वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः॥२१॥

वे उठते या बैठते समय देहके प्रति दृष्टि नहीं करते, क्योंकि उन भक्तोंने अपने सिद्धस्वरूपमें आत्माका अनुभव प्राप्त कर

लिया है। जिस प्रकार मदिराके मदसे अन्ध व्यक्ति कभी वस्त्र पहन लेता है और कभी उतार देता है, उसी प्रकार देहको नश्वर जानकर, जब तक श्रीकृष्णकी इच्छा है, तब तक देह रहे और जब श्रीकृष्णकी इच्छासे जानी है तो चली जाये—इस प्रकार वे देहके प्रति अनासक्त हो जाते हैं। ज्ञानाभिमानी सिद्धजन अर्थात् जीवन्मुक्त पुरुष सब समय इस प्रकारके भावमें विभोर रहते हैं। यद्यपि भक्तोंका संसारके सम्बन्धमें इसी प्रकारका भाव रहता तो है, किन्तु कृष्णसेवाके सम्बन्धमें देहको सिद्धिके अनुकूल जानकर वे उसका आदर करते हैं। देहके बिना कृष्णभजन नहीं होता, अतएव भजनानुकूल देहके संरक्षणमें विशेष आदर करनेपर भी भजनके प्रतिकूल देह, गेहादिको तुच्छ समझते हैं। इस प्रकारका भाव ही युक्तवैराग्यकी चरमसीमा है॥२१॥

देहोऽपि दैववशगः खलु कर्म यावत्
स्वारम्भकं प्रतिसमीक्षत एव सासुः।
तं सप्रपञ्चमधिरूढसमाधियोगः
स्वाप्नं पुनर्न भजते प्रतिबुद्धवस्तुः॥२२॥

जब तक प्रारब्ध कर्म रहता है, तब तक प्राणके साथ दैवके अनुसार चालित देह प्रतीक्षा करता है। जिस प्रकार जाग्रत अवस्थाको प्राप्त व्यक्ति स्वप्नावस्थामें व्यवहृत शरीर आदि वस्तुको पुनः प्राप्त नहीं करता, उसी प्रकार स्वरूपसिद्ध भक्त समाधियोगमें आरूढ़ होनेपर इस प्रपञ्चमय देहको पुनः प्राप्त नहीं करता अर्थात् देह त्यागके उपरान्त श्रीकृष्णकी इच्छासे वस्तुसिद्धि प्राप्त करता है। ज्ञानमार्गीय जीवन्मुक्त और भक्तमें अनेक भेद हैं। ज्ञानी इस देहसे घृणा करते हैं और पुनः यह देह प्राप्त न हो—इसके लिए चेष्टा करते हैं। किन्तु भक्तजन श्रीकृष्णके विरहमें ऐसी देहसे विशेष रूपसे विरक्त होनेपर भी (दूसरी ओर) श्रीकृष्णके दर्शनमें देहकी सार्थकताकी भी उपलब्धि करते हैं।

ज्ञानी भोग द्वारा प्रारब्ध कर्मोंका क्षय करते हैं, किन्तु भक्तोंका प्रारब्ध क्षय श्रीकृष्णकी इच्छापर निर्भर रहता है॥२२॥

श्रीमद्भा. ११/१४/२४ में भगवान् श्रीकृष्ण स्वरूपसिद्ध भक्तोंके बाह्य लक्षण बतलाते हुए उद्धवसे कहते हैं—

वाग् गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥२३॥

गद्गद वचनोंके सहित जिनका चित्त द्रवित रहता है, जो प्रतिक्षण रोदन करते रहते हैं, कभी हँसते हैं, कभी लज्जारहित होकर उच्च स्वरसे गान करते हैं और कभी नृत्य करते हैं। मेरी भक्तिसे युक्त ऐसे पुरुष संसारको पवित्र करते हैं॥२३॥

श्रीकृष्णकी कृपासे ही वस्तुसिद्धि होती है। उसका लक्षण बतलाते हुए श्रीशुकदेव गोस्वामी (श्रीमद्भा. २/९/९-१० में) कहते हैं—

तस्मै स्वलोकं भगवान् सभाजितः
सन्दर्शयामास परं न यत्परम्।
व्यपेतसंक्लेशविमोहसाध्वसं
स्वदृष्टवद्भिःपुरुषैरभिष्टुतम् ॥२४॥

वस्तुसिद्धि होनेपर भक्त प्राकृत जगत्में और नहीं रह सकते, तब वे अप्राकृत जगत्में अवस्थान करते हैं। अप्राकृत जगत् ऐश्वर्य तथा माधुर्यके भेदसे दो प्रकारका होता है। प्रथमतः ऐश्वर्य जगत्का वर्णन कर रहे हैं। ब्रह्माकी तपस्यासे प्रसन्न होकर भगवान्ने उन्हें अपने लोकका दर्शन कराया। उस लोकसे श्रेष्ठ और कोई लोक नहीं है। उस स्थानपर क्लेश, विमोह और भय नहीं हैं। उस स्थानपर भगवान् आत्मद्रष्टा पुरुषोंके द्वारा सर्वदा संस्तुत होते हैं॥२४॥

प्रवर्तते यत्र रजस्तमस्तयोः
सत्त्वं च मिश्रं न च कालविक्रमः।

न यत्र माया किमुतापरे हरे–
रनुव्रता यत्र सुरासुरार्चिताः ॥२५॥

उस लोकमें रजोगुण-तमोगुण और इन दोनोंसे मिश्रित सत्त्व नहीं है, वहाँ कालका प्रभाव नहीं है, वहाँ काल भूत, भविष्यके लक्षणोंसे विभक्त नहीं होता। सर्वदा वर्त्तमान कालके लक्षणोंसे लक्षित होता है। वहाँ मात्र विशुद्धसत्त्वगुण है। जब जड़माया ही उस स्थानपर नहीं पहुँच सकती तब फिर अन्य किसीके विषयमें क्या कहा जाये? हरिके अनुव्रत (पार्षद) वहाँ नित्य अवस्थित रहते हैं, जिनका अर्चन देव तथा दैत्य दोनों ही करते हैं। उस धामका नाम चित्-धाम या वैकुण्ठ है। महाप्रलयमें भी वह धाम विराजमान रहता है॥२५॥

(श्रीमद्भा. २/९/१३-१४)

श्रीर्यत्र रूपिण्युरुगायपादयोः करोति मानं बहुधा विभूतिभिः।
प्रेङ्खं श्रिता या कुसुमाकरानुगैर्विगीयमाना प्रियकर्म गायती॥२६॥

श्री अर्थात् चित्-शक्ति जहाँ अपनी अनेक विभूतियोंकी सहायतासे रूपवती होकर उरुगाय (उत्तम श्लोकों द्वारा कीर्त्तित) भगवान्‌की चरणसेवा करती है। सन्धिनी, सम्वित् तथा आह्लादिनी—तीनों शक्ति-विभूतियाँ उस लोकमें सदा क्रियावती रहती हैं। चित्-अनङ्गके अनुगत समस्त शक्तियाँ ही उनकी सहचरी होती हैं। समस्त सज्जन प्रियतम सम्बन्धित गीतबद्ध लीलागान करते हैं। चिद्धामका जो सर्वोत्तम प्रकोष्ठ गोलोक वृन्दावन है, उसी लोकको भगवान्‌ने ब्रह्माको दिखलाया॥२६॥

ददर्श तत्राखिलसात्वतां पतिं श्रियः पतिं यज्ञपतिं जगत्पतिम्।
सुनन्दनन्दप्रबलार्हणादिभिः स्वपार्षदाग्रैः परिषेवितं विभुम्॥२७॥

श्रीब्रह्माने उस ऐश्वर्य-प्रकोष्ठमें सात्वतपति (अखिल भक्तोंके रक्षक), लक्ष्मीपति, यज्ञपति, जगत्पतिको देखा। वे विभु वैकुण्ठनाथ

सुनन्द, नन्द, प्रबल, अर्हण आदि पार्षदोंके द्वारा परिसेवित हो रहे थे॥२७॥

गोलोकके प्रकाशान्तर गोकुलकी लीलामें माधुर्य-प्रकोष्ठका वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण श्रीमद्भा. ११/१२/१०-११ में उद्धवसे कहते हैं—

रामेण सार्धं मथुरां प्रणीते
श्वाफल्किना मय्यनुरक्तचित्ताः।
विगाढभावेन न मे वियोग-
तीव्राधयोऽन्यं ददृशुः सुखाय॥२८॥

हे उद्धव! अक्रूर जब मुझे बलराम भैयाके साथ मथुरा ले आये, उस समय मुझमें गाढ़ रूपसे अनुरक्त चित्तवाली गोपियाँ मेरे तीव्र वियोग-ध्यान-सुखमें निमग्न हो गयीं और सुखकी प्राप्तिके लिए वे अन्य कुछ भी न देख सकीं॥२८॥

तास्ताः क्षपाः प्रेष्ठतमेन नीता
मयैव वृन्दावनगोचरेण।
क्षणार्धवत्ताः पुनरङ्ग तासां
हीना मया कल्पसमा बभूवुः॥२९॥

मैं गोकुलमें श्रेष्ठतम हूँ। मुझे प्राप्त करके गोपियोंने जो महारास-रात्रियाँ व्यतीत की थीं, मेरे मिलनके कारण उन्हें वे समस्त रात्रियाँ आधे क्षणके समान प्रतीत होती थीं और जब उनका मुझसे विच्छेद हो गया, उस समय एक-एक क्षण भी उन्हें कल्पके समान प्रतीत होता था॥२९॥

केवला-मुक्तिकी तुलनामें प्रेमभक्तिको अनन्तगुणा श्रेष्ठ बतलाते हुए श्रीशुकदेव गोस्वामी श्रीमद्भा. ५/६/१८ में राजा परीक्षित्से कहते हैं—

राजन् पतिर्गुरुरलं भवतां यदूनां
दैवं प्रियः कुलपतिः क्व च किङ्करो वः।
अस्त्वेवमङ्ग भगवान् भजतां मुकुन्दो
मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम्॥३०॥

हे राजन्! श्रीकृष्ण तुम्हारे (पाण्डवोंके) तथा यादवोंके साथ पति अर्थात् पालक, गुरु, सर्वस्व, देव, प्रिय, कुलपति और कभी-कभी किङ्करकी भाँति भी आचरण करते हैं। भगवान् मुकुन्द उपासकोंको सहज ही मुक्ति प्रदान कर देते हैं, किन्तु सहजमें प्रेमभक्ति नहीं देते॥३०॥

श्रीमद्भा. १०/४७/४३ में गोपियाँ उद्धवसे कहती हैं—

ताः किं निशाः स्मरति यासु तदा प्रियाभि-
वृन्दावने कुमुदकुन्दशशाङ्करम्ये।
रेमे क्वणच्चरणनूपुररासगोष्ठ्या-
मस्माभिरीडितमनोज्ञकथः कदाचित्॥३१॥

इति श्रीमद्भागवतार्कमरीचिमालायां प्रयोजनतत्त्वनिरूपणे प्रयोजनविचारो नाम सप्तदशः किरणः॥

हे उद्धव! बतलाओ तो, श्रीकृष्ण क्या कभी हमारे द्वारा कही गयीं मनोहर कथाओंकी चर्चा करते हैं? जिन समस्त रात्रियोंमें उन्होंने हम प्रियाओंके साथ कुमुद-कुन्द-चन्द्रमा आदि द्वारा सुशोभित रम्य वृन्दावनमें चरणनूपुर विशिष्ट (नूपुरोंकी ध्वनिसे गुञ्जायमान) रासगोष्ठीमें रमण किया था, उन समस्त रात्रियोंमें जो सब हुआ, क्या वे उसका स्मरण करते हैं? इस प्रकारके भाव वस्तुसिद्ध भक्तोंके लक्षण हैं॥३१॥

सप्तदश किरणकी 'मरीचिप्रभा' नामक गौड़ीय-व्याख्याका भावानुवाद समाप्त॥

अष्टादश किरण

सिद्धप्रेमरस

रसकी महिमाका वर्णन

महिमा व्रजलीलाया दुरोतोऽपि निषेवितः।
यैर्यैस्तान् दण्डवन्नौमि भक्तान् भीष्मार्जुनादिकान्॥

श्रीभीष्मपितामह

कुन्तीपुत्र अर्जुन

मैं उन महाभाग्यवान भीष्म तथा अर्जुन आदि भक्तोंके चरणकमलोंमें दण्डवत्प्रणाम करता हूँ, जिन्होंने व्रजसे दूर (बाहर) रहते हुए भी व्रजलीलाकी महिमाका सेवन अर्थात् आस्वादन किया है।

श्रीकृष्णचैतन्यचन्द्राय नमः

श्रीमद्भा. १/९/३३ में श्रीभीष्म प्राणत्याग करते समय भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति करते हुए कहते हैं—

त्रिभुवनकमनं तमालवर्णं रविकरगौरवराम्बरं दधाने।
वपुरलककुलावृताननाब्जं विजयसखे रतिरस्तु मेऽनवद्या॥१॥

अहो! मैं श्रीकृष्णका त्रिभुवन-कमनीय (अभिलषित) तमालवर्ण रूप देख रहा हूँ। उन्होंने सूर्य-किरणके समान पीताम्बर धारण कर रखा है। उनका मुखकमल अलकावलियों (घुँघराले बालों) से आवृत्त होकर सुशोभित हो रहा है। अर्जुनके सखा ऐसे श्रीकृष्णमें मेरी निरुपाधिक (निष्कपट) रति हो॥१॥

(श्रीमद्भा. १/९/४१-४२)

मुनिगणनृपवर्यसंकुलेऽन्तः सदसि युधिष्ठिरराजसूय एषाम्।
अर्हणमुपपेद ईक्षणीयो मम दृशिगोचर एष आविरात्मा॥२॥

मुनियों और बड़े-बड़े राजाओंसे सुशोभित महाराज श्रीयुधिष्ठिरकी राजसूय सभामें जो पूजित हुए थे, सबके आत्माओंके आत्मा वही श्रीकृष्ण मेरी मृत्युके समयमें दृष्टिगोचर हुए हैं, इससे बढ़कर मेरा और क्या भाग्य हो सकता है?॥२॥

तमिममहमजं शरीरभाजां हृदि हृदि धिष्ठितमात्मकल्पितानाम्।
प्रतिदृशमिव नैकधार्कमेकं समधिगतोऽस्मि विधूतभेदमोहः॥३॥

एक ही सूर्य भिन्न-भिन्न घड़ोंमें स्थित जलमें जिस प्रकार पृथक्-पृथक् सूर्यके रूपमें दिखायी देता है, उसी प्रकार प्रत्येक शरीर-धारियोंके हृदयमें जिस एक ही परमात्माका मनःकल्पित पृथक्-पृथक् तत्त्वके रूपमें द्वैतभ्रम होता है, उस भेद-मोहका परित्याग करके उन एक परमात्माको इन श्रीकृष्णके अंशरूपमें मैं जान गया हूँ। उन जन्मरहित श्रीकृष्णके श्रीचरणोंमें मैं भक्तिपूर्वक शरणागत हो रहा हूँ॥३॥

श्रीमद्भा. १/१०/२६ में कौरव-स्त्रियाँ परस्पर एक-दूसरेसे कह रही हैं—

अहो अलं श्लाघ्यतमं यदोः कुल-
महो अलं पुण्यतमं मधोर्वनम्।
यदेष पुंसामृषभः श्रियः पतिः
स्वजन्मना चङ्क्रमणेन चाञ्चति॥४॥

अहो! यदुकुल निश्चित ही यथेष्ट प्रशंसनीय है। मधुवन अर्थात् मथुरामण्डल भी परम पुण्यतम है, क्योंकि यह पुरुषश्रेष्ठ श्रीपति श्रीकृष्ण स्वयं जन्म लेकर तथा भ्रमण-विहारादि करते हुए वहाँ नित्य विचरण कर रहे हैं॥४॥

(श्रीमद्भा. १/१०/२८)

नूनं व्रतस्नानहुतादिनेश्वरः समर्चितो ह्यस्य गृहीतपाणिभिः।
पिबन्ति याः सख्यधरामृतं मुहुर्व्रजस्त्रियः संमुमुहुर्यदाशयाः॥५॥

श्रीकृष्णकी विवाहित स्त्रियोंने निश्चय ही व्रत, स्नान, होम इत्यादि शुभ कर्मोंके द्वारा श्रीकृष्णका अर्चन किया होगा, क्योंकि जिनका अधरामृत पानकर व्रजस्त्रियाँ बारम्बार मोहित हो जाती थीं, उसी अधरामृतको पान करनेका अधिकार इन्हें भी प्राप्त हुआ है॥५॥

श्रीमद्भा. १/११/७-९ में द्वारकाकी प्रजा कहती है—

अहो सनाथा भवता स्म यद्वयं
त्रैपिष्टपानामपि दूरदर्शनम्।
प्रेमस्मितस्निग्धनिरीक्षणाननं
पश्येम रूपं तव सर्वसौभगम्॥६॥

देवताओंके लिए भी जिनके दर्शन दुर्लभ हैं, ऐसे श्रीकृष्णके प्रेमपूर्वक स्मित-हास्य तथा स्निग्ध कटाक्षमय सर्वसौभाग्यपूर्ण रूपका हमलोग दर्शन कर रहे हैं। अतः हमलोग सनाथ होकर आनन्दका अनुभव कर रहे हैं॥६॥

यर्ह्यम्बुजाक्षापससार भो भवान्
कुरून्मधून् वाथ सुहृद्दिदृक्षया।
तत्राब्दकोटिप्रतिमः क्षणो भवेद्
रविं विनाक्ष्णोरिव नस्तवाच्युत॥७॥

हे कमलनयन! हे अच्युत! जिस समय आप सुहृदोंको दर्शन देनेके लिए कुरुराज्य (हस्तिनापुर) में तथा मथुरामण्डलमें चले जाते हैं, उस समय आपको न देखकर हमारा क्षणभर भी वर्षोंके समान अति कष्टसे उसी प्रकार व्यतीत होता है, जिस प्रकार सूर्यके बिना नेत्र अन्धप्रायः हो जाते हैं॥७॥

कथं वयं नाथ चिरोषिते त्वयि
प्रसन्न दृष्ट्याखिलतापशोषणम्।
जीवेम ते सुन्दरहासशोभित-
मपश्यमाना वदनं मनोहरम्॥८॥

हे नाथ! कृपया हमें बतलाइये कि जब आप बहुत दिनोंके लिए कहीं चले जाते हैं, तब प्रसन्न दृष्टिवाले समस्त-ताप-शोषक सुन्दर-हास्यसे शोभित आपके मनोहर सुन्दर मुखकमलको न देखकर हमलोग कैसे जीवित रहें?॥८॥

श्रीमद्भा. १/१५/७ में अर्जुन युधिष्ठिरसे कहते हैं—

यत्संश्रयाद् द्रुपदगेहमुपागतानां
राज्ञां स्वयंवरमुखे स्मरदुर्मदानाम्।
तेजो हृतं खलु मया निहतश्च मत्स्यः
सज्जीकृतेन धनुषाऽधिगता च कृष्णा॥९॥

जिनके आश्रयके बलसे बली होकर मैंने द्रौपदीके स्वयंवरमें राजा द्रुपदके गृहमें आये हुए कामोन्मत्त राजाओंका तेज सुसज्जित धनुष द्वारा हरण कर लिया था तथा बादमें उसी धनुषपर बाण चढ़ाकर मत्स्यको भेद करके द्रौपदीको प्राप्त कर लिया था॥९॥

(श्रीमद्भा. १/१५/११-१२)

यो नो जुगोप वनमेत्य दुरन्तकृच्छ्राद्
दुर्वाससोऽरिरचितादयुताग्रभुग् यः।
शाकान्नशिष्टमुपयुज्य यतस्त्रिलोकीम्
तृप्ताममंस्त सलिले विनिमग्नसङ्घः॥१०॥

जिन्होंने हमारे वनवासके समय वनमें आकर अवशिष्ट (बचे हुए) शाकान्नका भोजन करके शत्रु द्वारा भेजे गये महर्षि दुर्वासाके क्रोधसे हमारी रक्षा की थी, तथा उन अयुताग्रभुक् मुनि (दस हजार शिष्योंको साथ बैठाकर भोजन करनेवाले दुर्वासा ऋषि) ने दल-बलके साथ जलमें स्नान करते-करते त्रिलोकी स्थित सभीको तृप्त जानकर भोजन करनेके लिए आनेका साहस ही नहीं किया॥१०॥

यत्तेजसाथ भगवान् युधि शूलपाणि-
र्विस्मापितः सगिरिजोऽस्त्रमदान्निजं मे।
अन्येऽपि चाहममुनैव कलेवरेण
प्राप्तो महेन्द्रभवने महदासनार्धम्॥११॥

जिनके तेजसे गिरिजा (दुर्गा) सहित भगवान् शूलपाणि (शङ्कर) मेरे साथ युद्ध करते समय आश्चर्य चकित हो गये थे तथा मुझे अपना पाशुपत अस्त्र प्रदान किया था एवं अन्य देवताओंने भी अपने-अपने अस्त्र मुझे दान दिये थे, जिनकी कृपासे इसी देहसे मैं इन्द्रकी सभामें उनके बराबर आधे आसनपर विराजित हुआ था॥११॥

(श्रीमद्भा. १/१५/१६)

यद्दोःषु मा प्रणिहितं गुरुभीष्मकर्ण-
नप्तृत्रिगर्तशलसैन्धवबाह्लिकाद्यैः।
अस्त्राण्यमोघमहिमानि निरूपितानि
नोपस्पृशुर्नृहरिदासमिवासुराणि॥१२॥

द्रोण, भीष्म, कर्ण, नप्ता अर्थात् सोमदत्तके पुत्र भूरिश्रवा, त्रिगर्तदेश अधिपति (सुशर्मा), शल्य, सैन्धव (सिन्धु-देश अधिपति) जयद्रथ, शान्तनु राजाके भाई बाह्लिक आदि वीरों द्वारा मुझपर अपने महिमायुक्त अमोघ (अचूक) अस्त्र चलाये जानेपर भी जिनके भुजदण्डोंके द्वारा रक्षित मेरा उसी प्रकार स्पर्श भी नहीं कर सके, जिस प्रकार भगवान् श्रीनृसिंहके दास प्रह्लादको असुरोंके अस्त्र-शस्त्र स्पर्श नहीं कर पाये थे॥१२॥

(श्रीमद्भा. १/१५/१८)

नर्माण्युदाररुचिरस्मितशोभितानि
हे पार्थ हेऽर्जुन सखे कुरुनन्दनेति।
संजल्पितानि नरदेव हृदिस्पृशानि
स्मर्तुर्लुठन्ति हृदयं मम माधवस्य॥१३॥

हे पार्थ! हे अर्जुन! हे सखे! हे कुरुनन्दन! इस प्रकार उदार-रुचि (गम्भीर होनेपर भी सुन्दर) स्मितहास्यसे सुशोभित उन्हीं श्रीकृष्णके हृदयस्पर्शी वचनोंका इस समय स्मरणकर, हे नरदेव! मेरा हृदय व्याकुल हो रहा है॥१३॥

(श्रीमद्भा. १/१५/२१)

तद्वै धनुस्त इषवः स रथो हयास्ते
सोऽहं रथी नृपतयो यत आनमन्ति।
सर्वं क्षणेन तदभूदसदीशरिक्तं
भस्मन् हुतं कुहकराद्धमिवोप्तमूष्याम्॥१४॥

देखिये, मेरे हाथमें वही गाण्डीव धनुष विद्यमान है, वे सब अस्त्र भी हैं, वही रथ और घोड़े हैं तथा वही रथी मैं अर्जुन भी इस समय वर्त्तमान हूँ, जिसे देखकर समस्त राजा नमस्कार करते थे। किन्तु आश्चर्य देखिये! एक क्षणमें ही कृष्ण-हीन होनेपर अर्थात् श्रीकृष्णके वियोगसे भस्ममें घी डालनेके समान सब कुछ निरर्थक हो गया है। जिस प्रकार ऊसर क्षेत्र (बंजर

भूमि) में कर्षण करनेसे (हल जोतनेपर) किसी भी प्रकारकी उपज उत्पन्न नहीं होती, उसी प्रकार मेरे धनुष, अस्त्र, रथ और घोड़े आदि कुहक अर्थात् मायावियोंसे प्राप्त द्रव्योंके समान किसी प्रकारके कामके नहीं रह गये॥१४॥

श्रीमद्भा. २/७/२६-३५ में श्रीकृष्णलीलाका वर्णन करते हुए श्रीब्रह्मा कहते हैं—

भूमेः सुरेतरवरूथविमर्दितायाः
क्लेशव्ययाय कलया सितकृष्णकेशः।
जातः करिष्यति जनानुपलक्ष्यमार्गः
कर्माणि चात्ममहिमोपनिबन्धनानि॥१५॥

असुर सेना द्वारा पीड़ित पृथ्वीका भार-हरण करनेके लिए त्रिदेवेश्वर भगवान्‌ने अपनी कला श्रीबलदेवके साथ लोगोंके अनुपलक्ष्यमार्गस्वरूप (जिनकी परमेश्वरताका अनुमान लगानेमें मेरे जैसे लोग भी अयोग्य हैं, ऐसे) भगवान्‌ने स्वयं जन्म ग्रहण करके आत्म-महिमा-सूचक विविध अद्भुत लीलाएँ की थीं॥१५॥

तोकेन जीवहरणं यदुलूकिकाया-
स्त्रैमासिकस्य च पदा शकटोऽपवृत्तः।
यद्रिङ्गतान्तरगतेन दिविस्पृशोर्वा
उन्मूलनं त्वितरथार्जुनयोर्न भाव्यम्॥१६॥

वे यदि स्वयंरूप (स्वयंभगवान्) न होते तो किस प्रकार उन्होंने कुछेक (छह) दिनके शिशुकी अवस्थामें पूतनाका जीवन-हरण कर लिया; तीन महीनेकी आयुमें ही चरण द्वारा शकटको उलटा दिया तथा आकाशस्पर्शी (गगनचुम्बी) अर्जुन वृक्षोंके बीचमें घुटनोंके बल प्रवेश करके उन्हें जड़से ही उखाड़ डाला॥१६॥

यद्वै व्रजे व्रजपशून् विषतोयपीतान्
पालानजीवयदनुग्रहदृष्टिवृष्ट्या ।

तच्छुद्धयेऽतिविषवीर्यविलोलजिह्व-
मुच्चाटयिष्यदुरगं विहरन् ह्रदिन्याम्॥१७॥

और आश्चर्य तो यह है कि जब व्रजमें व्रजके पशुओं (और पशुपालों) ने विषमय जलका पान करके प्राणत्याग दिये, तब उनके प्रति कृपादृष्टिरूपी अमृतकी वर्षा अर्थात् अपने कृपाकटाक्ष द्वारा उन्हें पुनर्जीवित कर दिया और कालीयह्रदमें विहार करनेवाले अति भीषण विष विलोलित जिह्वावाले कालिय सर्पको वहाँसे निकालकर यमुनाके जलको विषरहित निर्मल कर दिया॥१७॥

तत्कर्म दिव्यमिव यन्निशि निःशयानं
दावाग्निना शुचिवने परिदह्यमाने।
उन्नेष्यति व्रजमतोऽवसितान्तकालं
नेत्रे पिधाप्य सबलोऽनधिगम्यवीर्यः॥१८॥

एक दिन (कालिय दमनवाले दिन ही) उन्होंने एक और दिव्य लीला की। शुचिवन (ग्रीष्मकालके शुष्क वन) में अधिक रात्रिको जब व्रजवासी गाढ़ निद्रामें सो रहे थे, उस समय दावाग्नि उपस्थित होकर प्रलयके समान समस्त वन तथा व्रजको दग्ध करने लगी, (जब आगका ताप पाकर व्रजवासियोंकी नींद खुली, तो उन्होंने चारों ओर आग-ही-आग देखी और सभी अपने मन-ही-मन सोचने लगे कि आज हमारे जीवनका अन्तिम महूर्त्त उपस्थित हो गया है। उसी समय श्रीकृष्णने उन सबको नेत्र बन्द करनेके लिए कहा तथा) अचिन्त्य शक्तिशाली श्रीकृष्णने बलदेव सहित स्वयं अपने दोनों नेत्रोंको खोल करके उस अग्निको मुखसे पान कर लिया॥१८॥

गृह्णीत यद्यदुपबन्धममुष्य माता
शुल्बं सुतस्य न तु तत्तदमुष्य माति।
यज्जृम्भतोऽस्य वदने भुवनानि गोपी
संवीक्ष्य शङ्कितमनाः प्रतिबोधिताऽऽसीत्॥१९॥

श्रीकृष्णकी माता यशोदाने कृष्णको बाँधनेके लिए जिन समस्त रस्सियोंका संग्रह किया, उनसे वह श्रीकृष्णको बाँध नहीं पायी। किसी अन्य दिन जब श्रीकृष्णने जँभायी ली, उस समय उनके मुखमें माता श्रीयशोदा समस्त भुवनको देखकर विस्मित हो गयीं और शङ्कित होकर चिन्ता करते-करते मन-ही-मन श्रीनारायणके शरणागत होकर अपने पुत्रके अमङ्गल नाशके लिए प्रार्थना करने लगीं। यह सब अत्यन्त आश्चर्यका विषय है॥१९॥

नन्दञ्च मोक्ष्यति भयाद् वरुणस्य पाशाद्
गोपान् बिलेषु पिहितान्मयसूनुना च।
अह्न्यापृतं निशि शयानमतिश्रमेण
लोकं विकुण्ठमुपनेष्यति गोकुलं स्म॥२०॥

वरुणदेवके पाशसे श्रीनन्दरायको मुक्त कराया, मय दानवके पुत्र व्योमासुर द्वारा गोपोंको पहाड़की गुफामें छिपा दिये जानेपर उनका इस विपत्तिसे उद्धार किया। दिनमें अनेक कार्योंमें लगे रहनेपर रातमें अत्यन्त थकानके कारण शयन करते हुए गोकुलवासियोंको अपने परमधाम वैकुण्ठलोकमें ले गये। यह सब कार्य क्या कोई देवता कर सकता है?॥२०॥

गोपैर्मखे प्रतिहते व्रजविप्लवाय
देवेऽभिवर्षति पशून् कृपया रिरक्षुः।
धर्तोच्छिलीन्ध्रमिव सप्त दिनानि सप्त
वर्षो महीध्रमनघैककरे सलीलम्॥२१॥

इन्द्रका यज्ञ बन्द कर दिये जानेपर जब व्रजमें उपद्रव करनेकी इच्छासे इन्द्रने अत्यधिक वर्षा की, तब श्रीकृष्णने कृपापूर्वक पशुओंकी रक्षा की और सात वर्षकी अवस्थामें सात दिनों तक गिरि-गोवर्धनको छत्रके समान एक हस्तपर खेल-ही-खेलमें धारण कर लिया॥२१॥

क्रीडन् वने निशि निशाकररश्मिगौर्यां
रासोन्मुखः कलपदायतमूर्च्छितेन।
उद्दीपितस्मररुजां व्रजभृद्वधूनां
हर्तुर्हरिष्यति शिरो धनदानुगस्य॥२२॥

चन्द्रकी किरणोंसे उज्ज्वल चाँदनी रात्रिमें श्रीकृष्णने रासलीला की। वेणुकी मधुर सङ्गीतध्वनि द्वारा उद्दीप्त काममयी व्रजवधुओंको हरण करनेके लिए जब कुबेरका सेवक शङ्खचूड़ आया, तब श्रीकृष्णने उसके (मस्तकके मणिको हरण करनेके उपरान्त उसके) मस्तकका छेदन कर दिया॥२२॥

ये च प्रलम्बखरदर्दुरकेश्यरिष्ट–
मल्लेभकंसयवनाः कपिपौण्ड्रकाद्याः।
अन्ये च शाल्वकुजबल्वलदन्तवक्र–
सप्तोक्षसम्बरविदूरथरुक्ममुख्याः॥

ये वा मृधे समितिशालिन आत्तचापाः
काम्बोजमत्स्यकुरुसृञ्जयकैकयाद्याः।
यास्यन्त्यदर्शनमलं बलपार्थभीम–
व्याजाह्वयेन हरिणा निलयं तदीयम्॥२३॥

और देखो! प्रलम्ब, धेनुक, बक, केशी, अरिष्ट, चाणुर, कुवलयापीड़, कालयवन, द्विविद, पौण्ड्रक आदि दैत्य और शाल्व, नरकासुर, बल्वल, दन्तवक्र, सप्तोक्ष (नग्नजितके सात बैल), शम्बर, विदूरथ, रुक्मि आदि दुष्टों तथा युद्धमें अस्त्रधारी काम्बोज, मत्स्य, कुरु, सृञ्जय, कैकय आदि समस्त वीरोंको बलदेव, अर्जुन, भीम आदि अपने निज जनोंके द्वारा तथा स्वयं वध करके अपने वैकुण्ठधाममें ले गये। ये सब कथाएँ बहुत आश्चर्यमय हैं॥२३॥

(श्रीमद्भा. २/७/४०)

विष्णोर्नु वीर्यगणनां कतमोऽर्हतीह
यः पार्थिवान्यपि कविर्विममे रजांसि।
चस्कम्भ यः स्वरहसास्खलता त्रिपृष्ठं
यस्मात् त्रिसाम्यसदनादुरुकम्पयानम् ॥२४॥

विष्णु अनन्त शक्तिशाली हैं। उनकी शक्तिकी तनिक भी गणना नहीं हो सकती। पृथ्वीके समस्त रेणुकणोंकी गणना करनेमें जो समर्थ हैं, वे भी भगवान् विष्णुकी शक्तियोंकी गणना नहीं कर सकते। देखो, उन्हीं भगवान् श्रीविष्णुने अपने वामनावतारमें पहले तो प्रतिघातशून्य अपने श्रीचरणोंके वेगसे प्रधान तत्त्वसे लेकर सत्यलोक तक सब कुछ प्रकम्पित कर दिया था, तथा फिर स्वयं ही चौदह भुवनके अन्तर्गत त्रिसाम्यसदन अर्थात् सत, रज और तम—इन तीनों गुणोंकी साम्यावस्था प्रकृतिके आवरणसे आरम्भ करके शेष पर्यन्त सबको अपने बलसे धारण कर लिया था॥२४॥

(श्रीमद्भा. २/७/४३-४५)

वेदाहमङ्ग परमस्य हि योगमायां
यूयं भवश्च भगवानथ दैत्यवर्यः।
पत्नी मनोः स च मनुश्च तदात्मजाश्च
प्राचीनबर्हिर्ऋभुरङ्ग उत ध्रुवश्च॥२५॥

इक्ष्वाकुरैलमुचुकुन्दविदेहगाधि-
रघ्वम्बरीषसगरा गयनाहुषाद्याः।
मान्धात्रलर्कशतधन्वनुरन्तिदेवा
देवव्रतो बलिरमूर्त्तरयो दिलीपः॥२६॥

सौभर्युतङ्कशिबिदेवलपिप्पलाद-
सारस्वतोद्धवपराशरभूरिषेणाः ।

येऽन्ये विभीषणहनूमदुपेन्द्रदत्त-
पार्थार्ष्टिषेणविदुरश्रुतदेववर्याः ॥२७॥

हे नारद! मैं (ब्रह्मा), आप, शिव, प्रह्लाद, मनुपत्नी (शतरूपा), स्वायम्भुव मनु, उनकी कन्याएँ (देवहूति आदि), प्राचीनबर्हि, ऋभु, अङ्ग (वेणके पिता), ध्रुव, इक्ष्वाकु, ऐल, मुचुकुन्द, विदेह (जनक), गाधि, रघु, अम्बरीष, सगर, गय, नहुषादि, मान्धाता, अलर्क, शतधनु (शतधन्वा), अनु, रन्तिदेव, भीष्म, बलि, अमूर्त्तरय, दिलीप, सौभरि, उतङ्क, शिबि, देवल, पिप्पलाद, सारस्वत (दधीचि), उद्धव, पराशर, भूरिषेण, विभीषण, हनुमान, शुक, पार्थ (अर्जुन), आर्ष्टिषेण, विदुर तथा श्रुतदेवादि भक्त भी उन परमपुरुष विष्णुकी योगमायाको कुछ-कुछ ही जानते हैं॥२५-२७॥

(श्रीमद्भा. २/७/४७-४८)

तद्वै पदं भगवतः परमस्य पुंसो।
ब्रह्मेति यद्विदुरजस्रसुखं विशोकम्॥२८क॥

सध्र्यङ् नियम्य यतयो यमकर्तहेतिं।
जह्युः स्वराडिव निपानखनित्रमिन्द्रः॥२८ख॥

सभी उपनिषदोंमें जिन्हें अजस्र सुख तथा विशोक ब्रह्म कहा गया है, वही परमपुरुष भगवान्‌का स्वरूप है। यतिगण जिस अभेद ब्रह्मज्ञानकी चेष्टा करते है, उसे भगवत्-स्वरूप तत्त्वमें चित्तको सलंग्न करनेके लिए सहायकके रूपमें व्यवहृत करके परित्याग कर देना। जलके अभावमें जिस प्रकार कुदालसे कुआँ खोदा जाता है तथा प्रचुर पानी मिल जानेपर उस कुदालको त्याग दिया जाता है, उसी प्रकार मायिक तत्त्वको भेद करके भगवत्-तत्त्व प्राप्त करनेके लिए ब्रह्मज्ञानकी जो क्षुद्र अभेद होनेकी चेष्टाकी जाती है, उसे भगवत्-स्वरूपके निकट तक लानेमें समर्थ होनेपर परित्याग देना॥२८॥

(श्रीमद्भा. २/६/३७-३८)

नाहं न यूयं यदृतां गतिं विदु-
र्न वामदेवः किमुतापरे सुराः।
तन्मायया मोहितबुद्धयस्त्विदं
विनिर्मितं चात्मसमं विचक्ष्महे॥२९॥

हे नारद! जब मैं, तुमलोग, वामदेव (श्रीरुद्रदेव) और अन्यान्य कोई भी तत्वज्ञ भगवान्‌के शुद्ध स्वरूपसे अवगत होनेमें समर्थ नहीं हो सकते। फिर अन्य देवताओंकी तो बात ही क्या? उनकी मायासे मोहित बुद्धिवाले होकर हम उनके द्वारा निर्मित इस विश्व-क्रियाको आत्म-समबुद्धि अर्थात् अपने-अपने ज्ञानके अनुरूप विचार करते हैं॥२९॥

यस्यावतारकर्माणि गायन्ति ह्यस्मदादयः।
न यं विदन्ति तत्त्वेन तस्मै भगवते नमः॥३०॥

जिनके अवतारकी लीलाओंका हम गान करते रहते हैं, परन्तु तत्त्वतः वे लीलाएँ क्या हैं—इसे समझ नहीं पाते। उन भगवान्‌के विषयमें ज्ञानादिकी चेष्टा विफल है। अतः हम उन्हें नमस्कार करते हैं॥३०॥

श्रीमद्भा. १०/९०/४७ में श्रीशुकदेव गोस्वामी राजा परीक्षित्‌से कहते हैं—

तीर्थं चक्रे नृपोनं यदजनि यदुषु स्वःसरित्पादशौचं
विद्विट्स्निग्धाः स्वरूपं ययुरजितपरा श्रीर्यदर्थेऽन्ययत्नः।
यन्नामामङ्गलघ्नं श्रुतमथ गदितं यत्कृतो गोत्रधर्मः
कृष्णस्यैतन्न चित्रं क्षितिभरहरणं कालचक्रायुधस्य॥३१॥

जिन्होंने यदुकुलमें जन्म ग्रहण करके अपने पादशौच (चरणधोवन) रूप गङ्गा नदीके तीर्थत्वको अपनी कीर्त्तिके समक्ष लघु कर दिया है, जिनसे विद्वेष करके समस्त असुर ब्रह्मस्वरूप प्राप्त करके

स्निग्ध हुए हैं, जिस श्री अर्थात् लक्ष्मीकी कृपालेश प्राप्तिके लिए अन्य देवता तपस्या करते हैं, वे लक्ष्मी स्वयं जिनके श्रीचरणकमलोंकी सेवा करती हैं, जिनका नाम श्रवण और कीर्त्तन करनेसे समस्त जीवोंके अमङ्गलका नाश हो जाता है तथा जिनका आश्रय लेनेसे अच्युत-गोत्र प्रवृत्त होता है, उन कालचक्रायुध अर्थात् कालमूर्त्ति और दुरन्त-प्रभावयुक्त चक्रधारी श्रीकृष्णके लिए पृथ्वीका भार हरण करना क्या कोई आश्चर्यकी बात है? ॥३१॥

श्रीमद्भा. १०/२/२६ में देवताओंने श्रीकृष्णसे कहा—

सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये।
सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रं सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः ॥३२॥

आप सत्यव्रत, सत्यपर (सत्य ही जिन्हें प्राप्त करनेका श्रेष्ठ उपाय है) तथा त्रिकाल-सत्य हैं। आप सत्यके जन्मस्थान हैं, सत्यमें ही आपकी स्थिति है, आप सत्यकी सत्ता अर्थात् नित्य सत्य है। ऋत (परम सत्य वचन) तथा सत्य (समदर्शन) आपके दो नेत्र हैं। आप सत्यात्मक हैं, अतएव हम आपके शरणागत हुए हैं॥३२॥

श्रीमद्भा. ३/२/१६ में श्रीउद्धव विदुरसे कहते हैं—

मां खेदयत्येतदजस्य जन्म-विडम्बनं यद्वसुदेवगेहे।
व्रजे च वासोऽरिभयादिव स्वयं पुराद् व्यवात्सीद्यदनन्तवीर्यः ॥३३॥

श्रीवसुदेवके घरमें अजन्मा पुरुषका जन्म—कैसी विडम्बना है, अरि (कंस) के भयसे व्रजमें वास तथा अनन्त शक्तिमान होनेपर भी स्वयं मथुराका परित्यागरूप कार्य—ये सभी लीलाएँ मेरे मनमें खेद उत्पन्न कर रही हैं॥३३॥

(श्रीमद्भा. ३/२/१८-२०)

को वा अमुष्याङ्घ्रिसरोजरेणुं
विस्मर्तुमीशीत पुमान् विजिघ्रन्।

यो विस्फुरद्भ्रूविटपेन भूमे-
र्भारं कृतान्तेन तिरश्चकार॥३४॥

जिन्होंने अपनी भ्रू-भङ्गिके विलाससे ही पृथ्वीका सारा भार उतार दिया, ऐसे पुरुषकी श्रीचरणकमल-रेणुका आस्वादन करके ऐसा कौन है, जो उन्हें भूल सके॥३४॥

दृष्टा भवद्भिर्ननु राजसूये
चैद्यस्य कृष्णं द्विषतोऽपि सिद्धिः।
यां योगिनः संस्पृहयन्ति सम्यग्-
योगेन कस्तद्विरहं सहेत॥३५॥

योगीलोग अष्टाङ्गयोगके द्वारा जिस सिद्धिको प्राप्त करनेकी इच्छा करते हैं, वही सिद्धि श्रीकृष्णसे विद्वेष करनेवाले शिशुपालको श्रीयुधिष्ठिरके राजसूययज्ञमें अनायास ही प्राप्त हो गयी—इसे आपने साक्षात् देखा है। अतएव उन श्रीकृष्णका विरह कौन सहन कर सकता है?॥३५॥

तथैव चान्ये नरलोकवीरा
य आहवे कृष्णमुखारविन्दम्।
नेत्रैः पिबन्तो नयनाभिरामं
पार्थास्त्रपूताः पदमापुरस्य॥३६॥

और कुरुक्षेत्रके युद्धमें नरवीरोंने मृत्युके समय नयनको आनन्द देनेवाले श्रीकृष्णके मुखारविन्दको नेत्रों द्वारा पान (निहार) करके अर्जुनके अस्त्रोंसे विद्ध होकर देह त्याग करनेपर ब्रह्मपदको प्राप्त किया था॥३६॥

(श्रीमद्भा. ३/२/२४)

मन्येऽसुरान् भागवतांस्त्र्यधीशे संरम्भमार्गाभिनिविष्टचित्तान्।
ये संयुगेऽचक्षत तार्क्ष्यपुत्रमंसे सुनाभायुधमापतन्तम्॥३७॥

जिन्होंने तीनों शक्तियोंके अधीश्वर श्रीकृष्णमें वैर भावसे अभिनिविष्ट चित्त होकर युद्धमें गरुड़की पीठपर विराजमान सुदर्शन चक्रधारी, श्रीकृष्णके हाथसे छूटे हुए महास्त्र चक्रको अपने ऊपर पड़ते हुए देखा था, मैं उन असुरोंको भी भाग्यवान् भागवत ही समझता हूँ।॥३७॥

(श्रीमद्भा. ३/२/२६)

ततो नन्दव्रजमितः पित्रा कंसाद्धि बिभ्यता।
एकादशसमास्तत्र गूढ़ार्चिः सबलोऽवसत्॥३८॥

मथुरामें जन्म ग्रहण करनेपर कंससे भयभीत वसुदेवने उन्हें नन्दव्रजमें पहुँचा दिया था। वहाँ श्रीबलदेवके साथ गूढ़ार्चि[१] श्रीकृष्णने ग्यारह वर्षों तक वास किया था॥३८॥

(श्रीमद्भा. ३/२/३०-३३)

प्रयुक्तान् भोजराजेन मायिनः कामरूपिणः।
लीलया व्यनुदत् तांस्तान् बालः क्रीडनकानिव॥३९॥

भोजराज कंसके द्वारा भेजे गये कामरूपी मायावी समस्त असुरोंको श्रीकृष्णने बाल क्रीड़ावस्तु (खिलौने) के समान नष्ट कर डाला॥३९॥

विपन्नान् विषपानेन निगृह्य भुजगाधिपम्।
उत्थाप्यापाययद्गावस्तत्तोयं प्रकृतिस्थितम्॥४०॥

श्रीकृष्णने कालियका निग्रह (दमन) करके विषपानसे मूर्च्छित हुई गैयाओंको जीवित कर दिया और उन्हें शुद्ध निर्मल यमुना जलका पान कराया॥४०॥

---

[१] गूढ़ार्चि—जिनका तेज इतना गुप्त है कि प्राकृत कंस आदि भी नहीं देख सकते अथवा जिन्होंने अपने माधुर्यसे ऐश्वर्यको गोपन कर लिया है। (श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर)

अयाजयद्गोसवेन गोपराजं द्विजोत्तमैः।
वित्तस्य चोरुभारस्य चिकीर्षुः सद्व्ययं विभुः॥४१॥

श्रीकृष्णने संग्रह किये समस्त धनका सद्व्यय (और इन्द्रके अभिमानको दूर) करानेकी इच्छासे उत्तम द्विजोंके द्वारा गोपराज नन्दसे सवन अर्थात् गो और श्रीगिरिराज-गोवर्धनपूजारूपी यज्ञ करवाया था॥४१॥

वर्षतीन्द्रे व्रजः कोपाद्भग्नमानेऽतिविह्वलः।
गोत्रलीलातपत्रेण त्रातो भद्रानुगृह्णता॥४२॥

इस पूजासे अपमानित होकर जब इन्द्रने क्रोधपूर्वक व्रजमें अत्यधिक वर्षा की, तब निर्दोष गोपोंकी रक्षा करनेके लिए श्रीकृष्णने गोवर्धन पर्वतको लीलापूर्वक छत्रके समान धारण करके उनकी रक्षा की॥४२॥

(श्रीमद्भा. ३/३/१-१३)

ततः स आगत्य पुरं स्वपित्रो-
श्चिकीर्षया शं बलदेवसंयुतः।
निपात्य तुङ्गाद्रिपुयूथनाथं
हतं व्यकर्षद् व्यसुमोजसोर्व्याम्॥४३॥

श्रीबलदेवके साथ व्रजसे मथुरा आकर अपने पिता वसुदेव और माता देवकीके मङ्गल-विधानके लिए ऊँचे स्थानपर बैठे हुए शत्रुओंके नाथ कंसको नीचे गिरा करके बलपूर्वक उसका निधन कर दिया॥४३॥

सान्दीपनेः सकृत्प्रोक्तं ब्रह्माधीत्य सविस्तरम्।
तस्मै प्रादाद्वरं पुत्रं मृतं पञ्चजनोदरात्॥४४॥

सान्दीपनि मुनिके मुखसे समस्त वेदोंका एक बार ही श्रवण करके अध्ययन समाप्त किया तथा सान्दीपनिकी ही प्रार्थनापर

पञ्चजन नामक असुरके उदरसे उनके मृत पुत्रको लाकर प्रदान किया॥४४॥

समाहुता भीष्मककन्यया ये
श्रियः सवर्णेन बुभूषयैषाम्।
गान्धर्ववृत्त्या मिषतां स्वभागं
जह्रे पदं मूर्ध्नि दधत्सुपर्णः॥४५॥

लक्ष्मीस्वरूपा श्रीरुक्मिणीके विवाहके लिए समागत राजाओंके मस्तकपर पद रखकर गन्धर्वरीति द्वारा उससे विवाह करनेके लिए रुक्मिणीका उसी प्रकार हरण कर लिया, जिस प्रकार गरुड़ने अमृतका हरण कर लिया था॥४५॥

ककुद्मिनोऽविद्धनसो दमित्वा
स्वयंवरे नाग्नजितीमुवाह।
तद्भग्नमानानपि गृध्यतोऽज्ञान्–
जघ्नेऽक्षतः शस्त्रभृतः स्वशस्त्रैः॥४६॥

स्वयंवरमें सात बिना नथे हुए भयङ्कर बैलोंको नथकर उन्होंने नाग्नजिती (सत्या) से विवाह कर लिया। श्रीकृष्ण द्वारा ऐसा करनेसे वहाँ उपस्थित समस्त अज्ञ राजागण अपने आपको अपमानित माननेके कारण शस्त्र धारण करने लगे, तब श्रीकृष्णने उन्हें भी अपने शस्त्रोंसे पराजित कर दिया॥४६॥

प्रियं प्रभुर्ग्राम्य इव प्रियाया
विधित्सुरार्च्छद्द्युतरुं यदर्थे।
वज्र्याद्रवत्तं सगणो रुषान्धः
क्रीडामृगो नूनमयं वधूनाम्॥४७॥

जिस प्रकार ग्राम्य–व्यवहारमें लोग प्रियाका प्रिय साधन करते हैं, उसी प्रकार श्रीसत्यभामाको सन्तुष्ट करनेके लिए श्रीकृष्णने स्वर्ग स्थित पारिजातका हरण कर लिया। उस समय इन्द्रने अपने

गणोंके साथ हाथमें वज्र लेकर स्त्रियोंके क्रीड़ामृगकी भाँति श्रीकृष्णके साथ युद्ध किया॥४७॥

सुतं मृधे खं वपुषा ग्रसन्तं
दृष्ट्वा सुनाभोन्मथितं धरित्र्या।
आमन्त्रितस्तत्तनयाय शेषं
दत्त्वा तदन्तःपुरमाविवेश॥४८॥

अपने शरीर द्वारा आकाशको भी ढक देनेवाले नरकासुर नामक अपने पुत्रको भगवान्‌के चक्र द्वारा युद्धभूमिमें मरा देखकर पृथ्वीने भगवान्‌से प्रार्थना की, जिसके फलस्वरूप भगवान्‌ने नरकासुरके पुत्र भगदत्तको उसका बचा हुआ राज्य देकर उसके अन्तःपुरमें प्रवेश किया॥४८॥

तत्राहृतास्ता नरदेवकन्याः
कुजेन दृष्ट्वा हरिमार्तबन्धुम्।
उत्थाय सद्यो जगृहुः प्रहर्ष-
व्रीडानुरागप्रहितावलोकैः ॥४९॥

उस नरकासुर राजा द्वारा बलपूर्वक लायी गयी नर-देवकन्याएँ (राज और देव कन्याएँ) दुःखितजनोंके बन्धु हरिका दर्शन करके शीघ्र खड़ी हो गयीं तथा उन्होंने अत्यन्त हर्ष, लज्जा, अनुराग तथा प्रेमदृष्टि द्वारा उन्हें अपने पतिके रूपमें ग्रहण किया॥४९॥

आसां मुहूर्त एकस्मिन्नानागारेषु योषिताम्।
सविधं जगृहे पाणीननुरूपः स्वमायया॥५०॥

उन सब स्त्रियोंसे नाना गृहोंमें एक ही मुहूर्त्तमें एक ही साथ शास्त्र-विधिके अनुसार अपनी चित्-शक्तिके बलसे आश्चर्यजनक रूपसे विवाह कर लिया॥५०॥

तास्वपत्यान्यजनयदात्मतुल्यानि सर्वतः।
एकैकस्यां दश दश प्रकृतेर्विबुभूषया॥५१॥

अपने स्वरूपके वैभवकी अभिलाषासे उन सब स्त्रियोंके गर्भसे आत्मतुल्य अर्थात् आत्माके विस्तार स्वरूप दस-दस पुत्रोंको उत्पन्न किया॥५१॥

कालमागधशाल्वादीननीकै रुन्धतः पुरम्।
अजीघनत् स्वयं दिव्यं स्वपुंसां तेज आदिशत्॥५२॥

कालयवन, जरासन्ध, शाल्व आदिने अपनी सेनाओं सहित पुरीको[१] घेर लिया। उनके द्वारा ऐसा किये जानेपर श्रीकृष्णने स्वयं (शाल्वको द्वारकामें) तथा अपने पुरुष-तेज (मुचुकुन्द और भीम आदिके) द्वारा उन सबको (कालयवन और जरासन्धको) नष्ट कर दिया॥५२॥

शम्बरं द्विविदं बाणं मुरं बल्वलमेव च।
अन्यांश्च दन्तवक्त्रादीनवधीत्कांश्च घातयत्॥५३॥

शम्बर, द्विविद, बाण, मुर, बल्वल तथा अन्यान्य दन्तवक्रादिका उन्होंने स्वयं और अन्योंके द्वारा विनाश करवा दिया॥५३॥

अथ ते भ्रातृपुत्राणां पक्षयोः पतितान् नृपान्।
चचाल भूः कुरुक्षेत्रं येषामापततां बलैः॥५४॥

हे विदुर! तत्पश्चात् आपके भाईके पुत्र (युधिष्ठिर और दुर्योधन) के पक्षपाती राजाओंको कुरुक्षेत्रमें सम्पूर्ण पृथ्वीको कम्पित कर देनेवाली उनकी सेनाओं सहित विनाश कर डाला॥५४॥

स कर्णदुःशासनसौबलानां
कुमन्त्रपाकेन हतश्रियायुषम्।
सुयोधनं सानुचरं शयानं
भग्नोरुमुर्व्यां न ननन्द पश्यन्॥५५॥

कर्ण, दुःशासन और शकुनि आदिकी कुमन्त्रणा (परामर्श) से हतश्री और हतआयु अर्थात् श्री और आयुसे रहित टूटी

---

[१] मथुरापुरी और द्वारकापुरी।

जाँघवाले दुर्योधनको अनुचरों सहित भूमिपर पड़ा हुआ देखकर श्रीकृष्णने कोई आनन्द प्रकाश नहीं किया॥५५॥

(श्रीमद्भा. ३/३/१७-१८)

उत्तरायां धृतः पुरोर्वंशः साध्वभिमन्युना।
स वै द्रौण्यस्त्रसंप्लुष्टः पुनर्भगवता धृतः॥५६॥

अभिमन्युके औरससे उत्तराके गर्भमें जो पुरुवंश स्थापित हुआ था, यद्यपि वह अश्वत्थामाके अस्त्रसे नष्टप्राय हो गया था, तथापि श्रीकृष्णने उसकी रक्षा करके उसे पुनः बचा लिया॥५६॥

अयाजयद्धर्मसुतमश्वमेधैस्त्रिभिर्विभुः।
सोऽपि क्ष्मामनुजै रक्षन् रेमे कृष्णमनुव्रतः॥५७॥

श्रीकृष्णने धर्मपुत्र युधिष्ठिरसे तीन अश्वमेधयज्ञ करवाये तथा श्रीयुधिष्ठिरने भी भ्रातृबलसे श्रीकृष्णके अनुगत होकर पृथ्वीका पालन किया॥५७॥

(श्रीमद्भा. ३/३/२०)

स्निग्धस्मितावलोकेन वाचा पीयूषकल्पया।
चरित्रेणानवद्येन श्रीनिकेतेन चात्मना॥५८॥

मधुर मन्द मुस्कान, स्नेहमयी चितवन, सुधामयी शिष्टवाणी, निर्मल चरित्र तथा अपने ऐश्वर्यमय स्वरूप अर्थात् समस्त शोभा और सुन्दरताके निवास स्वरूप श्रीकृष्ण निज गुणोंसे सभीके प्रीतिके विषय हुए थे॥५८॥

श्रीमद्भा. १०/९०/४९-५० में श्रीशुकदेव गोस्वामी राजा परीक्षित्से कहते हैं—

इत्थं परस्य निजवर्त्मरिरक्षयाऽऽत्त-
लीलातनोस्तदनुरूपविडम्बनानि।
कर्माणि कर्मकषणानि यदूत्तमस्य
श्रूयादमुष्य पदयोरनुवृत्तिमिच्छन्॥५९॥

जो व्यक्ति श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी अनुवृत्ति (सेवा) की इच्छा करता है, उसे अपने धर्मकी रक्षाके लिए लीला-तनु धारण करनेवाले परतत्त्व उत्तमश्लोक श्रीकृष्णकी कर्मनाशक लीलाओंका सदा श्रवण करना चाहिये॥५९॥

मर्त्यस्तयानुसवमेधितया मुकुन्द-
श्रीमत्कथाश्रवणकीर्तनचिन्तयैति ।
तद्धाम दुस्तरकृतान्तजवापवर्गं
ग्रामाद् वनं क्षितिभुजोऽपि ययुर्यदर्थाः॥६०॥

इति श्रीमद्भागवतार्कमरीचिमालायां सिद्धप्रेमरसवर्णने रसमहिमा नाम अष्टादशः किरणः।

मर्त्य जीव श्रीकृष्णकी कथाके श्रवण-कीर्त्तन और स्मरणसे युक्त समृद्ध भक्ति-समाधिके द्वारा दुर्लंघ्य कालके प्रभावको अतिक्रमण करके उनके उस (कालके प्रभावसे रहित) परम धामको प्राप्त करते हैं, जिसकी प्राप्तिके लिए पृथ्वीके अनेकानेक राजा भी अपना राजपाट सब कुछ छोड़कर वनमें गमन करते हैं॥६०॥

अष्टादश किरणकी 'मरीचिप्रभा' नामक गौड़ीय-व्याख्याका भावानुवाद समाप्त॥

एकोनविंश किरण

सिद्धप्रेमरस

रसगरिमा

गरिमा व्रजलीलायाः कृपया येन वर्णितः।
साधुनामुपकाराय तं नौमि व्यासनन्दनम्॥

मैं उन श्रीव्यासनन्दन शुकदेव गोस्वामीके श्रीचरणारविन्दोंमें सादर प्रणाम करता हूँ, जिनके द्वारा कृपापूर्वक साधु-सज्जनोंके उपकारके लिए व्रजलीलाकी गरिमा वर्णित हुई है।

श्रीकृष्णचैतन्यचन्द्राय नमः

श्रीमद्भा. १०/९०/४८ में श्रीशुकदेव गोस्वामी महाराज परीक्षित्से कहते हैं—

जयति जननिवासो देवकीजन्मवादो
यदुवरपरिषत् स्वैर्दोर्भिरस्यन्नधर्मम्।
स्थिरचरवृजिनघ्नः सुस्मितश्रीमुखेन
व्रजपुरवनितानां वर्धयन् कामदेवम्॥१॥

देवकीके गर्भसे जन्म हुआ है—यह बात जिनके सम्बन्धमें वादमात्र (केवल अफवाह) है। ऐसे जननिवास अर्थात् समस्त जीवोंके आश्रय अथवा गोपों और यादवोंके बीच ही जिनका निवास है, वे यशोदानन्दन जययुक्त होवें। (केवल इच्छासे सब कुछ करनेमें समर्थ होनेपर भी) अपने तथा अपने निजजनोंके बाहुबलके द्वारा अधर्मका नाश करते हैं—यह बात भी जिनके विषयमें प्रवाद (लोगोंमें प्रचलित) है, ऐसे यादव सभापति श्रीकृष्णकी जय हो। अपने नाम सङ्कीर्त्तनसे ही स्थावर और जङ्गमके अमङ्गलको दूर करनेवाले तथा मन्द-मन्द मुस्कानसे युक्त श्रीमुखके द्वारा व्रजपुरकी वनिताओंके कामको निरन्तर वर्धित करनेवाले श्रीकृष्ण जययुक्त हों॥१॥

श्रीमद्भा. १०/१४/१ में ब्रह्मा श्रीकृष्णके नित्य स्वरूपका वर्णन करते हुए कह रहे हैं—

नौमीड्य तेऽभ्रवपुषे तडिदम्बराय गुञ्जावतंसपरिपिच्छलसन्मुखाय।
वन्यस्रजे कवलवेत्रविषाणवेणु-लक्ष्मश्रिये मृदुपदे पशुपाङ्गजाय॥२॥

हे श्रीकृष्ण! आपकी अङ्गकान्ति नवीन मेघके समान है, आपके वस्त्र विद्युतके समान पीत हैं, आपके कर्ण-भूषण गुञ्जासे बने हुए हैं, आपका मुखचन्द्र मयूरपुच्छ द्वारा सुशोभित है, आपके गलेमें वनफूलोंसे बनी हुई वनमाला विराजमान है, आपके हाथ श्रीकवल (दहीसे मिला हुआ अन्नका ग्रास), वेत्र, विषाण और

वेणु द्वारा शोभायमान हैं, आप अपने कोमल चरणारविन्द द्वारा वनमें भ्रमण करते हैं, आपमें गोपराज श्रीनन्दके पुत्र होनेका अभिमान नित्य विद्यमान है, मैं आपको नमस्कार करता हूँ॥२॥

श्रीमद्भा. १०/१४/१८ में इस प्रकार कहा गया है—

अद्यैव त्वदृतेऽस्य किं मम न ते मायात्वमादर्शित–
मेकोऽसि प्रथमं ततो व्रजसुहृद्वत्साः समस्ता अपि।
तावन्तोऽसि चतुर्भुजास्तदखिलैः साकं मयोपासिता–
स्तावन्त्येव जगन्त्यभूस्तदमितं ब्रह्माद्वयं शिष्यते॥३॥

हे श्रीकृष्ण! आपकी व्रजलीलाओंकी महिमा अपार है। आपने मुझपर कृपा करके आज यही दिखलाया है कि आपके अतिरिक्त सब कुछ माया है। पहले आपने मुझे अपने एक अद्वय श्रीकृष्णरूपका दर्शन कराया, तत्पश्चात् आप स्वयं ही ग्वालबाल तथा बछड़ोंके रूपमें प्रकाशित हो गये, तदनन्तर आपने दिखाया कि आपके वे सभी रूप चतुर्भुज हैं तथा मेरे सहित समस्त जगत्-वासी उनकी उपासना कर रहे हैं। आपने अलग-अलग उतने ही ब्रह्माण्डोंका रूप भी धारण कर लिया था, परन्तु वे सब आपमें समा जानेके कारण अब आप पुनः अपरिमित अद्वितीय ब्रह्मरूपमें अवशिष्ट हैं॥३॥

श्रीब्रह्माने व्रजमें विहार करते हुए जिन श्रीकृष्णके सर्वालौकिक अपरिमित अद्वितीय ब्रह्मत्वका दर्शन किया था, उन्हींकी अलौकिक नरलीलाका क्रमानुसार वर्णन करते हुए श्रीशुकदेव गोस्वामी श्रीमद्भा. १०/५/१-२ में कहते हैं—

नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने जाताह्लादो महामनाः।
आहूय विप्रान् वेदज्ञान् स्नातः शुचिरलङ्कृतः॥४॥

वाचयित्वा स्वस्त्ययनं जातकर्मात्मजस्य वै।
कारयामास विधिवत् पितृदेवार्चनं तथा॥५॥

परम उदार नन्द महाराज अपने पुत्रके जन्म लेनेपर बड़े ही आनन्दित हुए। उन्होंने स्नान किया और पवित्र होकर सुन्दर-सुन्दर वस्त्र और अलङ्कार धारण किये। तत्पश्चात् बुलाये गये वेदज्ञ ब्राह्मणों द्वारा स्वस्तिवाचन और पितरोंकी विधिपूर्वक पूजा करवानेके बाद पुत्रका जातकर्म संस्कार करवाया॥४-५॥

श्रीमद्भा. १०/५/१८ में कहा गया है—

तत आरभ्य नन्दस्य व्रजः सर्वसमृद्धिमान्।
हरेर्निवासात्मगुणैः रमाक्रीडमभून्नृप॥६॥

हे राजन्! उसी दिनसे श्रीनन्द महाराजका व्रज अत्यन्त ही समृद्धिशाली हो गया तथा भगवान् श्रीहरिका निवास स्थान होनेके कारण रमादेवीका क्रीड़ास्थल बन गया॥६॥

श्रीमद्भा. १०/६/२, १० और ३१ में पूतना-वधका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

कंसेन प्रहिता घोरा पूतना बालघातिनी॥७॥

तस्मिन् स्तनं दुर्जरवीर्यमुल्बणं
घोराङ्कमादाय शिशोर्ददावथ।
गाढं कराभ्यां भगवान् प्रपीड्य तत्-
प्राणैः समं रोषसमन्वितोऽपिबत्॥८॥

अत्यन्त क्रूर बाल-घातिनी पूतना कंस द्वारा प्रेरित होकर शिशुरूपी कृष्णको गोदमें लेकर कालकूट अर्थात् स्पर्शमात्रसे ही प्राणोंका हरण कर लेनेवाले विषसे युक्त अपने स्तनका पान कराने लगी। श्रीकृष्णने रोषसे भरकर अपने दोनों हाथोंसे उसके स्तनको दृढ़तापूर्वक धारण करके दूधके सहित उसके प्राणोंका भी पान कर लिया॥७-८॥

तावन्नन्दादयो गोपा मथुराया व्रजं गताः।
विलोक्य पूतनादेहं बभूवुरतिविस्मिताः॥९॥

उसी समय नन्दादि गोपगण मथुरासे व्रजमें लौट रहे थे, व्रजमें पहुँचकर जब उन्होंने पूतनाके मृत शरीरको देखा, तो वे बहुत विस्मित हुए॥९॥

श्रीमद्भा. १०/७/७ में शकटभञ्जन लीलाका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

अधः शयानस्य शिशोरनोऽल्पक–प्रवालमृद्वङ्घ्रिहतं व्यवर्तत।
विध्वस्तनानारसकूप्यभाजनं व्यत्यस्तचक्राक्षविभिन्नकूबरम्॥१०॥

एक दिन छकड़ेके नीचे सोये हुए शिशु श्रीकृष्णके चरण पल्लव अर्थात् नये कोमल पत्तोंके समान कोमल नन्हे-नन्हे पैरोंके द्वारा शकट उलट गया तथा शकटके चक्र (पहिये), अक्ष (पहियेकी धुरी) तथा युगन्धर (गाड़ीके पहियोंको आपसमें जोड़कर रखनेवाली लम्बी लकड़ी अथवा लोहेका बना हुआ लट्ठा) विपर्यस्त होकर गिर पड़े, जिसके फलस्वरूप उसके ऊपर रखी हुई रसोंसे भरी मटुकियाँ टूट गयीं॥१०॥

श्रीमद्भा. १०/७/१८, २०, २६ और २८ में तृणावर्तके वधका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

एकदारोहमारूढं लालयन्ती सुतं सती।
गरिमाणं शिशोर्वोढुं न सेहे गिरिकूटवत्॥११॥

एकदिन माता यशोदा श्रीकृष्णको अपनी गोदमें लेकर लाड़-प्यार कर रही थी, अचानक श्रीकृष्ण पर्वतके समान ऐसे भारी हो गये कि श्रीयशोदा और अधिक क्षण तक उन्हें अपनी गोदमें न रख सकीं॥११॥

दैत्यो नाम्ना तृणावर्तः कंसभृत्यः प्रणोदितः।
चक्रवातस्वरूपेण जहारासीनमर्भकम्॥१२॥

(माता यशोदाने कृष्णको भूमिपर बैठा दिया तथा स्वयं भगवान् श्रीनारायणका स्मरण करते-करते बालकके मङ्गलके

लिए ब्राह्मणोंको बुलाने हेतु श्रीनन्द आदिको संवाद देने अथवा पुत्रके उद्देश्यसे किसी कार्यको करनेके लिए जैसे ही घरके भीतर प्रवेश किया) उसी समय कंस द्वारा प्रेरित उसका भृत्य तृणावर्त नामक दैत्य चक्रवात (बवण्डर) के रूपमें आया और बैठे हुए शिशुको हरण करके आकाशमें ले गया॥१२॥

तृणावर्तः शान्तरयो वात्यारूपधरो हरन्।
कृष्णं नभोगतो गन्तुं नाशक्नोद् भूरिभारभृत्॥१३क॥

गलग्रहणनिश्चेष्टो दैत्यो निर्गतलोचनः।
अव्यक्तरावो न्यपतत् सहबालो व्यसुर्व्रजे॥१३ख॥

तृणावर्त्त बवण्डरका रूप धारण करके श्रीकृष्णको आकाश मार्गमें अभी कुछ ही दूर लेकर गया ही था कि श्रीकृष्णके भारी बोझको नहीं सँभाल पानेसे उसकी गति बहुत धीमी होने लगी तथा जैसे ही श्रीकृष्णने उसके गलेको पकड़कर थोड़ा-सा अपनी ओर खींचा, तो अत्यधिक बोझयुक्त होनेके कारण अर्थात् और अधिक सहन न कर पानेके कारण वह दैत्य निश्चेष्ट हो गया, उसकी आँखें बाहर निकल आयीं, बोलती बन्द हो गयी, प्राण-पखेरु उड़ गये तथा वह बालक सहित गिर पड़ा॥१३॥

श्रीमद्भा. १०/७/३४-३६ में श्रीकृष्णके मुखमें विश्वरूपके दर्शनका इस प्रकार वर्णन किया गया है—

एकदार्भकमादाय स्वाङ्कमारोप्य भाविनी।
प्रस्नुतं पाययामास स्तनं स्नेहपरिप्लुता॥१४क॥

पीतप्रायस्य जननी सा तस्य रुचिरस्मितम्।
मुखं लालयती राजन् जृम्भतो ददृशे इदम्॥१४ख॥

खं रोदसी ज्योतिरनीकमाशाः
सूर्येन्दुवह्निश्वसनाम्बुधींश्च ।

द्वीपान् नगांस्तद्दुहितृर्वनानि
भूतानि यानि स्थिरजङ्गमानि ॥१५ ॥

एक दिन भाविनी अर्थात् अत्यधिक सुन्दर माता यशोदा स्नेहसे ओत-प्रोत होकर श्रीकृष्णको स्तनपान करा रही थीं। अभी माता आनन्दपूर्वक पुत्रके मुखका लालन कर ही रही थीं कि श्रीकृष्णको जँभाई आयी और माताने उसके मुखमें विश्वका दर्शन किया। उन्हें आकाश, ज्योति, दिशाएँ, सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु, समुद्र, समस्त द्वीप, पर्वत, नदियाँ, वन, जीवात्माएँ तथा स्थावर-जङ्गम—सब कुछ दिखायी दिया ॥१४-१५ ॥

श्रीमद्भा. १०/८/२१ और २६ में भगवान्के घुटुअन चलनेका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

कालेन व्रजताल्पेन गोकुले रामकेशवौ।
जानुभ्यां सह पाणिभ्यां रिङ्गमाणौ विजह्रतुः ॥१६ ॥

कुछ ही समयमें गोकुलमें बलराम तथा कृष्ण घुटनों और हाथोंके बल रेंकते हुए चलने लगे ॥१६ ॥

कालेनाल्पेन राजर्षे रामः कृष्णश्च गोकुले।
अघृष्टजानुभिः पद्भिर्विचक्रमतुरञ्जसा ॥१७ ॥

हे राजर्षे! थोड़े ही दिनोंमें राम-कृष्ण घुटनोंके बल चलना छोड़कर अनायास अपने पैरोंके बलपर गोकुलमें चलने लगे ॥१७ ॥

श्रीमद्भा. १०/८/२८-२९ में श्रीकृष्ण द्वारा कौमार अवस्थामें की गयी चपलताका इस प्रकार वर्णन है—

कृष्णस्य गोप्यो रुचिरं वीक्ष्य कौमारचापलम्।
शृण्वन्त्याः किल तन्मातुरिति होचुः समागताः ॥१८ ॥

कृष्णकी कौमारगत सुन्दर चपलताको देखकर सभी गोपियाँ यशोदाको सुनाकर कहने लगीं ॥१८ ॥

वत्सान् मुञ्चन् क्वचिदसमये क्रोशसञ्जातहासः
स्तेयं स्वाद्वत्त्यथ दधिपयः कल्पितैः स्तेययोगैः।
मर्कान् भोक्ष्यन् विभजति स चेन्नात्ति भाण्डं भिनत्ति
द्रव्यालाभे सगृहकुपितो यात्युपक्रोश्य तोकान्॥१९॥

हे यशोदे! तुम्हारा कृष्ण कभी-कभी हमारे घर आकर असमयमें ही बछड़ोंको खोल देता है और ठठा-ठठाकर हँसने लगता है। हमारे दही-दूधको बड़ी कुशलताके साथ चुरा-चुराकर आस्वादन करता है। यही नहीं, खानेके बाद बन्दरोंको भी खिलाता है। यदि वे भी नहीं खा पाते तो हमारे मटकोंको ही तोड़ डालता है। दूध-दही प्राप्त न होनेपर क्रोधपूर्वक सारे बालकोंको डाँट-डपटकर रुला देता है तथा स्वयं भाग जाता है॥१९॥

श्रीमद्भा. १०/९/८ में श्रीकृष्ण द्वारा की गयी माखन-चोरीका वर्णन इस प्रकार मिलता है—

उलूखलाङ्घ्रेरुपरि व्यवस्थितं
मर्काय कामं ददतं शिचि स्थितम्।
हैयङ्गवं चौर्यविशङ्कितेक्षणं
निरीक्ष्य पश्चात् सुतमागमच्छनैः॥२०॥

एक दिन श्रीकृष्ण ऊखलपर चढ़कर छींकेपर स्थित माखन लेकर बन्दरोंको बड़े प्रेमसे भरपेट खिला रहे थे। चोरी करते समय पकड़े जानेके डरसे इधर-उधर देखनेवाले पुत्रको ऐसा करते देखकर माता यशोदा धीरे-धीरे उसके पास आ पहुँचीं। (उन्हें देखकर कृष्ण भयभीत हो गये)॥२०॥

श्रीमद्भा. १०/९/१२, १५-१६, १८ और २० में माता यशोदा द्वारा श्रीकृष्णको उदूखलसे बाँधनेका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

त्यक्त्वा यष्टिं सुतं भीतं विज्ञायार्भकवत्सला।
इयेष किल तं बद्धुं दाम्नाऽतद्वीर्यकोविदा॥२१क॥

तद् दाम बध्यमानस्य स्वार्भकस्य कृतागसः।
द्व्यङ्गुलोनमभूत्तेन सन्दधेऽन्यच्च गोपिका॥२१ख॥

यदासीत् तदपि न्यूनं तेनान्यदपि सन्दधे।
तदपि द्व्यङ्गुलं न्यूनं यद् यदादत्त बन्धनम्॥२१ग॥

स्वमातुः स्विन्नगात्राया विस्रस्तकबरस्रजः।
दृष्ट्वा परिश्रमं कृष्णः कृपयासीत् स्वबन्धने॥२१घ॥

पुत्रको भयभीत देखकर माताने छड़ीको त्याग दिया तथा श्रीकृष्णके पराक्रमसे अनभिज्ञ होनेके कारण यशोदा उन्हें रस्सी द्वारा बाँधनेकी चेष्टा करने लगीं। जितनी बार भी माता भयभीत कृष्णको रस्सी द्वारा बाँधनेका प्रयास करती, रस्सी दो अङ्गुल छोटी पड़ जाती। तब माताका पसीनेसे लथपथ शरीर तथा खुला जूड़ा देखकर और उन्हें थकी हुई जानकर कृपापूर्वक श्रीकृष्णने स्वयं बन्धन स्वीकार कर लिया॥२१॥

नेमं विरिञ्चो न भवो न श्रीरप्यङ्गसंश्रया।
प्रसादं लेभिरे गोपी यत्तत् प्राप विमुक्तिदात्॥२२॥

विमुक्तिदाता श्रीकृष्णसे जैसे कृपा यशोदा माताने प्राप्त की, वैसी कृपा ब्रह्मा, शिव और अङ्ग (वक्षःस्थल) पर विराजमान श्रीदेवी (लक्ष्मी) को भी प्राप्त नहीं हुई है॥२२॥

श्रीमद्भा. १०/१०/२६-२७ में यमलार्जुन नामक वृक्षोंके गिरनेका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

इत्यन्तरेणार्जुनयोः कृष्णस्तु यमयोर्ययौ।
आत्मनिर्वेशमात्रेण तिर्यग्गतमुलूखलम्॥२३॥

श्रीकृष्णको बाँधनेके उपरान्त जिस समय माता यशोदा गृहकार्यमें व्यस्त हो गयी, उस समय अथवा जिस समय श्रीकृष्णके श्रीनारदजीके वचनोंकी सत्यताको सम्पादित करने हेतु मनमें विचार आया, उस समय वे अर्जुनके दोनों वृक्षोंके बीचमेंसे इस

प्रकार घुसकर दूसरी ओर गये कि ऊखल अपने आप तिरछा होकर वृक्षोंके बीचमें ही अटक गया॥२३॥

बालेन निष्कर्षयतान्वगुलूखलं तद्–
दामोदरेण तरसोत्कलिताङ्घ्रिबन्धौ।
निष्पेततुः परमविक्रमितातिवेप–
स्कन्धप्रवालविटपौ कृतचण्डशब्दौ॥२४॥

बाल कृष्णने जैसे ही ऊखलको तनिक जोरसे खींचा, वैसे ही दोनों वृक्षोंकी जड़ें उखड़ गयीं। वे प्रचण्ड शब्द करते हुए गिर पड़े और उन दोनों वृक्षोंके स्कन्ध[१] और शाखाएँ टूटकर इधर–उधर बिखर गयी॥२४॥

श्रीमद्भा. १०/१०/२८ और ३८ में नलकूबरके उद्धारका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

तत्र श्रिया परमया ककुभः स्फुरन्तौ
सिद्धावुपेत्य कुजयोरिव जातवेदाः।
कृष्णं प्रणम्य शिरसाखिललोकनाथं
बद्धाञ्जली विरजसाविदमूचतुः स्म॥२५॥

उन दोनों वृक्षोंमेंसे अग्निके समान तेजस्वी दो सिद्धपुरुष निकले तथा हाथ जोड़कर अखिल लोकनाथ श्रीकृष्णको प्रणाम करनेके उपरान्त, (जन्म, ऐश्वर्य, पाण्डित्य और सौन्दर्य आदिसे) उत्पन्न किसी भी प्रकारके अहङ्कारसे रहित अपने मुक्तस्वरूप द्वारा प्रार्थना करने लगे॥२५॥

वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायां
हस्तौ च कर्मसु मनस्तव पादयोर्नः।
स्मृत्यां शिरस्तव निवासजगत्प्रणामे
दृष्टिः सतां दर्शनेऽस्तु भवत्तनूनाम्॥२६॥

---

[१] वृक्षके तनेका ऊपरी भाग जिसमेंसे डालियाँ निकलती हैं।

हे नाथ! हमारी वाणी आपके गुणानुकथनमें, हमारे कर्ण आपकी कथाके श्रवणमें, हमारा मन आपकी सेवामें, हमारा मस्तक जगत्-निवास स्वरूप (निखिल ब्रह्माण्डमें अन्तर्यामीके रूपमें रहनेवाले) आपको प्रणाम करनेमें तथा हमारी दृष्टि आपके श्रीविग्रह और वैष्णवोंके दर्शनोंमें नियुक्त रहे॥२६॥

श्रीमद्भा. १०/१०/४२ में भगवान् श्रीकृष्ण नलकूबरसे कहते हैं—

तद् गच्छतं मत्परमौ नलकूबर सादनम्।
सञ्जातो मयि भावो वामीप्सितः परमोऽभवः॥२७॥

हे नलकूबर! तुमलोग मेरे परायण होकर अपने घर जाओ। तुम्हारे हृदयमें मेरे प्रति परम वाञ्छित भाव उदित हुआ है, इस भावके द्वारा ही भव-बन्धन सम्पूर्ण रूपसे विनष्ट होता है॥२७॥

श्रीमद्भा. १०/११/२७-२८ में वृन्दावन गमनके सन्दर्भमें श्रीउपानन्द नन्दादि गोपोंसे कहने लगे—

यावदौत्पातिकोऽरिष्टो व्रजं नाभिभवेदितः।
तावद् बालानुपादाय यास्यामोऽन्यत्र सानुगाः॥२८॥

अनिष्टकारी अरिष्टके उत्पातसे व्रजके नष्ट होनेसे पहले ही हम कृष्ण-बलराम सहित सभी अनुगत जनोंको लेकर किसी अन्य स्थानपर चले जायेंगे॥२८॥

वनं वृन्दावनं नाम पशव्यं नवकाननम्।
गोपगोपीगवां सेव्यं पुण्याद्रितृणवीरुधम्॥२९॥

वृन्दावन नामक वन पशुओंके निर्वाहके लिए उपयोगी स्थान है। यह वृन्दावन नये-नये उपवनों तथा गो-गोप-गोपियोंके सेवनीय फल-फूलोंसे लदे हुए वृक्ष, पुण्यमय पर्वत अर्थात् गोवर्द्धन, घास और हरी-भरी लता-वनस्पतियोंसे पूर्ण है॥२९॥

श्रीमद्भा. १०/११/३५-४० में वृन्दावन आगमनका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

वृन्दावनं सम्प्रविश्य सर्वकालसुखावहम्।
तत्र चक्रुर्व्रजावासं शकटैरर्धचन्द्रवत्॥३०क॥

वृन्दावनं गोवर्धनं यमुनापुलिनानि च।
वीक्ष्यासीदुत्तमा प्रीति राममाधवयोर्नृप॥३०ख॥

सदैव बड़े ही सुहावने रहनेवाले वृन्दावनमें प्रविष्ट होकर ग्वालोंने अपने छकड़ोंको अर्द्धचन्द्राकार मण्डल बाँधकर खड़ा कर लिया तथा वहाँ अपने और गायोंके रहने योग्य स्थान बना लिया। हे राजन्! यमुना नदीके सुन्दर-सुन्दर पुलिनोंसे सुशोभित तथा अत्यन्त मनोहर गोवर्धन पर्वतसे संयुक्त श्रीवृन्दावनका दर्शन करके श्रीकृष्ण और बलरामके हृदयमें बड़ा ही आनन्द हुआ॥३०॥

एवं व्रजौकसां प्रीतिं यच्छन्तौ बालचेष्टितैः।
कलवाक्यैः स्वकालेन वत्सपालौ बभूवतुः॥३१क॥

अविदूरे व्रजभुवः सह गोपालदारकैः।
चारयामासतुर्वत्सान् नानाक्रीडापरिच्छदौ॥३१ख॥

क्वचिद् वादयतो वेणुं क्षेपणैः क्षिपतः क्वचित्।
क्वचित् पादैः किङ्किणीभिः क्वचित् कृत्रिमगोवृषैः॥३१ग॥

वृषायमाणौ नर्दन्तौ युयुधाते परस्परम्॥३१घ॥

अपनी बाल-चेष्टित लीलाओं तथा तोतली बोलीसे व्रजवासियोंकी प्रीतिको संग्रह करते हुए यथासमयमें कृष्ण-बलराम बछड़े चरानेवाले बन गये। अनेक प्रकारकी लीलाओंके उपकरणोंको अपने साथ लेकर व्रजभूमि वृन्दावनके पास ही गोपबालकोंके साथ बछड़े चराने लगे। कभी वंशीवादन द्वारा, कभी गुलेलसे गोलियाँ फेंकते हुए, कभी अपने पैरोंके घुँघरूओंपर तान छेड़ते हुए, कभी बनावटी गाय और बैल बनकर खेलते हुए, कभी परस्पर बैल बनकर बहुत जोर-जोरकी आवाजें करते हुए, परस्पर एक-दूसरेके साथ युद्ध करते हुए खेलने लगते॥३१॥

श्रीमद्भा. १०/११/४१-४४ में वत्सासुरके वधका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

वयस्यैः कृष्णबलयोर्जिघांसुर्दैत्य आगमत्॥

तं वत्सरूपिणं वीक्ष्य वत्सयूथगतं हरिः॥

गृहीत्वापरपादाभ्यां सहलाङ्गूलमच्युतः।
भ्रामयित्वा कपित्थाग्रे प्राहिणोद् गतजीवितम्।

तं वीक्ष्य विस्मिता बालाः शशंसुः साधुसाध्विति॥३२॥

एक दिन व्रजमें श्रीकृष्ण, श्रीबलदेव और सखाओंको मारनेके अभिप्रायसे एक दैत्य आकर उपस्थित हुआ। बछड़ोंके यूथमें उस वत्सरूपी असुरको देखकर श्रीकृष्णने उसके पीछेके दोनों पैरोंको पूँछ सहित घुमाते-घुमाते मारकर कैथके वृक्षपर पटक दिया। गोपबालक उसे देखकर विस्मित हो गये और साधु-साधु कहकर प्रशंसा करने लगे॥३२॥

श्रीमद्भा. १०/११/४७-४८ और ५०-५१ में बकासुरके वधका इस प्रकार वर्णन किया गया है—

ते तत्र ददृशुर्बाला महासत्त्वमवस्थितम्।
तत्रसुर्वज्रनिर्भिन्नं गिरेः शृङ्गमिव च्युतम्॥३३क॥

स वै बको नाम महानसुरो बकरूपधृक्।
आगत्य सहसा कृष्णं तीक्ष्णतुण्डोऽग्रसद् बली॥३३ख॥

एक दिन गोपबालकोंने बछड़ोंको चराते हुए वज्र द्वारा खण्डित पहाड़के शृङ्ग (चोटी) के समान दिखायी देनेवाले एक बहुत भयानक जीवको बैठे हुए देखा। यह बकासुर नामक एक महाबलवान असुर था, जो बगुलेका रूप धारण करके आया था। उसने बड़ी तेजीसे झपटकर अपने तीक्ष्ण चोंचसे श्रीकृष्णको निगल लिया॥३३॥

तं तालुमूलं प्रदहन्तमग्निवद् गोपालसूनुं पितरं जगद्गुरोः।
चच्छर्द सद्योऽतिरुषाक्षतं बकः तुण्डेन हन्तुं पुनरभ्यपद्यत॥३४॥

बकासुरने जैसे ही अनुभव किया कि उसका तालु अग्निके समान दग्ध हो रहा है, उसने साथ ही साथ जगद्गुरु (ब्रह्मा) के पिता (श्रीनारायणसे अभिन्न) गोपात्मज श्रीकृष्णको क्रोधपूर्वक बाहर उगल दिया तथा पुनः अपनी चोंच द्वारा उनपर आघात करनेके लिए आगे बढ़ा॥३४॥

तमापतन्तं स निगृह्य तुण्डयोर्दोर्भ्यां बकं कंससखं सतां पतिः।
पश्यत्सु बालेषु ददार लीलया मुदावहो वीरणवद् दिवौकसाम्॥३५॥

कंसका सखा बकासुर श्रीकृष्णपर झपट ही रहा था कि साधुओंकी गति श्रीकृष्णने अपने दोनों हाथोंसे उसकी दोनों चोंच पकड़कर गोपबालकोंके देखते-ही-देखते लीलापूर्वक तृणके समान विदीर्ण कर डाला। यह देखकर देवतागण परम आह्लादित हुए॥३५॥

श्रीमद्भा. १०/१२/१, ३, ६, ८, १० और १२ में श्रीकृष्ण द्वारा की गयी बालकोचित लीलाओंका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

क्वचिद् वनाशाय मनो दधद् व्रजात्
प्रातः समुत्थाय वयस्यवत्सपान्।
प्रबोधयन् शृङ्गरवेण चारुणा
विनिर्गतो वत्सपुरःसरो हरिः॥३६॥

किसी समय प्रातःकाल श्रीकृष्णने अपने सखा ग्वालबालोंको सिङ्गी (सीङ्गके बने बिगुल) की मधुर-मनोहर ध्वनिसे जगाकर बछड़ोंके साथ वनमें ही कलेवा करनेके लिए गमन किया॥३६॥

कृष्णवत्सैरसंख्यातैर्यूथीकृत्य स्ववत्सकान्।
चारयन्तोऽर्भलीलाभिर्विजह्रुस्तत्र तत्र ह॥३७॥

श्रीकृष्णके असंख्य बछड़े थे तथा गोपबालकोंके भी पृथक्-पृथक् अनेक बछड़े थे। (गोपबालकोंने अपने बछड़ोंको श्रीकृष्णके

असंख्य बछड़ोंके साथ एकत्रित करनेके उपरान्त) उन सब बछड़ोंको यूथ-यूथमें विभाग किया तथा फिर प्रत्येक यूथको अलग-अलग गोपबालकोंने लेकर (आगे-पीछे चलते हुए) एक वनसे दूसरे वनमें विहार किया॥३७॥

यदि दूरं गतः कृष्णो वनशोभेक्षणाय तम्।
अहं पूर्वमहं पूर्वमिति संस्पृश्य रेमिरे॥३८॥

यदि कृष्ण वनकी शोभा देखते-देखते कुछ दूर चले जाते, तो "पहले मैं छूऊँगा, पहले मैं छूऊँगा", इस प्रकार आपसमें होड़ लगाकर सब-के-सब ग्वालबाल श्रीकृष्णकी ओर दौड़ पड़ते तथा उन्हें स्पर्श करके आनन्दमग्न हो जाते॥३८॥

विच्छायाभिः प्रधावन्तो गच्छन्तः साधु हंसकैः।
बकैरुपविशन्तश्च नृत्यन्तश्च कलापिभिः॥३९॥

कभी-कभी वे पक्षियोंकी छायाके साथ-साथ दौड़ने लगते, कभी धीरे-धीरे हंसकी गतिका अनुकरणकर उनके साथ चलते, कभी बगुलेके साथ ही बैठ जाते और कभी मयूरके साथ नृत्य करने लगते॥३९॥

साकं भेकैर्विलङ्घन्तः सरित्प्रस्त्रवसम्प्लुताः।
विहसन्तः प्रतिच्छायाः शपन्तश्च प्रतिस्वनान्॥४०॥

कभी-कभी मेंढकके साथ-साथ उसकी भाँति फुदकने लगते, कभी स्रोत अर्थात् नदीके प्रवाहमें तैरते, कभी अपनी ही प्रतिच्छाया (परछाई) का परिहास करते तथा शाप देते हुए प्रतिबिम्बित शब्दों अर्थात् प्रतिध्वनिके साथ विवाद करते॥४०॥

यत्पादपांसुर्बहुजन्मकृच्छ्रतो
धृतात्मभिर्योगिभिरप्यलभ्यः।
स एव यद्दृग्विषयः स्वयं स्थितः
किं वर्ण्यते दिष्टमहो व्रजौकसाम्॥४१॥

बहुत जन्मोंके तपादिके कठोर क्लेशके द्वारा अपनी इन्द्रियोंको वशीभूत करनेवाले योगीगण जिनकी चरणरेणुको प्राप्त करनेमें सक्षम नहीं होते, वही स्वयं भगवान् जिनकी आँखोंके दर्शनका विषय होकर रहते हैं, उन व्रजवासियोंके सौभाग्यका और क्या वर्णन करूँ? ॥४१॥

श्रीमद्भा. १०/१२/१३–१४, १६, २८–३१ और ३६ में अघासुरके वधका इस प्रकार वर्णन किया गया है—

अथाघनामाभ्यपतन्महासुरस्तेषां सुखक्रीडनवीक्षणाक्षमः।
नित्यं यदन्तर्निजजीवितेप्सुभिः पीतामृतैरप्यमरैः प्रतीक्ष्यते ॥४२॥

अनन्तर उनकी सुखमयी विहारक्रीड़ाको देखनेमें असहिष्णु होकर महाभयङ्कर अघासुर वहाँ उपस्थित हुआ। वह इतना भयङ्कर था कि अमृत पान करनेवाले अमर देवता भी उसके हाथोंसे अपने जीवनकी रक्षाके लिए सदैव सतर्क रहते थे॥४२॥

दृष्ट्वार्भकान् कृष्णमुखानघासुरः कंसानुशिष्टः स बकीबकानुजः।
अयं तु मे सोदरनाशकृत्तयोर्द्वयोर्ममैनं सबलं हनिष्ये ॥४३॥

श्रीकृष्णके अनुगत गोपबालकोंको देखकर कंसका अनुगत, बक तथा पूतनाका छोटा भाई अघासुर विचार करने लगा कि इसी कृष्णने ही मेरे सगे भाई और बहिनको मार डाला है। अतः उन दोनोंके बदले मैं आज बलदेवके साथ इस कृष्णका वध कर डालूँगा॥४३॥

इति व्यवस्याजगरं बृहद् वपुः
स योजनायाममहाद्रिपीवरम्।
धृत्वाद्भुतं व्यात्तगुहाननं तदा
पथि व्यशेत ग्रसनाशया खलः ॥४४॥

इस प्रकार निश्चय करके वह दुष्ट असुर महापर्वतके समान स्थूल, एक योजन विस्तृत बृहत् अजगरका शरीर धारणकर मुख

फाड़ करके कृष्णको निगलनेकी आशासे मार्गके बीचमें ही लेट गया॥४४॥

कृत्यं किमत्रास्य खलस्य जीवनं
न वा अमीषां च सतां विहिंसनम्।
द्वयं कथं स्यादिति संविचिन्त्य
ज्ञात्वाविशत्तुण्डमशेषदृग्घरिः ॥४५॥

भूत, भविष्य तथा वर्त्तमानको जाननेवाले श्रीकृष्ण "इस दुष्टके जीवनका नाश भी हो जाये और सन्त-स्वभाववाले भोले-भाले बालकोंकी हिंसा भी न हो", ऐसा क्या किया जा सकता है? यह विचार करनेके उपरान्त उसके मुखके भीतर प्रवेश कर गये॥४५॥

तदा घनच्छदा देवा भयाद्धाहेति चुक्रुशुः।
जहृषुर्ये च कंसाद्याः कौणपास्त्वघबान्धवाः॥४६॥

उस समय बादलोंकी ओटमें छिपे हुए देवता हाहाकार करके चीत्कार करने लगे तथा अघासुरके बान्धव कंसादि राक्षस आनन्द प्रकट करने लगे॥४६॥

तच्छ्रुत्वा भगवान् कृष्णस्त्वव्ययः सार्भवत्सकम्।
चूर्णीचिकीर्षोरात्मानं तरसा ववृधे गले॥४७॥

अविनाशी भगवान् श्रीकृष्णने इस हाहाकार ध्वनिको सुनकर गोवत्स एवं गोपबालकों सहित उन्हें शीघ्र ही मार देनेकी इच्छा करनेवाले अघासुरके गलेमें अपने आपको वर्धित करना आरम्भ कर दिया॥४७॥

ततोऽतिकायस्य निरुद्धमार्गिणो
ह्युद्गीर्णदृष्टेर्भ्रमतस्त्वितस्ततः ।
पूर्णोऽन्तरङ्गे पवनो निरूद्धो
मूर्धन् विनिर्भिद्य विनिर्गतो बहिः॥४८॥

इससे विशाल शरीरवाले उस असुरका गला रुद्ध हो गया, श्वास-प्रश्वास बन्द हो गया, उसकी दोनों आँखें बाहर निकल आयीं एवं वह व्याकुल होकर छटपटाने लगा। श्रीकृष्णने अपने आपको इतना बड़ा कर लिया कि अघासुरकी श्वास रुक गयी और अन्तमें उसके प्राण ब्रह्म-रन्ध्रको भेदकर बाहर निकल आये ॥४८॥

राजन्नाजगरं चर्म शुष्कं वृन्दावनेऽद्भुतम्।
व्रजौकसां बहुतिथं बभूवाक्रीडगह्वरम् ॥४९॥

हे राजन्! उस अजगरका शुष्क चर्म बहुत समय तक वृन्दावनमें अद्भुत रूपसे व्रजवासियोंके लिए क्रीड़ाकी गुफा बन गया ॥४९॥

श्रीमद्भा. १०/१३/५-६, ८ और ११-१३ में श्रीकृष्णने गोपबालकोंसे कहा—

अहोऽतिरम्यं पुलिनं वयस्याः
स्वकेलिसम्पन्मृदुलाच्छबालुकम् ।
स्फुटत्सरोगन्धहृतालिपत्रिक-
ध्वनिप्रतिध्वानलसद्द्रुमाकुलम् ॥५०॥

मेरे प्रिय मित्रो! अहो! यमुनाका यह पुलिन अति रमणीय है। यहाँ हमारी केलि-सम्पद्स्वरूप (सब प्रकारकी क्रीड़ाओंके उपकरणोंसे विभूषित) कोमल और निर्मल-बालुका विद्यमान है। सरोवरमें प्रस्फुटित नवजात कमलोंकी गन्धसे आकृष्ट भ्रमरों तथा पक्षियोंकी ध्वनि-प्रतिध्वनिसे सभी वृक्ष सुशोभित हो रहे हैं ॥५०॥

अत्र भोक्तव्यमस्माभिर्दिवारूढं क्षुधार्दिताः।
वत्सा समीपेहपः पीत्वा चरन्तु शनकैस्तृणम् ॥५१॥

अब हमलोगोंको भूख लग रही है, अतः हमें यहींपर भोजन कर लेना चाहिये, क्योंकि दिन भी बहुत चढ़ आया है। (जब

तक हम भोजन करते हैं, तब तक) बछड़े भी निकटस्थ तृणको धीरे-धीरे चरेंगे और यमुनाका जल भी पान करेंगे॥५१॥

कृष्णस्य विष्वक् पुरुराजिमण्डलै-
रभ्याननाः फुल्लदृशो व्रजार्भकाः।
सहोपविष्टा विपिने विरेजु-
श्छदा यथाम्भोरुहकर्णिकायाः॥५२॥

उस विपिनमें सखाओंके बीचमें श्रीकृष्ण बैठ गये। उनके चारों ओर ग्वाल-बालोंने बहुत-सी मण्डलाकार पंक्तियाँ बना लीं। सबके मुख विकसित नेत्रोंवाले श्रीकृष्णकी ओर थे (यदि प्रश्न हो कि यह कैसे सम्भव है? तो उसका उत्तर यह है कि प्रीतिवशतः सभीके सामने बैठकर उनके द्वारा लाये गये भोजनका आस्वादन करनेकी इच्छा करनेवाले भगवान्‌की सत्य संकल्पतारूपी शक्ति द्वारा अचिन्त्यवैभवके कारण उस समय मुख आदि अङ्गसमूह सब ओर ही प्रकाशित होने लगे।) उस वन भोजनके समय श्रीकृष्णके साथ बैठे हुए सखागण ऐसे सुशोभित हो रहे थे, मानो कमलकी कर्णिकाके चारों ओर उसकी छोटी-बड़ी पँखुड़ियाँ सुशोभित हो रही हों॥५२॥

बिभ्रद् वेणुं जठरपटयोः शृङ्गवेत्रे च कक्षे
वामे पाणौ मसृणकवलं तत्फलान्यङ्गुलीषु।
तिष्ठन् मध्ये स्वपरिसुहृदो हासयन् नर्मभिः स्वैः
स्वर्गे लोके मिषति बुभुजे यज्ञभुग् बालकेलिः॥५३॥

यज्ञोंके एकमात्र भोक्ता बालकेलिपरायण श्रीकृष्ण कमरकी फेंट (कमरपर लपेटे गये कपड़े) में वेणु, बाँये हाथकी बगलमें शृङ्ग और वेत्र, बाँये हाथकी अङ्गुलियोंपर बिल्व आदि फल (तथा हाथकी हथेलीपर बड़ा ही मधुर दही-भातका बृहत् कवल रखकर) चारों ओर स्थित मित्रोंको विनोद भरी बातोंसे हँसाते हुए दाँये हाथ द्वारा (छोटे-छोटे ग्रास लेकर) भोजन करने लगे। स्वर्गके देवता आश्चर्यचकित होकर प्रभुकी यह अद्भुत लीला देख रहे थे॥५३॥

भारतैवं वत्सपेषु भुञ्जानेष्वच्युतात्मसु।
वत्सास्त्वन्तर्वने दूरं विविशुस्तृणलोभिताः॥५४॥

हे भारत (परीक्षित्)! जिस समय श्रीकृष्ण और ग्वालबाल ऐसा भोजन विहार अभी कर ही रहे थे, कि उसी समय बछड़े हरी-भरी घासके लोभसे दूर वनमें प्रवेश कर गये॥५४॥

तान् दृष्ट्वा भयसंत्रस्तानूचे कृष्णोऽस्य भीभयम्।
मित्राण्याशान्मा विरमते हा नेष्ये वत्सकानहम्॥५५॥

जब ग्वालबालोंने वहाँ बछड़ोंको नहीं देखा, तब तो वे भयभीत हो गये। उस समय उनके भयका हरण करनेवाले श्रीकृष्णने उनसे कहा—"मेरे प्यारे भाइयो (सखाओ)!! तुमलोग भोजन करो, मैं अभी सारे बछड़ोंको लेकर आता हूँ॥"५५॥

श्रीमद्भा. १०/१३/१५ में श्रीकृष्णके दूर चले जानेपर ब्रह्मा द्वारा किये गये कार्यका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

अम्भोजन्मजनिस्तदन्तरगतो मायार्भकस्येशितु-
र्द्रष्टुं मञ्जुमहित्वमन्यदपि तद्वत्सानितो वत्सपान्।
नीत्वान्यत्र कुरूद्वहान्तरदधात् खेऽवस्थितो यः पुरा
दृष्ट्वाघासुरमोक्षणं प्रभवतः प्राप्तः परं विस्मयम्॥५६॥

हे कुरुवर (परीक्षित्)! श्रीकृष्णके दूर चले जानेपर पद्मयोनि ब्रह्मा उस समय वहाँ आये और माया-बालक अर्थात् सबको मोहित करनेवाले बाल्यलीला परायण श्रीकृष्णकी किसी और महिमाशाली मधुरलीला देखनेकी अभिलाषासे उस स्थान (वन तथा यमुना-पुलिन) से बछड़ों तथा ग्वालबालोंको अन्यत्र ले जाकर छिपा दिया तथा स्वयं अन्तर्धान हो गये। श्रीब्रह्माके इस कार्यमें प्रवृत्त होनेका कारण यह था कि वे श्रीकृष्णकी अघासुर मोचनलीलाके दर्शनसे परम विस्मित हो गये थे॥५६॥

श्रीमद्भा. १०/१३/१८-१९ में श्रीकृष्ण द्वारा स्वयंको ग्वालबालकों और बछड़ोंके रूपमें प्रकट करनेका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

ततः कृष्णो मुदं कर्तुं तन्मातृणाञ्च कस्य च।
उभयायितमात्मानं चक्रे विश्वकृदीश्वरः ॥५७॥

अखिल विश्वकर्त्ता परमेश्वर श्रीकृष्णने गोपबालकों (और बछड़ों) की माताओं और ब्रह्माके आनन्दको वर्द्धित करनेके लिए अपने आपको ही ग्वालबालकों तथा बछड़ों—दोनोंके रूपमें प्रकट किया ॥५७॥

यावद्वत्सपवत्सकाल्पकवपुर्यावत् कराङ्घ्र्यादिकं
यावद् यष्टिविषाणवेणुदलशिग् यावद्विभूषाम्बरम्।
यावच्छीलगुणाभिधाकृतिवयो यावद् विहारादिकं
सर्वं विष्णुमयं गिरोऽङ्गवदजः सर्वस्वरूपो बभौ ॥५८॥

वे बछड़े और गोपबालक संख्यामें जितने थे, जिस परिमाणमें छोटा-बड़ा उनका शरीर था, जैसे-जैसे हाथ-पैर इत्यादि अङ्ग थे, जैसे उनके बेंत, सिङ्गा, वेणु, छींके, आभूषण, वस्त्र, स्वभाव, गुण, नाम, आकृति, अवस्था और विहारादि थे—श्रीकृष्ण वैसे ही बन गये। (यह सम्पूर्ण जगत् विष्णुमय है।) इस वेदवाणीके अर्थस्वरूप स्वयंको श्रीकृष्णने प्रकाशित कर दिया ॥५८॥

श्रीमद्भा. १०/१३/२६-२७ में व्रजवासियोंके श्रीकृष्ण एवं अपने बालकोंमें समान स्नेहका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

व्रजौकसां स्वतोकेषु स्नेहवल्ल्याब्दमन्वहम्।
शनैर्निःसीम ववृधे यथा कृष्णे त्वपूर्ववत् ॥५९॥

यशोदानन्दन श्रीकृष्णमें व्रजवासियोंका जिस प्रकारका स्नेह था, अपने-अपने पुत्रोंके प्रति उनकी वैसी ही स्नेह-वल्लरी एक वर्ष तक प्रतिदिन क्रमशः असीम होकर बढ़ती चली गयी ॥५९॥

इत्थमात्मात्मनात्मानं वत्सपालमिषेण सः।
पालयन् वत्सपो वर्षं चिक्रीडे वनगोष्ठयोः ॥६०॥

सर्वात्मा श्रीकृष्णने आत्मशक्तिके द्वारा प्रकटित अपने गोपबालकरूप सहित वत्सरूपी स्वयंका पालन करते हुए एक वर्ष तक वन एवं गोष्ठमें क्रीड़ा की॥६०॥

ऐसा देखकर श्रीबलदेव प्रभुने जो विचार किया, श्रीमद्भा. १०/१३/३६-३७ में उसका इस प्रकार वर्णन है—

किमेतदद्भुतमिव वासुदेवेऽखिलात्मनि।
व्रजस्य सात्मनस्तोकेष्वपूर्वं प्रेम वर्धते॥६१॥

अहो! यह कैसा आश्चर्य। अखिलात्मा वासुदेवमें व्रजवासियोंका (स्वाभाविक प्रेम विद्यमान है; किन्तु इस समय उनका) अपने-अपने पुत्रोंके प्रति भी अपूर्व प्रेम वर्धित हो रहा है, बड़ी अद्भुत बात है॥६१॥

केयं वा कुत आयाता दैवी वा नार्युतासुरी।
प्रायो मायास्तु मे भर्तुर्नान्या मेऽपि विमोहिनी॥६२॥

यह माया क्या दैवी, मानुषी या फिर आसुरी है! यह कहाँसे आयी? ऐसा प्रतीत होता है कि यह मेरे प्रभु श्रीकृष्णकी ही माया है, क्योंकि दूसरेकी माया मुझे विमोहित नहीं कर सकती॥६२॥

श्रीकृष्णसे समस्त वृत्तान्त सुनकर बलदेव प्रभु बड़े विस्मित हुए। इसके बाद जो हुआ, उसका श्रीमद्भा. १०/१३/४० और ४४-४५ में इस प्रकार वर्णन है—

तावदेत्यात्मभूरात्ममानेन त्रुट्यनेहसा।
पुरोवदाब्दं क्रीडन्तं ददृशे सकलं हरिम्॥६३॥

उसी समय आत्मभू (आत्म-स्वरूप श्रीहरिसे उत्पन्न) ब्रह्माने अपने कालमानसे एक त्रुटि[१] कालके व्यतीत होते-न-होते ही

---

[१] एक त्रुटि=०.०००५९३ सेकंड, उतना समय, जितनी देरमें सुईसे कमलकी पँखुड़ीमें छिद्र होता है।

वहाँ उपस्थित होकर एक वर्षसे अपने कला अर्थात् अंश स्वरूप समस्त बछड़ों और सखाओंके साथ पूर्वकी ही भाँति लीला करते हुए श्रीकृष्णको देखा॥६३॥

एवं सम्मोहयन् विष्णुं विमोहं विश्वमोहनम्।
स्वयैव माययाजोऽपि स्वयमेव विमोहितः॥६४॥

सम्पूर्ण विश्वको मोहित कर देनेवाले विश्वमोहन विष्णुको सम्मोहित करने जाकर जन्मरहित ब्रह्मा स्वयं ही उनकी मायाके द्वारा विमोहित हो गये॥६४॥

तम्यां तमोवन्नैहारं खद्योतार्चिरिवाहनि।
महतीतरमायैश्यं निहन्त्यात्मनि युञ्जतः॥६५॥

दिनमें अर्थात् सूर्यके प्रकाशके समक्ष जिस प्रकार जुगनूकी प्रभा विलुप्त हो जाती है तथा रातमें रात्रिके अन्धकारके समक्ष जैसे कुहरेसे होनेवाला अन्धकार अदृष्ट अर्थात् प्रभावहीन रहता है, उसी प्रकार आत्मस्वरूप श्रीकृष्णमें किसी दूसरेकी निकृष्ट माया प्रयुक्त होनेपर कुछ भी नहीं कर पाती, बल्कि भगवान्‌की महतीतर (अधिक बलशाली) मायाके द्वारा स्वयं ही विलुप्त हो जाती है॥६५॥

श्रीब्रह्माने क्या देखा। श्रीमद्भा. १०/१३/५४ और ५९-६२ में ब्रह्ममोहनका वर्णन इस प्रकार हुआ है—

सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैकरसमूर्तयः ।
अस्पृष्टभूरिमाहात्म्या अपि ह्युपनिषद्दृशाम्॥६६॥

तब भक्तिपूर्वक चिन्तन करनेपर ब्रह्माने देखा कि श्रीकृष्णतत्त्व ही सर्वोत्तम है। उनमें जो रसवैचित्र्य है, वह सब कुछ ही सत्यज्ञान, अनन्त और एकमात्र आनन्दकी रसमूर्त्ति है। यहाँ तक कि उपनिषद्‌की दृष्टिमें भी उनकी अनन्त महिमा अस्पृष्ट है॥६६॥

सपद्येवाभितः पश्यन् दिशोऽपश्यत् पुरःस्थितम्।
वृन्दावनं जनाजीव्यद्रुमाकीर्णं समाप्रियम्॥६७क॥

यत्र नैसर्गदुर्वैराः सहासन् नृमृगादयः।
मित्राणीवाजितावासद्रुतरुट्तर्षकादिकम् ॥६७ख॥

(मोहित होनेके उपरान्त जब श्रीब्रह्माको बाह्यज्ञान हुआ तो) उन्होंने तत्क्षणात् चारों ओर दृष्टिपात करके अपने सामने वृन्दावनवासियोंकी जीविकाके उपायस्वरूप वृक्षोंसे परिपूर्ण, सभी ऋतुओंमें सुखदायक वृन्दावनको देखा। उन्होंने देखा कि स्वाभाविक वैरादि भावसे युक्त मनुष्य, मृगादि वहाँपर मैत्रीभावसे वास कर रहे हैं। वृन्दावन नित्य ही श्रीकृष्णकी आवासभूमि है। वहाँ क्रोध और लोभादि हैं ही नहीं॥६७॥

तत्रोद्वहत् पशुपवंशशिशुत्वनाट्यं
ब्रह्माद्वयं परमनन्तमगाधबोधम्।
वत्सान् सखीनिव पुरा परितो विचिन्व-
देकं सपाणिकवलं परमेष्ठ्यचेष्ट॥६८॥

परमेष्ठी ब्रह्माने यह भी देखा कि उस वृन्दावनमें अद्वय ब्रह्म, अगाध ज्ञानस्वरूप, अनन्त गुणोंसे विभूषित, परतत्त्वकी सीमा होकर भी श्रीकृष्ण गोपवंशके बालक जैसे अभिनय करते हुए अपने सखाओं और बछड़ोंको पूर्वकी भाँति अपने हाथमें दही-भातका कवल लिये हुए चारों ओर ढूँढ़ रहे हैं॥६८॥

दृष्ट्वा त्वरेण निजधोरणतोऽवतीर्य
पृथ्व्यां वपुः कनकदण्डमिवाभिपात्य।
स्पृष्ट्वा चतुर्मुकुटकोटिभिरङ्घ्रियुग्मं
नत्वा मुदश्रुसुजलैरकृताभिषेकम्॥६९॥

श्रीकृष्णको देखकर ब्रह्माने शीघ्र ही अपने वाहन हंससे उतरकर कनक (सोनेके समान चमकते हुए अपने शरीर द्वारा) दण्डके समान पृथ्वीपर गिरकर चारों मस्तकोंपर स्थित मुकुटोंके अग्र भागसे उनके श्रीचरणयुगलोंको स्पर्श करते हुए नमस्कार

किया तथा आनन्दाश्रुओंके द्वारा उन श्रीचरणारविन्दोंका अभिषेक किया॥६९॥

श्रीमद्भा. १०/१४/११ और ३९ में श्रीब्रह्मा द्वारा श्रीकृष्णसे की गयी प्रार्थनाका वर्णन इस प्रकार है—

क्वाहं तमोमहदहं खचराग्निवार्भूसंवेष्टिताण्डघटसप्तवितस्तिकायः।
क्वेदृग्विधाविगणिताण्डपराणुचर्यावाताध्वरोमविवरस्य च ते महित्वम्॥७०॥

हे श्रीकृष्ण! कहाँ तो प्रकृति, महतत्त्व, अहङ्कार, आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वीरूप आवरणोंसे घिरे हुए ब्रह्माण्डरूपी घटके मध्यवर्ती, सप्तवितस्ति परिमित (अपने परिमाणसे साढ़े तीन हाथका) शरीर धारण करनेवाला मेरे जैसा अत्यन्त क्षुद्र ब्रह्मा और कहाँ आपकी अनन्त महिमा! जिनके प्रत्येक रोमकूप-रूपी गवाक्षके पथमें ऐसे अगणित ब्रह्माण्ड परमाणुके समान विचरण करते रहते हैं अर्थात् आपके एक-एक रोमकूपमें ऐसे-ऐसे अगणित ब्रह्माण्ड उसी प्रकार उड़ते-फिरते रहते हैं, जिस प्रकार झरोखेकी जालीमें आनेवाली सूर्यकी किरणोंमें छोटे-छोटे परमाणु उड़ते हुए दिखायी पड़ते हैं॥७०॥

अनुजानीहि मां कृष्ण सर्वं त्वं वेत्सि सर्वदृक्।
त्वमेव जगतां नाथो जगदेतत्तवार्पितम्॥७१॥

हे श्रीकृष्ण! आप सर्वदर्शी हैं, अतएव सब कुछ जानते हैं। मुझे अपने अनुगत दासके रूपमें स्वीकार कीजिये। आप समस्त जगत्के नाथ हैं। यह जगत् आपने ही मुझे अर्पित किया है॥७१॥

श्रीमद्भा. १०/१५/२०-२२, ३२ और ४० में श्रीबलदेव द्वारा किये गये धेनुकासुरके वधका इस प्रकार वर्णन किया गया है—

श्रीदामा नाम गोपालो रामकेशवयोः सखा।
सुबलस्तोककृष्णाद्या गोपाः प्रेम्णेदमब्रुवन्॥७२क॥

राम राम महाबाहो कृष्ण दुष्टनिबर्हण।
इतोऽविदूरे सुमहद् वनं तालालिसङ्कुलम्॥७२ख॥

फलानि तत्र भूरीणि पतन्ति पतितानि च।
सन्ति किन्त्ववरुद्धानि धेनुकेन दुरात्मना॥७२ग॥

एक दिन श्रीबलराम और श्रीकृष्णके प्रधान सखा श्रीदामा, सुबल तथा स्तोककृष्ण आदि ग्वालबालोंने प्रेमपूर्वक कहा—हे महाबलवान बलराम! हे दुष्टोंका नाश करनेवाले श्रीकृष्ण! इस स्थानसे थोड़ी ही दूरीपर ताल वृक्षोंकी पंक्तियोंसे सुशोभित एक विशाल वन है। उस स्थानपर अनेक पके हुए फल गिरे पड़े हैं और गिर रहे हैं, किन्तु दुरात्मा धेनुकासुरने उन सब फलोंपर रोक लगा रखी है अर्थात् वह वहाँसे किसीको भी फल नहीं लेने देता॥७२॥

स तं गृहीत्वा प्रपदोर्भ्रामयित्वैकपाणिना।
चिक्षेप तृणराजाग्रे भ्रामणत्यक्तजीवितम्॥७३क॥

अथ तालफलान्यादन् मनुष्या गतसाध्वसाः।
तृणञ्च पशवश्चेरुर्हतधेनुककानने॥७३ख॥

उसी समय बलदेवने गर्दभरूप धारण करनेवाले धेनुकासुरके दोनों पैरोंको हाथसे पकड़कर घुमाते हुए उसका वध कर दिया तथा ताल वृक्षके ऊपर फेंक दिया। उस दिनसे व्रजवासी लोग निर्भय होकर उस वनमें ताल वृक्षोंके फलोंको खाने लगे और गैयाएँ भी स्वच्छन्दतापूर्वक घास चरने लगीं॥७३॥

श्रीमद्भा. १०/१६/१ और ६६-६७ में कालियदमन लीलाका इस प्रकार वर्णन किया गया है—

विलोक्य दूषितां कृष्णां कृष्णः कृष्णाहिना विभुः।
तस्या विशुद्धिमन्विच्छन् सर्पं तमुदवासयेत्॥७४क॥

पूजयित्वा जगन्नाथं प्रसाद्य गरुडध्वजम्।
ततः प्रीतोऽभ्यनुज्ञातः परिक्रम्याभिवन्द्य तम्॥७४ख॥

सकलत्रसुहृत्पुत्रो द्वीपमब्धेर्जगाम ह।
तदैव सामृतजला यमुना निर्विषाभवत्॥७४ग॥

श्रीकृष्णने कालिय नागके विषसे यमुनाजलको दूषित हुआ देखकर उसकी शुद्धिकी कामनासे उस सर्पको वहाँसे निकाल दिया। उसने जगन्नाथ श्रीकृष्णको पूजाके द्वारा प्रसन्न करके प्रीतिपूर्वक उनकी परिक्रमा की और पत्नी, पुत्र तथा मित्रोंके साथ समुद्रके बीचमें स्थित रमणकद्वीप चला गया। तभीसे यमुनाका जल विषरहित होकर अमृतके समान मधुर हो गया॥७४॥

(श्रीमद्भा. १०/१७/२०-२२ और २५)

तां रात्रिं तत्र राजेन्द्र क्षुत्तृड्भ्यां श्रमकर्षिताः।
ऊषुर्व्रजौकसो गावः कालिन्द्या उपकूलतः॥७५क॥

तदा शुचिवनोद्भूतो दावाग्निः सर्वतो व्रजम्।
सुप्तं निशीथ आवृत्य प्रदग्धुमुपचक्रमे॥७५ख॥

तत उत्थाय सम्भ्रान्तो दह्यमाना व्रजौकसः।
कृष्णं ययुस्ते शरणं मायामनुजमीश्वरम्॥७५ग॥

इत्थं स्वजनवैक्लव्यं निरीक्ष्य जगदीश्वरः।
तमग्निमपिब ततीव्रमनन्तोऽनन्तशक्तिधृक्॥७५घ॥

हे राजेन्द्र! भूख और प्याससे आतुर व्रजवासी और गौओंने उस रात कालिन्दीके तटपर ही वास किया। अचानक उस शुचि (ग्रीष्मकालीन शुष्क) वनमें उत्पन्न भयङ्कर दावाग्नि सम्पूर्ण व्रजको जलानेका प्रयास करने लगी। उस घोर रात्रिमें सभी सो रहे थे। (अग्निका ताप पाकर जब उनकी नींद खुली तो) व्रजको दग्ध होता देख वे घबड़ाकर उठ खड़े हुए और माया-मनुष्य (माया नामक स्वरूपभूत नित्यशक्ति द्वारा नराकृति परब्रह्म रूपसे सदैव विराजमान) परमेश्वर श्रीकृष्णके शरणागत हुए। निजजनोंको व्याकुल देखकर जगदीश्वर अनन्त शक्तिधारी अनन्तस्वरूप श्रीकृष्णने उस भयङ्कर अग्निका उसी क्षण पान कर लिया॥७५॥

श्रीमद्भा. १०/१८/१७-१८, २४ और २८-२९ में श्रीबलदेव द्वारा किये गये प्रलम्बासुरके वधका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

पशूंश्चारयतोर्गोपैस्तद्वने रामकृष्णयोः।
गोपरूपी प्रलम्बोऽगादसुरस्तज्जिहीर्षया॥७६क॥

तं विद्वानपि दाशार्हो भगवान् सर्वदर्शनः।
अन्वमोदत तत्सख्यं वधं तस्य विचिन्तयन्॥७६ख॥

उवाह कृष्णो भगवान् श्रीदामानं पराजितः।
वृषभं भद्रसेनस्तु प्रलम्बो रोहिणीसुतम्॥७७॥

एक दिन वृन्दावनमें जब श्रीबलराम और श्रीकृष्ण गौएँ चरा रहे थे, तब प्रलम्ब नामक असुर उनका वध करनेके अभिप्रायसे गोपबालकका रूप धारणकर उपस्थित हुआ। भगवान् श्रीकृष्ण सर्वज्ञ हैं। वे उसे जान गये और जाननेपर भी उसके वधका विचार करके उसके साथ पहले मित्रताका व्यवहार करने लगे। क्रीड़ामें पराजित होकर भगवान् श्रीकृष्ण श्रीदामाको वहन करने लगे। भद्रसेन वृषभको और प्रलम्बासुर रोहिणीसुत बलदेवको वहन करने लगा॥७६-७७॥

रुषाहनच्छिरसि दृढेन मुष्टिना।
सुराधिपो गिरिमिव वज्ररंहसा॥७८क॥

स आहतः सपदि विशीर्णमस्तको
मुखाद् वमन् रुधिरमपस्मृतोऽसुरः।
महारवं व्यसुरपतत् समीरयन्
गिरिर्यथा मघवत आयुधाहतः॥७८ख॥

बलदेवने प्रलम्बासुरको पहचानकर क्रोधपूर्वक उसके मस्तकपर जोरसे एक ऐसा घूँसा मारा, जैसे इन्द्र पर्वतको वज्र द्वारा आहत करता है। एक ही आघातसे उस असुरका मस्तक विदीर्ण हो गया तथा मुख द्वारा रक्त वमन करते-करते प्रचण्ड शब्द करता हुआ प्राणहीन होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा॥७८॥

श्रीमद्भा. १०/१९/७ और १२ में श्रीकृष्ण द्वारा किये गये दावानल पानका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

ततः समन्ताद्दवधूमकेतु–
र्यदृच्छयाभूत् क्षयकृद् वनौकसाम्।
समीरितः सारथिनोल्बणोल्मूकै–
र्विलेलिहानः स्थिरजङ्गमान् महान्॥७९॥

तदन्तर दावाग्निरूप धूमकेतु वनवासियोंको जलाकर भस्म करनेके लिए हठात् अपने सारथिरूप वायुकी सहायतासे स्थावर और जङ्गम सभी प्राणियोंको जलाने लगा॥७९॥

तथेति मीलिताक्षेषु भगवानग्निमुल्बणम्।
पीत्वा मुखेन तान् कृच्छ्राद् योगाधीशो व्यमोचयत्॥८०॥

ग्वालबालोंकी आर्त्ति देखकर श्रीकृष्णने उन सबके नेत्रोंको बन्द कराकर उस भयङ्कर अग्निका मुख द्वारा पान कर लिया तथा महायोगशक्ति द्वारा सभीको अग्निसे मुक्त कर दिया॥८०॥

श्रीमद्भा. १०/२३/७, ९, १२, १४, १७ और १९ में श्रीकृष्ण द्वारा प्रेरित भूखसे पीड़ित गोपबालकोंके माध्यमसे यज्ञपत्नियोंपर की गयी कृपाका इस प्रकार वर्णन किया गया है—

गाश्चारयन्ताववविदूर ओदनं
रामाच्युतौ वो लषतो बुभुक्षितौ।
तयोर्द्विजा ओदनमर्थिनोर्यदि
श्रद्धा च वो यच्छत धर्मवित्तमाः॥८१॥

दूर वनमें गायोंको चराते-चराते भूखे गोपबालकोंने बलराम और श्रीकृष्णको अपनी भूखके विषयमें बतलाया। उनकी अवस्था देख श्रीकृष्णने उन्हें याज्ञिक ब्राह्मणोंके पास भेजा। श्रीकृष्णकी आज्ञाके अनुसार उन्होंने याज्ञिक विप्रोंके समीप जाकर कहा—हे विप्रो! गायोंको चराते-चराते बलराम और कृष्ण सुदूर इस वनमें आये हैं। उन्हें बहुत भूख लगी है, उन्होंने आपसे कुछ अन्नके

लिए प्रार्थना की है। हे धर्मवित्तमो (धर्म ही जिनका धन है)! यदि श्रद्धा हो तो कुछ अन्न-दान कीजिये॥८१॥

इति ते भगवद्याच्ञां शृण्वन्तोऽपि न शुश्रुवुः।
क्षुद्राशा भूरिकर्माणो बालिशा वृद्धमानिनः॥८२क॥

न ते यदोमिति प्रोचुर्न नेति च परन्तप।
गोपा निराशाः प्रत्येत्य तथोचुः कृष्णरामयोः॥८२ख॥

क्षुद्र आशाओंसे युक्त, भूरि-कर्म-प्रिय (उन आशाओंकी पूर्तिहेतु अत्यधिक क्लेशकर यज्ञ आदिके अनुष्ठानमें रत), मूढ़, वृद्धाभिमानी (पण्डिताभिमानी) ब्राह्मणोंने उस भगवत्-प्रार्थनाको सुनकर भी नहीं सुना। हे परन्तप! जब उन्होंने न तो 'हाँ' और न ही 'ना' कुछ भी नहीं कहा, तब गोपबालक निराश होकर लौट गये तथा बलराम-कृष्णको सब कुछ बतलाया॥८२॥

मां ज्ञापयत पत्नीभ्यः संकर्षणमागतम्।
दास्यन्ति काममन्नं वः स्निग्धा मय्युषिता धिया॥८३॥

उस समय श्रीकृष्णने कहा—तब तुमलोग विप्रोंकी पत्नियोंके पास जाओ और उनसे कहो कि सङ्कर्षणके साथ श्रीकृष्ण यहाँ आये हैं। इतना कहनेपर ही वे स्निग्ध यज्ञपत्नियाँ, "जिनका मन सदैव मुझमें लगा रहता है" तुमलोगोंको प्रचुर भोजन प्रदान करेंगी॥८३॥

गाश्चारयन् स गोपालैः सरामो दूरमागतः।
बुभुक्षितस्य तस्यान्नं सानुगस्य प्रदीयताम्॥८४॥

(श्रीकृष्णकी बात सुनकर) गोपबालक यज्ञपत्नियोंके निकट जाकर बोले कि श्रीकृष्ण क्षुधित (भूखसे पीड़ित) होकर बलरामके साथ इधर बहुत दूर आ गये हैं। आप उनके तथा उनके साथ आये सखाओंके लिए कुछ भोजन प्रदान कीजिये॥८४॥

चतुर्विधं बहुगुणमन्नमादाय भाजनैः।
अभिसस्रुः प्रियं सर्वाः समुद्रमिव निम्नगाः ॥८५॥

यह सुनकर यज्ञपत्नियाँ बर्तनोंमें बहुत स्वादिष्ट और हितकर चारों प्रकारकी (चर्व्य, चोष्य, लेह्य और पेय) भोजन-सामग्रियाँ लेकर प्रियतम श्रीकृष्णके पास जानेके लिए ठीक उसी प्रकार घरसे निकल पड़ीं, जिस प्रकार सभी नदियाँ वेगपूर्वक समुद्रकी ओर उन्मुख होती हैं॥८५॥

यज्ञपत्नियोंने श्रीकृष्णके जिस मनोहर रूपको देखा, उसका श्रीशुकदेव गोस्वामीने श्रीमद्भा. १०/२३/२२ में इस प्रकार वर्णन किया है—

श्यामं हिरण्यपरिधिं वनमाल्य बर्ह-
धातुप्रवालनटवेषमनुव्रतांसे ।
विन्यस्तहस्तमितरेण धूनानमब्जं
कर्णोत्पलालककपोलमुखाब्जहासम् ॥८६॥

उनके साँवले शरीरपर सुनहला पीताम्बर झिलमिला रहा था। गलेमें पत्रपुष्पमय वनमाला लटक रही थी। मस्तकपर मोरपंखका मुकुट सुशोभित हो रहा था। अङ्ग-अङ्गमें रङ्गीन धातुओंसे चित्रकारी कर रखी थी। कोमल-कोमल पत्तों द्वारा निर्मित आभूषणोंसे सुशोभित थे तथा नट-सा वेश धारण किया हुआ था। वे एक हाथ अपने सखा ग्वालबालके कन्धेपर रखकर दूसरे हाथसे कमलका फूल घुमा रहे थे। उस समय उनके कानोंमें कुण्डल थे, कपोलोंपर घुँघराली अलकें तथा मुखकमल मन्द मुस्कानसे शोभायमान हो रहा था॥८६॥

श्रीकृष्ण एवं यज्ञपत्नियोंके परस्पर वार्त्तालापका श्रीमद्भा. १०/२३/२६, ३३ में इस प्रकार वर्णन किया गया है—

नन्वद्धा मयि कुर्वन्ति कुशलाः स्वार्थदर्शिनः।
अहैतुक्यव्यवहितां भक्तिमात्मप्रिये यथा॥८७क॥

श्रवणाद् दर्शनाद् ध्यानान्मयि भावोऽनुकीर्तनात्।
न तथा सन्निकर्षेण प्रतियात ततो गृहान्॥८७ख॥[(१)]

यज्ञपत्नियोंने श्रीकृष्णको अन्न प्रदान किया तथा उनसे कृपाकी प्रार्थना की। उनकी प्रार्थना सुनकर श्रीकृष्णने कहा—हे सुन्दरियो! इस संसारमें अपनी सच्ची भलाई समझकर कुशल कर्म करनेवाले जितने भी बुद्धिमान पुरुष हैं, वे मेरे प्रति ऐसी अहैतुकी और नैरन्तर्यमयी साक्षात् भक्ति करते हैं, जैसे प्रिया अपने प्रियतमके प्रति करती है। श्रवण, दर्शन, ध्यान तथा अनुकीर्त्तन द्वारा मुझमें जैसा भाव होता है, मेरे सन्निकट रहनेपर भी वैसा भाव नहीं होता। अतएव तुमलोग घर लौट जाओ और मेरी भक्ति करो॥८७॥

अनन्तर याज्ञिक ब्राह्मण अपनी पत्नियोंके भाव जानकर श्रीमद्भा. १०/२३/५० में इस प्रकार अनुतापपूर्वक बोले—

तस्मै नमो भगवते कृष्णायाकुण्ठमेधसे।
यन्माया मोहितधियो भ्रमामः कर्मवर्त्मसु॥८८॥

हम उन अकुण्ठमेधा (अलुप्त अथवा अबाधज्ञानसम्पन्न) भगवान् श्रीकृष्णको प्रणाम करते हैं, जिनकी मायासे भ्रमित होकर हम कर्ममार्गमें भटक रहे हैं॥८८॥

श्रीमद्भा. १०/२४/१५ और २८-३० में इन्द्रकी पूजाके विषयमें श्रीकृष्णने नन्द महाराजसे कहा—

किमिन्द्रेणेह भूतानां स्वस्व कर्मानुवर्तिनाम्।
अनीशेनान्यथा कर्तुं स्वभावविहितं नृणाम्॥८९क॥

यवसं च गवां दत्त्वा गिरये दीयतां बलिः॥८९ख॥

प्रदक्षिणां च कुरुत गोविप्रानलपर्वतान्॥८९ग॥

---

(१) श्रीकृष्णने रासाभिसारिणी गोपियोंको भी यही-के-यही वाक्य कहे थे। श्रीमद्भा. १०/२९/२७ द्रष्टव्य।

एतन्मम मतं तात क्रियतां यदि रोचते॥८९घ॥

हे तात! जब सब प्राणी अपने-अपने कर्मानुसार फलोंका भोग कर रहे हैं, तब उनकी पूजा ग्रहण करनेमें इन्द्रका क्या अधिकार है? मनुष्य अपने स्वभाव-विहित जो-जो कर्म करता है, उन्हें इन्द्र भी नहीं बदल सकता। अतएव गौओंको घास प्रदान करनेके उपरान्त श्रीगोवर्धन पर्वतको उपयुक्त पूजा एवं उपहार सामग्री प्रदान कीजिये। गौ, ब्राह्मण, अग्नि तथा पर्वतकी प्रदक्षिणा कीजिये। यही मेरा मत है। यदि रुचि हो तो ऐसा ही कर सकते हैं॥८९॥

श्रीमद्भा. १०/२४/३८ में व्रजवासियों द्वारा की गयी गिरिराज-पूजाका इस प्रकार वर्णन किया गया है—

इत्यद्रि-गोद्विजमखं वासुदेवप्रचोदिताः।
यथा विधाय ते गोपाः सहकृष्णा व्रजं ययुः॥९०॥

इस प्रकार श्रीकृष्णके परामर्शके अनुसार गोपोंने गिरिराज-गोवर्धन, गौ तथा ब्राह्मणोंकी विधिपूर्वक पूजा सम्पन्न की तथा फिर सभी लोग श्रीकृष्णके साथ व्रजमें लौट आये॥९०॥

ऐसा देखकर इन्द्रने जो कहा, उसका श्रीमद्भा. १०/२५/५ और ७ में इस प्रकार वर्णन है—

वाचालं बालिशं स्तब्धमज्ञं पण्डितमानिनम्।
कृष्णं मर्त्यमुपाश्रित्य गोपा मे चक्रुरप्रियम्॥९१क॥

अहंचैरावतं नागमारुह्यानुव्रजे व्रजम्।
मरुद्गणैर्महावेगैर्नन्दगोष्ठजिघांसया ॥९१ख॥

अहो! इन सारे गोपोंने एक वाचाल (बकवादी), बालिश (बाल-स्वभाववाले), स्तब्ध (अविनीत), अज्ञ (मूर्ख) और पण्डिताभिमानी मरणशील कृष्णका आश्रय लेकर मेरा अपमान किया है। मैं अभी नन्दगोष्ठको नष्ट करनेके लिए ऐरावतपर चढ़कर व्रजमें जा रहा हूँ॥९१॥

श्रीमद्भा. १०/२५/१७, १९ और २३ में श्रीगिरिराज-धरणका इस प्रकार वर्णन किया गया है—

न हि सद्भावयुक्तानां सुराणामीशविस्मयः।
मत्तोऽसतां मानभङ्गः प्रशमायोपकल्पते॥९२क॥

इत्युक्त्वैकेन हस्तेन कृत्वा गोवर्धनाचलम्।
दधार लीलया विष्णुश्छत्राकमिव बालकः॥९२ख॥

क्षुत्तृड्व्यथां सुखापेक्षां हित्वा तैर्व्रजवासिभिः।
वीक्ष्यमाणो दधाराद्रिं सप्ताहं नाचलत् पदात्॥९२ग॥

जब इन्द्रने वारिवर्षण द्वारा गोष्ठको नष्ट करनेकी चेष्टा की, तब श्रीकृष्ण मन-ही-मन कहने लगे—भक्तियुक्त व्यक्तियोंको देवताओंका अधिपति होनेपर भी गर्व नहीं होता है। भक्तिके अभावमें ही इन्द्रकी ऐसी दुर्बुद्धि हुई है। मेरे द्वारा ऐसे असत् व्यक्तियोंका मानभङ्ग करना उनके मङ्गलके लिए ही होता है। ऐसा कहकर एक हाथसे गोवर्धन पर्वतको उठाकर उसे उसी प्रकार लीलापूर्वक अपने हाथके ऊपर धारण कर लिया, जिस प्रकार एक छोटा-सा बालक बरसाती छत्तेके पुष्पको उखाड़कर हाथमें रख लेता है। श्रीकृष्णने भूख, प्यास तथा अपने सुखकी अपेक्षाका परित्याग करके व्रजवासियोंके सामने ही निश्चल भावसे अर्थात् बिना एक भी पद डिगाये एक सप्ताह तक गिरिराजको धारण किया॥९२॥

श्रीमद्भा. १०/२५/२४ और २८ में वर्णन आता है कि—

कृष्णयोगानुभावं तं निशाम्येन्द्रोऽतिविस्मितः।
निःस्तम्भो भ्रष्टसंकल्पः स्वान् मेघान् संन्यवारयत्॥९३क॥

भगवानपि तं शैलं स्वस्थाने पूर्ववत् प्रभुः।
पश्यतां सर्वभूतानां स्थापयामास लीलया॥९३ख॥

श्रीकृष्णकी योगमायाका ऐसा प्रभाव देखकर इन्द्र बहुत विस्मित हुआ। अपने संकल्पके भङ्ग होनेसे वह निस्तब्ध हो गया तथा उसने अपने आप ही मेघोंको वर्षा करनेसे रोक दिया। श्रीकृष्णने भी सभी प्राणियोंके देखते-ही-देखते लीलापूर्वक गिरिराजको उसके अपने स्थानपर पुनः स्थापित कर दिया॥९३॥

(श्रीकृष्णके बलसे अवगत नहीं होनेके कारण गोपोंने विस्मयान्वित होकर श्रीनन्दसे कहा कि हमें तुम्हारे पुत्रके विषयमें कुछ शङ्का हो रही हैं, उनके मुखसे ऐसा सुनकर श्रीनन्द महाराजने श्रीगर्ग मुनि द्वारा श्रीकृष्णके विषयमें कहे गये वचनों द्वारा उन गोपोंके विस्मयको दूर किया तथा गोपोंने श्रीनन्द महाराज और श्रीकृष्णकी पूजा की तथा प्रार्थना करते हुए जो कहा, उसका) श्रीमद्भा. १०/२६/२५ में वर्णन आता है कि—

देवे वर्षति यज्ञविप्लवरुषा वज्राश्मवर्षानिलैः
सीदत्पालपशुस्त्रियात्मशरणं दृष्ट्वानुकम्प्युत्स्मयन्।
उत्पाट्यैककरेण शैलमबलो लीलोच्छिलीन्ध्रं यथा
विभ्रद् गोष्ठमपान्महेन्द्रमदभित् प्रीयान्न इन्द्रो गवाम्॥९४॥

अपना यज्ञ भङ्ग हो जानेके कारण अपमानित इन्द्रने बड़े क्रोधित होकर वर्षा, वज्रपात, ओलोंकी बौछार और प्रचण्ड आँधीके द्वारा ऐसा उत्पात करवाया कि व्रजके पशु, पशुपाल तथा स्त्रियाँ अत्यन्त व्याकुल हो गये, उस समय उनके एकमात्र शरणस्वरूप श्रीकृष्णने उनके देखते-ही-देखते कृपापूर्वक मुस्कराते हुए खेल-ही-खेलमें गिरिराज-गोवर्धनको उसी प्रकार एक हाथसे ही उठाकर धारण कर लिया, जिस प्रकार एक छोटा-सा बालक खेल-ही-खेलमें एक बरसाती छत्तेके पुष्पको उखाड़कर धारण कर लेता है। इस प्रकार इन्द्रका मानभङ्ग करके कृपालु श्रीकृष्णने सारे व्रजकी रक्षा की। व्रजकी गैयाओंके इन्द्र श्रीगोविन्द हमपर प्रसन्न हों॥९४॥

कृष्ण तत्त्वको जाननेके उपरान्त इन्द्रने प्रणत होकर जो कुछ कहा, उसका श्रीमद्भा. १०/२७/१३ और २८ में इस प्रकार वर्णन है—

त्वयेशानुगृहीतोऽस्मि ध्वस्तस्तम्भो वृथोद्यमः।
ईश्वरं गुरुमात्मानं त्वामहं शरणं गतः॥९५॥

इति गो–गोकुलपतिं गोविन्दमभिषिच्य सः।
अनुज्ञातो ययौ शक्रो वृतो देवादिभिर्दिवम्॥९६॥

हे ईश! मैं आपके शरणागत होता हूँ। आप जगत्के ईश्वर, गुरु तथा आत्मा हैं। मेरे उद्यमको व्यर्थ करके मेरे अहङ्कारका आपने जो नाश किया, उससे मैं विशेष अनुगृहीत हुआ हूँ।

ऐसा कहकर गौओं और गोकुलके रक्षाकर्त्ता श्रीगोविन्दका अभिषेक करके देवताओं सहित इन्द्र प्रभुकी अनुमतिके अनुसार स्वर्ग लौट गये॥९५–९६॥

श्रीमद्भा. १०/२८/१–३, १० और १३–१४ में वरुणलोकसे श्रीनन्द महाराजके उद्धारका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

एकादश्यां निराहारः समभ्यर्च्य जनार्द्दनम्।
स्नातुं नन्दस्तु कालिन्द्यां द्वादश्यां जलमाविशत्॥९७क॥

तं गृहीत्वानयद् भृत्यो वरुणस्यासुरोऽन्तिकम्।
अवज्ञायासुरीं वेलां प्रविष्टमुदकं निशि॥९७ख॥

भगवांस्तदुपश्रुत्य पितरं वरुणाहृतम्।
तदन्तिकं गतो राजन् स्वानामभयदो विभुः॥९७ग॥

एक समय नन्द बाबाने एकादशीके दिन निराहार रहकर जनार्दनका अर्चन किया तथा द्वादशी तिथिमें कालिन्दीके जलमें स्नानके लिए प्रवेश किया। श्रीनन्दने रात रहते ही जलमें प्रवेश किया है, इसलिए (वरुणके सेवकों द्वारा कल्पित) आसुरी बेलाकी अवज्ञाके दोषके कारण वरुणके सेवक उन्हें पकड़कर वरुणलोकमें ले गये। स्वजनोंके अभय प्रदाता श्रीकृष्णने (श्रीनन्द महाराजके अनुचरोंसे ऐसा) सुनकर पिताके उद्धारके लिए वरुणलोकमें प्रस्थान किया॥९७॥

नन्दस्त्वतीन्द्रियं दृष्ट्वा लोकपालमहोदयम्।
कृष्णे च सन्नतिं तेषां ज्ञातिभ्यो विस्मितोऽब्रवीत्॥९८॥

इन्द्रियातीत, अदृष्टपूर्व लोकपाल महोदय वरुणका ऐश्वर्य तथा वरुण द्वारा श्रीकृष्णके प्रति की गयी भक्तिपूर्ण अभिव्यक्तिका दर्शनकर उसे श्रीनन्दने अत्यन्त विस्मयके साथ अपने ज्ञाति अर्थात् कुटुम्बियोंके समक्ष वर्णन किया॥९८॥

जनो वै लोक एतस्मिन्नविद्याकामकर्मभिः।
उच्चावचासु गतिषु न वेद स्वां गतिं भ्रमन्॥९९क॥

इति सञ्चिन्त्य भगवान् महाकारुणिको हरिः।
दर्शयामास लोकं स्वं गोपानां तमसः परम्॥९९ख॥

यद्यपि गोपगण नित्यसिद्ध हैं, तथापि कृष्णलीलाके सहायकके रूपमें वे प्रपञ्चमें अवतीर्ण हुए हैं। उनके अनुगत साधनसिद्ध गोपगण कहीं यह न सोच लें कि जैसे इस लोकमें सभी अविद्यारूपी कामधर्म द्वारा ऊँची-नीची गतियोंमें भ्रमण करते हैं, हम भी वैसे ही ऊँची-नीची गतियोंमें भ्रमण कर रहे हैं। ऐसा विचारकर अर्थात् उनके संशयको दूर करनेके लिए महाकारुणिक, सर्वशक्तिमान श्रीकृष्णने उन साधनसिद्ध गोपोंको प्रकृतिसे अतीत परतत्त्व, जो गोलोक नामक अपना अचिन्त्य लोक है, उसका दर्शन कराया॥९९॥

इस लीलाके उपरान्त हुई रासलीला बीसवीं किरणमें द्रष्टव्य है। श्रीनन्द महाराजके अजगरके ग्राससे विमोचनका वर्णन श्रीमद्भा. १०/३४/१, ४-५ और ८-९ में इस प्रकार किया गया है—

एकदा देवयात्रायां गोपाला जातकौतुकाः।
अनोभिरनडुद्युक्तैः प्रययुस्तेऽम्बिकावनम्॥१००क॥

ऊषुः सरस्वतीतीरे जलं प्राश्य यतव्रताः।
रजनीं तां महाभागा नन्दसुनन्दकादयः॥१००ख॥

कश्चिन्महानहितस्मिन् विपिनेऽतिबुभुक्षितः।
यदृच्छया गतो नन्दं शयानमुरगोऽग्रसीत् ॥१००ग॥

अलातैर्दह्यमानोऽपि नामुञ्चत मुरङ्गमः।
तमस्पृशत् पदाभ्येत्य भगवान् सात्वतां पतिः ॥१००घ॥

स वै भगवतः श्रीमत्पादस्पर्शहताशुभः।
भेजे सर्पवपुर्हित्वा रूपं विद्याधरार्च्चितम् ॥१००ङ॥

एक दिन श्रीनन्द शिव-चतुर्दशीके उपलक्ष्यमें उत्सुकता और कौतूहलपूर्वक समस्त गोपोंके साथ बैलगाड़ियोंपर बैठकर सरस्वती नदीके तटपर स्थित अम्बिका वन गये थे। उस दिन सभीने केवल जलका ही पान किया तथा महाभाग नन्द, सुनन्द आदिके साथ वही वास किया। उस अम्बिका वनमें एक बड़ा भारी अजगर सर्प रहता था। उस दिन वह बहुत भूखा था। दैववश वह उधर ही आ निकला और सोये हुए श्रीनन्दको ग्रासित कर लिया। लुकाठियों (अधजली लकड़ियों) से मारे जानेपर भी उस सर्पने श्रीनन्दको छोड़ा नहीं। सात्वत पति (भक्तवत्सल) श्रीकृष्णने अपने चरणोंसे सर्पको स्पर्श किया। श्रीकृष्णपादपद्मके स्पर्शसे उसके समस्त अशुभ नष्ट हो गये। उस सर्पने विद्याधरों द्वारा अर्चित दिव्य देहको प्राप्त किया, उसका सर्प-वपु सदाके लिए दूरीभूत हो गया ॥१००॥

श्रीमद्भा. १०/३४/२४-२५ और ३०-३२ में होली-पूर्णिमाके दिन हुए शङ्खचूड़वधका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

गोप्यस्तद् गीतमाकर्ण्य मूर्च्छिता नाविदन् नृपः।
स्त्रंसद्दुकूलमात्मानं स्त्रस्तकेशस्त्रजं ततः ॥१०१क॥

शङ्खचूड इति ख्यातो धनदानुचरोऽभ्यगात्।
तमन्वधावद् गोविन्दो यत्र यत्र स धावति ॥१०१ख॥

जिहीर्षुस्तच्छिरोरत्नं तस्थौ रक्षन् स्त्रियो बलः ॥१०१ग॥

अविदूर इवाभ्येत्य शिरस्तस्य दुरात्मनः।
जहार मुष्टिनैवाङ्ग सहचूडामणिं विभुः॥१०१घ॥

शङ्खचूडं निहत्यैवं मणिमादाय भास्करम्।
अग्रजायाददात् प्रीत्या पश्यन्तीनां च योषिताम्॥१०१ङ॥

होली-पूर्णिमावाले दिन सारी गोपियाँ श्रीकृष्णके मधुर गीतको सुनकर ऐसी मूर्च्छित हुईं कि उन्हें अपने शरीरकी भी सुध-बुध नहीं रही। इसके फलस्वरूप वे अपने खिसकते वस्त्रों और चोटियोंसे बिखरते पुष्पोंको भी सँभाल न सकीं। उसी समय कुबेरका अनुचर शंखचूड़ नामक यक्ष वहाँ उपस्थित हुआ। (कुबेरका अनुचर उन गोपियोंको लेकर भागा) श्रीकृष्ण उसके पीछे-पीछे दौड़ते हुए, उसे मारकर उसके सिरकी चूड़ामणि लेनेकी चेष्टा करने लगे। बलदेव उस समय स्त्रियोंकी रक्षा करने लगे। कुछ दूर जाकर विभु श्रीकृष्णने उस दुरात्माके मस्तकको मुष्टिकाघात द्वारा छिन्न-भिन्न कर दिया और चूड़ामणिको ले लिया। शंखचूड़को मारकर उसकी भास्कर मणिको ग्रहण करते हुए श्रीकृष्णने गोपियोंके सामने ही उसे प्रेमपूर्वक बड़े भाई बलरामको दे दिया॥१०१॥

तदनन्तर श्रीकृष्णके गोचारणके लिए वन गमन करनेपर गोपियोंने जो विरह-गीत गान किया था, वह बीसवीं किरणमें द्रष्टव्य है। उसके बाद हुए अरिष्टासुर वध लीलाका श्रीमद्भा. १०/३६/१, ८-९, १२-१३ और १५-१६ में इस प्रकार वर्णन है—

अथ तर्ह्यागतो गोष्ठमरिष्टो वृषभासुरः।
महीं महाककुत्कायः कम्पयन् खुरविक्षताम्॥१०२॥

इत्यास्फोट्याच्युतोऽरिष्टं तलशब्देन कोपयन्।
सख्युरंशे भुजाभोगं प्रसर्यावस्थितो हरिः॥१०३॥

सोऽप्येवं कोपितोऽरिष्टः खुरेणावनिमुल्लिखन्।
उद्यत्पुच्छभ्रमन्मेघः क्रुद्धः कृष्णमुपाद्रवत्॥१०४॥

अरिष्ट नामक एक असुर बैलका रूप धारणकर गोष्ठमें आकर उपद्रव करने लगा। अरिष्टासुरके कन्धेका डिल्ला बहुत ऊँचा था। वह अपने खुरोंके द्वारा पृथ्वीको खोदता हुआ बड़े जोरसे गर्जन करते हुए आने लगा। यह देखकर श्रीकृष्ण "मैं अरिष्टासुरका वध करूँगा, डरो मत" इस प्रकार ललकारते हुए ताल ठोककर उसे क्रोधित करनेके लिए सखाके कन्धेपर हाथ रखकर खड़े हो गये। इससे कुपित होकर अरिष्टासुर तिलमिलाकर अपने खुरोंसे पृथ्वीको खोदता हुआ अपनी पूँछको ऊपर उठाकर कृष्णकी ओर दौड़कर आने लगा॥१०२-१०४॥

सोऽपविद्धो भगवता पुनरुत्थाय सत्वरम्।
आपतत् स्विन्नसर्वाङ्गो निःश्वसन् क्रोधमूर्च्छितः॥१०५॥

किन्तु श्रीकृष्णके द्वारा पीछे ठेल दिये जानेपर आहत हुआ वह असुर पुनः शीघ्रतापूर्वक उठकर उनपर झपटनेके लिए दौड़ा। उस समय उसका पूरा शरीर पसीनेसे लथपथ हो रहा था तथा वह क्रोधके मारे आत्मविस्मृत हो गया था तथा उसकी श्वास फूल गयी थी॥१०५॥

तमापतन्तं स निगृह्य शृङ्गयोः
पदा समाक्रम्य निपात्य भूतले।
निष्पीडयामास यथार्द्रमम्बरं
कृत्वा विषाणेन जघान सोऽपतत्॥१०६॥

श्रीकृष्णने अरिष्टासुरके दोनों सीगोंको पकड़कर उसे भूमिपर पटक दिया तथा पैरोंसे दबाकर उसकी ऐसी अवस्था कर दी, जैसे कोई गीले कपड़ोंकी निचोड़ कर करता है। तत्पश्चात् उसके सींग उखाड़कर उसपर ऐसा आघात किया कि वह गिरकर मर गया॥१०६॥

एवं ककुद्मिनं हत्वा स्तूयमानः स्वजातिभिः।
विवेश गोष्ठं सबलो गोपीनां नयनोत्सवः॥१०७॥

इस प्रकार बैलके रूपमें आये हुए अरिष्टासुरका वध करके, साथ चलते हुए ग्वालबालोंके द्वारा स्तुत होते हुए गोपियोंके नयनोत्सव श्रीकृष्णने बलदेवके साथ गोष्ठमें प्रवेश किया॥१०७॥

अरिष्टे निहते दैत्ये कृष्णेनाद्भुतकर्मणा।
कंसायाथाह भगवान् नारदो देवदर्शनः॥१०८॥

अद्भुत–चरित्रवाले श्रीकृष्णके द्वारा गोष्ठमें अरिष्टासुरके मारे जानेपर, दिव्यदर्शन भगवान् श्रीनारदने आकर कंसको सब कुछ बतलाया॥१०८॥

श्रीमद्भा. १०/३७/१ और ७ में केशी वधका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

केशी तु कंसप्रहितः खुरैर्महीं
महाहयो निर्जरयन् मनोजवः।
सटावधूताभ्रविमानसङ्कुलं
कुर्वन् नभो हेषितभीषिताखिलः॥१०९॥

कंस द्वारा प्रेरित केशी नामक एक भयङ्कर असुर विशाल घोड़ेके रूपमें अपने खुरोंके द्वारा पृथ्वीको खोदता हुआ मनके समान वेगसे दौड़ता हुआ व्रजमें उपस्थित हुआ तथा अपनी गरदनके छितराये हुए बालोंके द्वारा बादलों और विमानोंको आकाशमें विच्छिन्न करके हिनहिनाहटके द्वारा सबको भयभीत करने लगा॥१०९॥

समेधमानेन स कृष्णबाहुना
निरुद्ध वायुश्चरणांश्च निक्षिपन्।
प्रस्विन्नगात्रः परिवृत्तलोचनः
पपात लेण्डं विसृजन् क्षितौ व्यसुः॥११०॥

श्रीकृष्णने उसके मुखमें अपने हाथको डालकर इतना बढ़ाया कि उसकी श्वासवायु बन्द हो गयी। वह चारों पैरोंको पीटते–पीटते

पसीनेसे लथपथ हो गया। उसकी दोनों आँखें बाहर निकल आयीं और मल-मूत्रका त्याग करते हुए उसने प्राणोंका त्याग कर दिया॥११०॥

श्रीमद्भा. १०/३७/२६, २८-३० और ३२-३३ में व्योमासुरके वधका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

एकदा ते पशून् पालाश्चारयन्तोऽद्रिसानुषु।
चक्रुर्निलायनक्रीडाश्चोरपालापदेशतः ॥१११॥

मयपुत्रो महामायो व्योमो गोपालवेषधृक्।
मेषायितानपोवाह प्रायश्चौरायितो बहून्॥११२॥

गिरिदर्यां विनिक्षिप्य नीतं नीतं महासुरः।
शिलया पिदधे द्वारं चतुःपञ्चावशेषिताः॥११३॥

तस्य तत् कर्म विज्ञाय कृष्णः शरणदः सताम्।
गोपान् नयन्तं जग्राह वृकं हरिरिवौजसा॥११४॥

तं निगृह्याच्युतो दोर्भ्यां पातयित्वा महीतले।
पश्यतां दिवि देवानां पशुमारममारयत्॥११५॥

गुहापिधानं निर्भिद्य गोपान् निःसार्य कृच्छ्रतः।
स्तूयमानः सुरैर्गोपैः प्रविवेश स्वगोकुलम्॥११६॥

एक दिन सब ग्वालबाल जब पर्वतकी चोटियोंपर गैयाओंको चराते-चराते कुछ चोर, कुछ रक्षक तथा कुछ भेड़ बनकर लुका-छिपीका खेल खेलना आरम्भ करने ही वाले थे कि इसी अवसरपर मयदानवका पुत्र महामायावी व्योमासुर गोपालवेश धारण करके भेड़ बने हुए बालकोंका हरण करने लगा। वह उन्हें पहाड़की गुफामें ले जाकर डाल देता तथा पत्थर (चट्टान) द्वारा उसके द्वारको बन्द कर देता। जब केवल चार अथवा पाँच ग्वालबाल ही रह गये, तब भक्तोंके शरणदाता भक्तवत्सल श्रीकृष्णने इससे अवगत होकर उस गोपवेशी असुरको ऐसे दबोच

लिया, जैसे सिंह भेड़िएको पकड़ लेता है। श्रीकृष्णने दोनों हाथोंसे उसे पृथ्वीपर गिराया तथा पशुकी भाँति उसका गला घोंटकर मार डाला। गुफाके आगे रखी हुई चट्टानको हटाकर ग्वालबालोंको उस स्थानसे बाहर निकाला। श्रीकृष्ण द्वारा व्योमासुरके वधको देखकर अनुगत देवता लोग श्रीकृष्णकी स्तुति करने लगे। श्रीकृष्णने गोकुल-व्रजमें प्रवेश किया॥१११-११६॥

श्रीकृष्णको मारनेके लिए केशीको व्रजमें प्रेरित करनेसे पहले ही धनुषयज्ञमें कृष्ण-बलरामको बुलानेके लिए कंसने अक्रूरको आज्ञा दी थी (अर्थात् एक ओर श्रीअक्रूरको व्रजमें जानेकी आज्ञा दी तथा दूसरी ओर केशीको भी व्रजमें प्रेरित किया)। अक्रूर द्वारा उस आज्ञाके पालनका वर्णन श्रीमद्भा. १०/३८/१, ३४-३५ में इस प्रकार किया गया है—

अक्रूरोऽपि च तां रात्रिं मधुपुर्यां महामतिः।
ऊषित्वा रथमास्थाय प्रययौ नन्दगोकुलम्॥११७क॥

रथात्तूर्णमवप्लुत्य सोऽक्रूरः स्नेहविह्वलः।
पपात चरणोपान्ते दण्डवद् रामकृष्णयोः॥११७ख॥

अक्रूरने उस रात मथुरामें रहकर दूसरे दिन प्रातःकाल ही रथपर सवार होकर नन्द-गोकुलकी ओर प्रस्थान किया। वहाँ पहुँचकर राम और कृष्णको देखते ही अक्रूर रथसे उतरकर स्नेहसे विह्वल हो गये तथा श्रीबलराम एवं श्रीकृष्णके श्रीचरणकमलोंमें साष्टाङ्गदण्डवत् प्रणाम करने लगे॥११७॥

भगवद्दर्शनाह्लादबाष्पपर्याकुलेक्षणः।
पुलकाचिताङ्ग औत्कण्ठ्यात् स्वाख्याने नाशकन् नृपः॥११८॥

भगवान्के दर्शनसे उन्हें इतना आनन्द हुआ कि उनकी आँखोंमें आसूँ छलछला आये। सारे शरीरमें पुलकावली छा गयी। बहुत उत्कण्ठावशता गला भर आनेके कारण वे अपने आगमनका कारण बतलानेमें भी समर्थ न हो सके॥११८॥

(श्रीमद्भा. १०/३९/८, १०-११ और ३८)

पृष्टो भगवता सर्वं वर्णयामास माधवः।
वैरानुबन्धं यदुषु वसुदेववधोद्यमम्॥११९क॥

श्रुत्वाक्रूरवचः कृष्णो बलश्च परवीरहा।
प्रहस्य नन्दं पितरं राज्ञादिष्टं विजज्ञतुः॥११९ख॥

गोपान् समादिशत् सोऽपि गृह्यतां सर्वगोरसः।
उपायनानि गृह्णीध्वं युज्यन्तां शकटानि च॥११९ग॥

भगवानपि सम्प्राप्तो रामाक्रूरयुतो नृप।
रथेन वायुवेगेन कालिन्दीमघनाशिनीम्॥११९घ॥

भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा पूछे जानेपर मधुवंशज अक्रूरने श्रीकृष्णके समक्ष कंसके अत्याचारकी सारी बातोंका वर्णन किया। यादवोंके प्रति कंसका वैर ठानना और श्रीवसुदेवके वधका उद्यम भी उनको सुना दिया। अक्रूरकी बातोंको श्रवण करके श्रीकृष्ण और शत्रु-वीरोंका दमन करनेवाले श्रीबलरामने हँसकर पिता नन्दको राजाकी आज्ञासे अवगत करा दिया। नन्द महाशयने व्रजगोपोंको आज्ञा देते हुए कहा—हे गोपो! सारा गोरस एकत्र करो, राजाके योग्य भेंटकी सामग्री प्रस्तुत करो और शकटोंसे बैलोंको जोड़ दो। हे राजन् परीक्षित! भगवान् श्रीकृष्ण और श्रीबलराम अक्रूरके साथ वायुके समान वेगवाले रथपर सवार होकर पापनाशिनी यमुनाके तटपर पहुँचे॥११९॥

(श्रीमद्भा. १०/३९/३४-३६)

गोप्यश्च दयितं कृष्णमनुव्रज्यानुरञ्जिताः।
प्रत्यादेशं भगवतः काङ्क्षन्त्यश्चावतस्थिरे॥१२०क॥

तास्तथा तप्यतीर्वीक्ष्य स्वप्रस्थाने यदूत्तमः।
सान्त्वयामास सप्रेमैरायास्य इति दौत्यकैः॥१२०ख॥

यावदालक्ष्यते केतुर्यावद्रेणुरथस्य च।
अनुप्रस्थापितात्मानो लेख्यानीवोपलक्षिताः ॥१२०ग॥

इति श्रीमद्भागवतार्कमरीचिमालायां सिद्धप्रेमरसवर्णने
रसगरिमा नाम एकोनविंशः किरणः।

अनुरागके रङ्गमें रङ्गी हुई, गोपियाँ अपने प्राण-प्रियतम कृष्णका पीछा करते हुए उनके निकट आयीं। वे प्रियतम श्रीकृष्णसे कुछ सन्देश पानेकी आकांक्षासे खड़ी हो गयीं। जब श्रीकृष्णने देखा कि मेरे मथुरा जानेसे गोपियाँ बड़ी सन्तप्त हो रही हैं, तब उन्होंने "हम पुनः आयेंगे"—इस प्रकारके प्रेमपूर्ण सान्त्वना देनेवाले वचन दूतके द्वारा कहलवा भेजें। जब तक रथकी ध्वजा और पहियोंसे उड़ती धूल दीखती रही, तब तक गोपियाँ श्रीकृष्णके साथ अपने चित्तको भेजकर चित्रकी भाँति ज्यों-की-त्यों खड़ी रहीं॥१२०॥

एकोनविंश किरणकी 'मरीचिप्रभा' नामक गौड़ीय-व्याख्याका भावानुवाद समाप्त॥

विंश किरण

सिद्धप्रेमरस रसमधुरिमा

राधापदाश्रिताः सर्वे गौरकृपाप्रसादतः।
सिद्धप्रेमरसे मग्ना वन्दे तान् गौरजीवनान्॥

श्रीगौराङ्ग महाप्रभुके कृपारूपी प्रसादसे श्रीराधाके चरणारविन्दोंके सम्पूर्ण रूपसे आश्रित तथा सिद्धप्रेमरस अर्थात् श्रीराधाके चरणकमलोंके प्रेममय सेवारसमें निमग्न उन सभी भक्तोंके श्रीचरणोंमें मैं दण्डवत्प्रणाम करता हूँ, जिनका जीवन तथा आत्मा श्रीगौराङ्ग महाप्रभु हैं।

श्रीकृष्णचैतन्यचन्द्राय नमः

प्रलम्बासुरके वधके पश्चात् शरत्–कालमें गोपियोंके पूर्वानुरागका वर्णन श्रीशुकदेव गोस्वामी महाराज परीक्षित्से इस प्रकार करते हैं। यथा श्रीमद्भा. १०/२१/५ में—

बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं
बिभ्रद् वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम्।
रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दै–
र्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्तिः॥१॥

कृष्ण–प्रीति ही प्रयोजन है। उसमें भी मधुर–प्रीति सर्वोत्तम है। यह केवल व्रजगोपियोंका ही नित्य धन है। श्रीकृष्णके दर्शन अथवा श्रीकृष्णके गुणोंके श्रवणसे व्रजगोपियोंमें पूर्वराग उदित होता है। पूर्वरागसे मिलन, सम्भोग तथा विरह आदिका वर्णन हुआ है। प्रथमतः पूर्वरागका वर्णन किया जा रहा है। (प्रेममयी गोपियाँ मन–ही–मन देखने लगीं कि) श्रीकृष्णके मस्तकपर मयूरके पंखोंका बना चूड़ा, कानोंपर कनेरके पीले–पीले पुष्प, शरीरपर सुनहरा पीताम्बर और गलेमें वैजयन्ती माला शोभा पा रही है। नटवरके समान कैसी सुन्दर देह है। वेणुके छिद्रोंको वे अपनी अधर सुधा द्वारा परिपूर्ण कर रहे है। उनके पीछे–पीछे ग्वालबाल उनकी लोकपालन कीर्त्तिका गान कर रहे हैं। इस प्रकार श्रीकृष्ण (शंख–चक्र आदि लक्षणोंसे युक्त) रतिजनक अपने चरणचिह्नोंके द्वारा सुशोभित वृन्दावनमें सखाओंके साथ प्रवेश कर रहे हैं॥१॥

(श्रीमद्भा. १०/१५/४२–४३)

तं गोरजश्छुरितकुन्तलबद्धबर्ह–
वन्यप्रसूनरुचिरेक्षणचारुहासम्।
वेणुं क्वणन्तमनुगैरूपगीतकीर्तिं
गोप्यो दिदृक्षितदृशोऽभ्यगमन् समेताः॥२॥

गौवोंके खुरोंसे उड़ी हुई धूलसे आवृत श्रीकृष्णकी घुँघराली अलकावलीमें मयूरपुच्छ तथा वनमें उत्पन्न फूल संलग्न हैं। उनका मुखकमल नित्य मनोहर मुस्कानसे युक्त है। वे अपनी वेणुके द्वारा मधुर गान गा रहे हैं और उनके सखा उनकी लीलाकीर्त्तिका गान कर रहे हैं—इस प्रकार सुशोभित श्रीकृष्णके निकट उत्कण्ठा दृष्टियुक्त (कृष्णके दर्शनके लिए तरसते) नेत्रोंसे सुशोभित गोपियोंने एक साथ आगमन किया॥२॥

पीत्वा मुकुन्दमुखसारघमक्षिभृङ्गै–
स्तापं जहुर्विरहजं व्रजयोषितोऽह्नि।
तत्सत्कृतिं समधिगम्य विवेश गोष्ठं
सव्रीडहासविनयं यदपाङ्गमोक्षम्॥३॥

व्रजगोपियोंने अपने नेत्ररूपी भ्रमरोंसे श्रीकृष्णके मुखारविन्दके मकरन्दका पान करके पूरे दिनके विरह जनित तापको दूर किया तथा श्रीकृष्णने भी उनके सलज्ज हास्य, विनय तथा अपाङ्ग मोक्षरूप (लाज भरी हँसी, विनयसे युक्त प्रेमभरी चितवन आदि) सत्कारको स्वीकार करते हुए गोष्ठमें प्रवेश किया॥३॥

(श्रीमद्भा. १०/२१/२–३)

कुसुमितवनराजिशुष्मिभृङ्ग–
द्विजकुलघुष्ठसरः सरिन्महीध्रम्।
मधुपतिरवगाह्य चारयन् गाः
सहपशुपालबलश्चुकूज वेणुम्॥४॥

उन्मत्त भ्रमरों तथा पक्षियोंके मधुर कलरवसे गुञ्जायमान सरोवरों, नदियों और पर्वतोंसे सुशोभित कुसुमित वनराजियोंमें श्रीकृष्णने बलदेव एवं ग्वालबालोंके साथ चलते हुए गायोंको चरानेके लिए वेणुपर मधुर तान छेड़ दी॥४॥

तद् व्रजस्त्रिय आश्रुत्य वेणुगीतं स्मरोदयम्।
काश्चित् परोक्षं कृष्णस्य स्वसखीभ्योऽन्ववर्णयन्॥५॥

श्रीकृष्णकी अनुपस्थितिमें कामका उदय करा देनेवाले उस वेणुगीतका श्रवण करके व्रजस्त्रियोंमेंसे कोई एक गोपी अपनी सखियोंसे इस प्रकार कहने लगी— ॥५॥

(श्रीमद्भा. १०/२१/१०-११)

वृन्दावनं सखि भुवो वितनोति कीर्तिं
यद् देवकीसुतपदाम्बुजलब्धलक्ष्मि।
गोविन्दवेणुमनुमत्तमयूरनृत्यं
प्रेक्ष्याद्रिसान्ववरतान्यसमस्तसत्वम् ॥६॥

अरी सखि! आश्चर्य तो देखो। देवकीसुत श्रीकृष्णकी चरण-कमलरूपी लक्ष्मी अर्थात् शोभा सम्पत्तिको स्पर्श करके यह वृन्दावन पृथ्वीकी कीर्त्तिका विस्तार कर रहा है। देखो, गोविन्दकी वेणुध्वनि सुनकर मतवाले मयूर नृत्य कर रहे हैं तथा उन्हें ऐसा करते देखकर पर्वतकी श्रेणियोंपर विचरनेवाले अन्यान्य सभी प्राणी भी सब कुछ त्यागकर नीचे चले आ रहे हैं॥६॥

धन्याः स्म मूढमतयोऽपि हरिण्य एता
या नन्दनन्दनमुपात्तविचित्रवेषम्।
आकर्ण्य वेणुरणितं सहकृष्णसाराः
पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकैः॥७॥

अहो! मूढ़-गति (निम्न योनि) को प्राप्त ये हरिणियाँ धन्य हैं, क्योंकि ये नन्दनन्दनके विचित्र वेशका दर्शन कर रही हैं। मधुर वेणुध्वनिको सुनकर ये अपने पति कृष्णसार मृगोंके साथ श्रीकृष्णके निकट आकर अपनी प्रेम भरी चितवनसे उनकी पूजा कर रही हैं॥७॥

(श्रीमद्भा. १०/२१/१३-१४)

गावश्च कृष्णमुखनिर्गतवेणुगीत-
पीयूषमुत्तभितकर्णपुटैः पिबन्त्यः।

शावाः स्नुतस्तनपयःकवलाः स्म तस्थु–
र्गोविन्दमात्मनि दृशाश्रुकलाः स्पृशन्त्यः ॥८॥

देखो, ये गौएँ कैसे श्रीकृष्णके मुखसे विनिर्गत वेणुगीत-सुधाका अपने कर्ण-पुटोंको ऊँचा करके पान कर रही हैं और उनके बछड़े माताओंके थनोंसे झरते हुए दुग्धका पान करते-करते अचानक उस वेणुगीतसे मोहित होकर थनोंका परित्याग करके स्थिर होकर मन-ही-मन श्रीकृष्णका स्पर्श करके नेत्रोंसे आनन्दाश्रु प्रवाहित कर रहे हैं॥८॥

प्रायो बताम्ब विहगा मुनयो वनेऽस्मिन्
कृष्णेक्षितं तदुदितं कलवेणुगीतम्।
आरुह्य ये द्रुमभुजान् रुचिरप्रवालान्
शृण्वन्ति मीलितदृशो विगतान्यवाचः ॥९॥

ओ माँ! और देखो, इस वृन्दावनके सभी पक्षी मुनियों जैसे ही हैं। ये वृन्दावनके वृक्षोंकी नयी और मनोहर पत्तोंवाली डालियोंपर बैठकर नेत्रोंको बन्दकर चुप-चाप श्रीकृष्णका दर्शन करते हुए वेणुगीतका श्रवण कर रहे हैं॥९॥

(श्रीमद्भा. १०/२१/१६-१७)

दृष्ट्वातपे व्रजपशून् सहरामगोपैः
सञ्चारयन्तमनु वेणुमुदीरयन्तम्।
प्रेमप्रवृद्ध उदितः कुसुमावलीभिः
सख्युर्व्यधात् स्ववपुषाम्बुद आतपत्रम्॥१०॥

बलराम और गोपबालकोंके साथ वेणु बजाते-बजाते श्रीकृष्ण जब व्रजके पशुओंको चराते हुए धूपमें चलते हैं, तब प्रेमसे आप्लावित होकर श्वेत-कुसुमके समान हल्की-हल्की फुहारें बरसाते हुए कृष्णवर्णके समानवर्ण वाले मेघ उनके सखाके रूपमें छातेका रूप धारणकर उनपर अपना जीवन न्योछावार कर रहे हैं॥१०॥

पूर्णाः पुलिन्द्य उरुगायपदाब्जराग–
श्रीकुङ्कुमेन दयितास्तनमण्डितेन।
तद्दर्शनस्मररुजस्तृणरूषितेन
लिम्पन्त्य आननकुचेषु जहुस्तदाधिम्॥११॥

देखो, पुलिन्द–रमणियाँ ही कृतार्थ हैं। श्रीकृष्णके चरणकमलोंके प्रति रागरूपी जिस श्रीकुङ्कुम द्वारा श्रीकृष्णकी प्रियतमाओंके स्तनमण्डल रञ्जित हुए थे, (वही कुङ्कुम प्रियतमाओंके साथ मिलनके उपरान्त श्रीकृष्णके वन परिभ्रमणके समय घास पर लग गया था,) उसे देखकर ये पुलिन्द–रमणियाँ कामपीड़ासे पीड़ित हो गयीं हैं तथा उस कुङ्कुमको घाससे पोंछ–पोंछकर अपने स्तनों और मुखोंपर मलकर अपने हृदयकी कामपीड़ाको शान्त कर रहीं हैं। ये बहुत सौभाग्यशाली हैं॥११॥

(श्रीमद्भा. १०/२१/२०)

एवम्विधा भगवतो या वृन्दावनचारिणः।
वर्णयन्त्यो मिथो गोप्यः क्रीडास्तन्मयतां ययुः॥१२॥

वृन्दावनमें विचरण करनेवाले श्रीकृष्णकी इस प्रकारकी लीलाओंका परस्पर वर्णन करते–करते गोपियाँ तन्मयताको प्राप्त हो गयीं॥१२॥

इस प्रकार शरत्–ऋतुके समय हुआ पूर्वानुराग वर्णित हुआ। अब हेमन्त–ऋतुमें हुई कुछ लीलाओंका वर्णन किया जा रहा है। (श्रीमद्भा. १०/२२/२२)

दृढं प्रलब्धास्त्रपया च हापिताः
प्रस्तोभिताः क्रीडनवच्च कारिताः।
वस्त्राणि चैवापहृतान्यथाप्यमुं
ता नाभ्यसूयन् प्रियसङ्गनिर्वृताः॥१३॥

कात्यायनी व्रतके समय व्रज कुमारियाँ जब यमुनामें स्नान कर रही थीं, तब श्रीकृष्णने उनके वस्त्र हरण कर लिये तथा अनेक

हास-परिहास करनेके उपरान्त ही उनके वस्त्र लौटाये। इससे गोपकुमारियाँ बहुत अधिक वञ्चित होनेके कारण लज्जित हुईं। यद्यपि उनके वस्त्र उन्हें छलने, हास-परिहास तथा लीला करनेके उद्देश्यसे ही हरण किये गये थे तथा अनेक छलपूर्वक प्रदान किये गये थे, तथापि (वे रुष्ट नहीं हुईं, कृष्णकी चेष्टाओंको दोष नहीं माना,) असूया सूचक कोई वाक्य भी नहीं कहा, बल्कि प्रियतमका जितना सङ्ग प्राप्त हुआ, उसीमें प्रियत्व हेतु प्रिय द्वारा प्रदान किये गये दुःखको भी सुखके रूपमें अनुभवकर सन्तुष्ट हो गयीं॥१३॥

(श्रीमद्भा. १०/२२/२४-२७)

तासां विज्ञाय भगवान् स्वपादस्पर्शकाम्यया।
धृतव्रतानां सङ्कल्पमाह दामोदरोऽबलाः॥१४॥

भगवान् समझ गये कि इन्होंने मेरे चरणस्पर्शकी कामनासे ही (कात्यायनी) व्रत धारण किया है। इसलिए उस समय उन अबलाओंसे भगवान् दामोदर कहने लगे—॥१४॥

सङ्कल्पो विदितः साध्व्यो भवतीनां मदर्चनम्।
मयानुमोदितः सोऽसौ सत्यो भवितुमर्हति॥१५॥

हे साध्वियो! मेरी पूजा करना ही तुम्हारा सङ्कल्प है, इसे मैं जान गया हूँ। अतएव मेरे द्वारा अनुमोदित होकर तुम्हारा सङ्कल्प सत्य होवे॥१५॥

न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते।
भर्जिता क्वथिता धानाः प्रायो बीजाय नेशते॥१६॥

मेरे प्रति उत्पन्न 'काम' किसी प्रकारके दोषको नहीं दर्शाता। अन्य कामनाएँ जितने परिमाणमें अमङ्गलमय होती हैं, मुझसे सम्बन्धित कामनाएँ उतने परिमाणमें सम्पूर्ण रूपसे मङ्गलमय होती हैं। मुझमें आविष्ट बुद्धियुक्त व्यक्तियोंका काम स्वार्थपर काम-तात्पर्यमय

नहीं होता। भर्जित (भुने हुए) तथा क्वथित (उबाले हुए) बीजोंमेंसे जिस प्रकार अङ्कुर उत्पन्न नहीं होते, उसी प्रकार मुझसे सम्बन्धित काम-भाव हृदयमें उत्पन्न होनेपर अन्यान्य समस्त कामनाओंके बीजको ध्वंस कर देता है अर्थात् कामनाओंके बीजको ही ऐसा बना देता है कि उनमेंसे काम-भोग हेतु अङ्कुर पुनः निकल ही नहीं सकते॥१६॥

याताबला व्रजं सिद्धा मयेमा रंस्यथ क्षपाः।
यदुद्दिश्य व्रतमिदं चेरुरार्यार्चनं सतीः॥१७॥

हे अबलाओ! हे सती-साध्वियो! तुम व्रजमें अपने-अपने घर लौट जाओ। जिस उद्देश्यसे तुमने कात्यायनी पूजनरूप व्रत किया है, वह सिद्ध होगा। आगामी शरत्-ऋतुकी रात्रियोंमें तुम मेरे साथ रमण करोगी॥१७॥

अब शरत्-लीलाका वर्णन किया जा रहा है। (श्रीमद्भा. १०/२९/१, ४, ८-९ और ११)

भगवानपि ता रात्रीः शारदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः॥१८॥

शरत्-कालीन प्रस्फुटित मल्लिकाके पुष्पोंसे सुशोभित उन रात्रियोंको देखकर योगमायाके बलसे श्रीकृष्णने रमण करनेकी इच्छा की। चित्-शक्ति ही योगमाया है। श्रीकृष्णकी इच्छासे प्रापञ्चिक जगत्में चित्-लीलाको प्रकट करना योगमायाका कार्य है॥१८॥

निशम्य गीतं तदनङ्गवर्धनं
व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः।
आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः
स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः॥१९॥

अनङ्ग अर्थात् कामकी वर्धित करनेवाले श्रीकृष्णके वेणुगीतका श्रवणकर व्रजस्त्रियोंका मन श्रीकृष्णके वशीभूत हो गया। सभी

एक-दूसरेसे अलक्षित भावसे प्रयत्नपूर्वक वहाँके लिए निकल पड़ी, जहाँ श्रीकृष्ण उपस्थित थे॥१९॥

ता वार्यमाणाः पतिभिः पितृभिर्भ्रातृबन्धुभिः।
गोविन्दापहृतात्मानो न न्यवर्तन्त मोहिताः॥२०॥

पति, पिता, माता, भाई और बन्धुओंके द्वारा रोके जानेपर भी गोविन्द द्वारा अपहृत-चित्त नित्यसिद्धा गोपियाँ रुकी नहीं॥२०॥

अन्तर्गृहगताः काश्चिद् गोप्योऽलब्धविनिर्गमाः।
कृष्णं तद्भावनायुक्ता दध्युर्मीलितलोचनाः॥२१॥

(किन्तु) साधनसिद्धा गोपियाँ घरोंके भीतर ही रह गयीं, उन्हें बाहर आनेका कोई भी मार्ग नहीं मिल पाया[१]। अतः वे वहीं कृष्णभावनासे युक्त चित्तसे नेत्र बन्द करके तन्मयताके साथ श्रीकृष्णका ध्यान करने लगीं॥२१॥

तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि सङ्गताः।
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः॥२२॥

वे परमात्माके अंशीरूप श्रीकृष्णको पारकीय बुद्धिसे सङ्गत अर्थात् प्राप्त होकर गुणमय देहका परित्याग करते हुए शीघ्र ही प्रक्षीणबन्धना अर्थात् प्राक्तन शुभाशुभ कर्मोंके बन्धनसे मुक्त हो गयीं॥२२॥

अपने निकट आयी गोपियोंको श्रीकृष्णने जो कहा, उसका श्रीमद्भा. १०/२९/१९ और २७ में इस प्रकार वर्णन है—

रजन्येषा घोररूपा घोरसत्त्वनिषेविता।
प्रतियात व्रजं नेह स्थेयं स्त्रीभिः सुमध्यमाः॥२३॥

---

[१] अर्थात् घरके दरवाजेपर पतिको छड़ी लेकर बैठा हुआ देखकर वे बाहर आनेका साहस नहीं जुटा पायीं। (श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरकी टीकासे उद्धृत)

नित्यसिद्धा गोपियाँ श्रीकृष्णके निकट उपस्थित हुईं। उन्हें देखकर प्रेमोचित छलके साथ श्रीकृष्ण कहने लगे—हे सुमध्यमाओ! यह रात्रि अत्यन्त भयानक है, इसमें भयङ्कर जीव-जन्तु इधर-उधर घूम रहे हैं। इसलिए व्रजमें अपने-अपने घर लौट जाओ। तुमलोगोंका इस स्थानपर रहना उचित नहीं है॥२३॥

श्रवणाद् दर्शनाद् ध्यानान्मयि भावोऽनुकीर्तनात्।
न तथा सन्निकर्षेण प्रतियात ततो गृहान्॥२४॥

मेरी कथाओंके श्रवण, मूर्त्तिके दर्शन, ध्यान तथा मेरे नाम आदिके अनुकीर्त्तन अर्थात् अनुक्षण नामकीर्त्तनसे मेरे प्रति जैसा प्रेम उत्पन्न होता है, मेरे सन्निकट रहनेसे वैसा नहीं होता। अतएव तुमलोग अपने-अपने घर लौट जाओ॥२४॥

श्रीकृष्णके अप्रिय वचनोंको सुनकर गोपियोंने जो कहा, उसका श्रीमद्भा. १०/२९/३३, ३८ और ४० में इस प्रकार वर्णन है—

कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः स्व आत्म-
न्नित्यप्रिये पतिसुतादिभिरार्तिदैः किम्।
तन्नः प्रसीद परमेश्वर मा स्म छिन्द्या
आशां धृतां त्वयि चिरादरविन्दनेत्र॥२५॥

हे कृष्ण! तुम हमारे अति प्रिय आत्मा हो। नित्य प्रिय वस्तु हो। कुशल-बुद्धिवाले मनुष्य तुम्हारी भक्ति करते हैं। दुःख प्रदान करनेवाले अनित्य पति-पुत्र आदिसे भला हमारा क्या प्रयोजन? हे वरदेश्वर! हमने बहुत समयसे तुम्हारे सङ्गकी प्राप्तिकी आशा लगा रखी है। हे अरविन्द-लोचन! हमारा त्याग मत कीजिये॥२५॥

तन्नः प्रसीद वृजिनार्दन तेऽङ्घ्रिमूलम्
प्राप्ता विसृज्य वसतीस्त्वदुपासनाशाः।
त्वत् सुन्दरस्मितनिरीक्षणतीव्रकाम
तप्तात्मनां पुरुषभूषण देहि दास्यम्॥२६॥

हे वृजिनार्दन अर्थात् कष्टोंको दूर करनेवाले! अपने-अपने घरोंका परित्याग करके हमने तुम्हारी उपासनाकी आशासे तुम्हारे श्रीचरणकमलोंको प्राप्त किया है। तुम्हारी सुन्दर मुस्कानके दर्शनसे हम तीव्र कामसे तप्त हो रही है। हे पुरुषभूषण! हमें अपना दास्य प्रदान करें॥२६॥

का स्त्र्यङ्ग ते कलपदायत वेणुगीत-
सम्मोहितार्यचरितान्न चलेत् त्रिलोक्याम्।
त्रैलोक्यसौभगमिदञ्च निरीक्ष्य रूपं
यद् गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यविभ्रन्॥२७॥

इस त्रिलोकीमें ऐसी कौन-सी स्त्री है, जो तुम्हारे कलपदामृत (मधुर-मधुर पद तथा आरोह-अवरोह क्रमसे विभिन्न प्रकारकी मूर्च्छनाओंसे युक्त अमृतमय) वेणुगीत द्वारा सम्मोहित होकर आर्यपथ अर्थात् पतिव्रतारूपी अपने धर्मसे विचलित न हो जाये। त्रैलोक्य सौभगरूप (त्रिजगत्के समस्त प्राणियोंके चित्तको मोहित करनेवाले) तुम्हारे इस चमत्कृत कर देनेवाले रूपका दर्शन करके जब गाय, हिरण आदि पशु तथा पक्षी और वृक्ष आदि भी पुलकित हो जाते हैं, तब हम तो तुम्हारी नित्य सहचरी हैं, अतएव हमारे प्रति तुम्हारे इस प्रकारके परिहासपूर्ण वचन नहीं चलेंगे॥२७॥

(श्रीमद्भा. १०/२९/४२)

इति विक्लवितं तासां श्रुत्वा योगेश्वरेश्वरः।
प्रहस्य सदयं गोपीरात्मारामोऽप्यरीरमत्॥२८॥

योगेश्वरेश्वर श्रीकृष्ण उन गोपियोंके ऐसे विलापयुक्त वचनोंको सुनकर मन्द-मन्द मुस्करा दिये तथा आत्माराम होनेपर भी गोपियोंके साथ रमण करने लगे। एक ओर तो भगवत्-तत्त्व पूर्ण आत्माराम है और दूसरी ओर लीलाधाम है। आत्मारामता ही

भगवान्का स्वधर्म है। उसे त्याग करके परस्त्री ग्रहण करना ही (लीलाधाम अर्थात्) पारकीयरस है॥२८॥

(श्रीमद्भा. १०/२९/४८)

तासां तत् सौभगमदं वीक्ष्यमाणं च केशवः।
प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयत॥२९॥

श्रीकृष्णके साथ रासविलासमें श्रीराधाकी प्रतिपक्षवाली गोपियोंमें सौभाग्यसे उत्पन्न गर्व प्रकाशित हुआ (तथा श्रीराधाको मान हो गया)। उन गोपियोंके गर्वको दूरकर उन्हें अपनी सम्पूर्ण कृपा प्रदान करनेके उद्देश्यसे (तथा श्रीराधाके मानको दूरकर उन्हें प्रसन्न करनेके लिए) श्रीकृष्ण सहसा उस स्थान (उनके बीच) से अन्तर्धान हो गये।

तात्पर्य यह है कि लीला-पोषणके लिए नित्यसिद्धा गोपियाँ श्रीमती राधिकाके स्वपक्ष तथा प्रतिपक्षके भेदसे दो प्रकारकी होती हैं। रासमें श्रीकृष्ण द्वारा श्रीमती राधिका जैसे व्यवहारको प्राप्त करके प्रतिपक्षको जो सौभग (सौभाग्यसे उत्पन्न गर्व) हो गया था, उसे प्रशमित करनेकी इच्छासे श्रीकृष्ण राधिकाको साथ लेकर अन्तर्धान हो गये। उस समय स्वपक्षीय गोपियाँ मन-ही-मन आनन्दित होकर प्रतिपक्षीय यूथेश्वरियोंके साथ उन्हें ढूँढ़ने लगीं॥२९॥

(श्रीमद्भा. १०/३०/३-४)

गतिस्मितप्रेक्षणभाषणादिषु
प्रियाः प्रियस्य प्रतिरूढमूर्तयः।
असावहं त्वित्यबलास्तदात्मिका
न्यवेदिषुः कृष्णविहारविभ्रमाः॥३०॥

ढूँढ़ते-ढूँढ़ते गोपियोंमें उस समय अधिरूढ़भाव उदित हुआ। प्रियतम श्रीकृष्णकी गति, स्मित, चितवन, बोलचाल आदिमें प्रतिरूढ़-मूर्त्ति (श्रीकृष्णके जैसी मुद्राधारण करके) "मैं कृष्ण हूँ" ऐसा बोलते-बोलते वे अबलाएँ तदात्मिका हो पड़ीं (अर्थात् वे

श्रीकृष्णमें पूर्ण रूपसे तन्मय हो गयीं)। विरहके समय प्रियतमको दूर न रख पानेके कारण इस प्रकारके तदात्मिक भावका प्रकाश करना एक प्रकारका प्रेम विकार है—इसे भी महाभाव कहते हैं। उस अवस्थामें वे परस्पर श्रीकृष्णके विहार-विलास विभ्रम आदिके विषयमें बातें करने लगीं। ज्ञान पक्षमें जिसे सायुज्य कहा जाता है, उसमें यह रस उदित नहीं होता। प्रेमपक्षमें इस क्षणिक सायुज्यका एक आश्चर्यजनक भाव यह है कि कृष्णदर्शनमें अथवा कृष्ण-सदृश भाव दर्शनसे यह भाव और अधिक नहीं ठहर पाता॥३०॥

गायन्त्य उच्चैरमुमेव संहता
विचिक्युरुन्मत्तकवद् वनाद् वनम्।
पप्रच्छुराकाशवदन्तरं बहि-
र्भूतेषु सन्तं पुरुषं वनस्पतीन्॥३१॥

जब श्रीकृष्णका बहुत अधिक स्मरण होने लगा, तब विह्वल होकर वे उन्हें ढूँढ़ने लगीं। स्वपक्ष और प्रतिपक्षका भाव त्याग करके सभी मिलकर कृष्ण विषयक गान करने लगीं तथा उन्मत्तके समान एक वनसे दूसरे वनमें उन्हें ढूँढ़ने लगीं। आकाशकी भाँति सर्वभूतों अर्थात् सभी चराचरोंके बाहर तथा अन्तरमें विराजमान श्रीकृष्णके विषयमें गोपियाँ वनस्पतियोंसे प्रश्न करने लगीं। यह भी एक अन्य प्रकारका प्रेमविकार है॥३१॥

(श्रीमद्भा. १०/३०/२४)

एवं कृष्णं पृच्छमाना वृन्दावनलतास्तरून्।
व्यचक्षत वनोद्देशे पदानि परमात्मनः॥३२॥

इस प्रकार जब गोपियाँ श्रीकृष्णको ढूँढ़ते-ढूँढ़ते वृन्दावनकी लताओं और वृक्षोंसे श्रीकृष्णके विषयमें जिज्ञासा करते-करते आगे बढ़ रही थी, तब उन्हें वनके एक स्थानपर परमात्मा श्रीकृष्णके दोनों चरणचिह्न दिखायी पड़े॥३२॥

(श्रीमद्भा. १०/३०/२६)

तैस्तैः पदैस्तत्पदवीमन्विच्छन्त्योऽग्रतोऽबलाः।
वध्वाः पदैः सुपृक्तानि विलोक्यार्ताः समब्रुवन्॥३३॥

उन पदचिह्नोंके आधारपर क्रमशः श्रीकृष्णको ढूँढ़ती हुई गोपियाँ जब आगे बढ़ीं, तब कुछ दूरीपर ही श्रीकृष्णके दोनों पदचिह्नोंके साथ किसी स्त्रीके पदचिह्न दिखे, जिन्हें देखकर वे आर्त्त भावसे कहने लगीं—॥३३॥

(श्रीमद्भा. १०/३०/२८-३३)

अनयाराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद् रहः॥३४॥

प्रतिपक्षकी यूथेश्वरी चन्द्रावलीने कहा—हे सखियो! यह राधिका हम सबकी अपेक्षा अधिक भाग्यशालिनी है। इसने अवश्य ही हमारी अपेक्षा भगवान् श्रीहरिकी अधिक आराधना करके 'राधिका' नामको प्राप्त किया है। इसी कारणसे रासस्थलीमें हमारा परित्याग करके गोविन्द इसपर अधिक प्रसन्न होकर इसे एकान्तमें ले गये हैं॥३४॥

धन्या अहो अमी आल्यो गोविन्दाङ्घ्र्यब्जरेणवः।
यान् ब्रह्मेशौ रमादेवी दधुर्मूर्ध्न्यघनुत्तये॥३५॥

हे सखियो! श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी रजको प्राप्त करनेके साथ-ही-साथ ब्रह्मा, शिव तथा रमादेवी भी अपने अशुभ विनाशके लिए सिरपर धारण करते हैं। श्रीमती राधिकाकी चरण-रेणुसे युक्त होकर यह रज (श्रीकृष्णकी चरणरेणु) और भी अधिक धन्य हो गयी है। यहाँ यह स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि श्रीमती राधिकाकी महिमाको जाननेसे चन्द्रावलीका सौभाग्यसे उत्पन्न गर्व दूर हो गया है॥३५॥

तस्या अमूनि नः क्षोभं कुर्वन्त्युच्चैः पदानि यत्।
यैकापहृत्य गोपीनां रहो भुङ्क्तेऽच्युताधरम्॥३६क॥

श्रीराधिकाकी सहचरी ललिता सोल्लुण्ठ (चातुर्यपूर्ण) वचनोंका अवलम्बन लेकर बोली—हे शैब्ये! श्रीकृष्णके चरणकमलोंके साथ श्रीराधाके चरणकमलोंका होना कोई क्षोभका विषय नहीं है, क्योंकि श्रीमती राधिकाके अतिरिक्त और किसके चरणचिह्नोंको श्रीकृष्णके चरणकमलोंके साथ होनेका अधिकार हो सकता है। परन्तु फिर भी एक बात यह है कि जो कृष्णाधरामृत हम सब गोपियोंका धन है, उसका वह अकेले ही पान कर रही है—केवल यही क्षोभका विषय है॥३६क॥

न लक्ष्यन्ते पदान्यत्र तस्या नूनं तृणाङ्कुरैः।
खिद्यत्सुजाताङ्घ्रितलामुन्निन्ये प्रेयसीं प्रियः॥३६ख॥

इमान्यधिकमग्नानि पदानि वहतो वधूम्।
गोप्यः पश्यत कृष्णस्य भाराक्रान्तस्य कामिनः।
अत्रावरोपिता कान्ता पुष्पहेतोर्महात्मना॥३७॥

श्रीविशाखादेवी कहने लगीं—अहो! राधिकाका कैसा सौभाग्य है! अब यहाँ उसके पदचिह्न दिखायी नहीं दे रहे हैं। ऐसा लगता है कि अपनी प्रेयसी राधाके सुकोमल पदतलोंको तृणाङ्कुरके द्वारा व्यथित हुआ देखकर प्रियतम कृष्णने उसे अपने कन्धेपर चढ़ाकर चलना प्रारम्भ किया होगा। यह देखो, अब हरिके चरणचिह्न और अधिक गहरे दिखायी दे रहे हैं। अपनी प्रिया श्रीराधिकाको वहन करनेसे भाराक्रान्त राधिकाकामी श्रीकृष्णके पदचिह्न और भी अधिक गहरे दिखायी दे रहे हैं। और यहाँ देखो, महात्मा श्रीकृष्णके द्वारा राधाको यहाँ उतारा गया होगा। ऐसा लग रहा है कि श्रीकृष्णने अपनी कान्ताके लिए पुष्पचयन करने हेतु ही उसे अपने कन्धेसे उतार दिया होगा॥३६ख–३७॥

अत्र प्रसूनावचयः प्रियार्थे प्रेयसा कृतः।
प्रपदाक्रमणे एते पश्यतासकले पदे॥३८॥

अनङ्गमञ्जरीने कहा—अहो! मेरी बहनका क्या ही सौभाग्य है! इस स्थानको देखो! यहाँ श्रीकृष्णके चरणकमलोंके आगेवाले भाग

(पञ्जे) अधिक गढ़े हुए है! प्रियतम कृष्ण प्रियाके लिए पुष्प चयन करने हेतु पञ्जोंके बलपर खड़े हुए होंगे॥३८॥

केशप्रसाधनं त्वत्र कामिन्याः कामिना कृतम्।
तानि चूडायता कान्तामुपविष्टमिह ध्रुवम्॥३९॥

श्रीरूपमञ्जरी कहने लगीं—देखो, इस स्थानपर कामी कृष्णने कामिनी राधाके केश प्रसाधित किये हैं। इसी कार्यको साधनेके लिए ही श्रीकृष्ण श्रीमती राधिकाको निर्जनमें ले आये हैं। समस्त गोपियोंके साथ रासमण्डलमें एकता (समानता) देखकर राधिकाका जो स्वाभाविक वाम्यभाव उदित होता है, उसीको शान्त करनेके लिए उसके गुँथे हुए केशोंमें पुष्पचूड़ा लगानेके लिए वे इस स्थानपर बैठे होंगे॥३९॥

(श्रीमद्भा. १०/३०/३५, ३७)

इत्येवं दर्शयन्त्यस्ताश्चेरुर्गोप्यो विचेतसः।
यां गोपीमनयत् कृष्णो विहायान्याः स्त्रियो वने॥४०॥

ततो गत्वा वनोद्देशं दृप्ता केशवमब्रवीत्।
न पारयेऽहं चलितुं नय मां यत्र ते मनः॥४१॥

आत्माराम श्रीकृष्ण श्रीमतीके साथ एकान्त खण्डित सम्भोगरसका आस्वादन कर रहे थे। रमणके समय कामी पुरुषोंका जो दैन्य होता है, वह श्रीकृष्णमें लक्षित हो रहा था। कामिनीका जो अभिमानादि दुर्लभता भावरूप दौरात्म्य है, वह श्रीमतीमें स्वभावतः प्रकाशित हुआ। इस प्रकार प्रियतमके साथ किये जा रहे अपने विहारके प्रायः समाप्त होनेपर श्रीमतीके मनमें अन्यान्य गोपियोंकी व्याकुलताका विचार उदित हुआ। अन्य समस्त गोपियाँ श्रीमतीकी कायव्यूह हैं। उनके साथ श्रीकृष्णके मिलनमें श्रीमतीको स्वाभाविक सुख होता है। रासके अतिरिक्त सबके साथ श्रीकृष्णका मिलन सम्भव नहीं है। रास करनेका श्रीकृष्णका मन भी है। अतएव स्वाधीनभर्तृकाका भाव प्रदर्शन करते हुए राधा गर्वित होकर

बोलीं—हे कृष्ण! मैं थक गयी हूँ। चल नहीं सकती। अब तुम्हारी जहाँ इच्छा हो, वहीं ले चलो अर्थात् रासस्थलीमें ले चलो॥४०–४१॥

(श्रीमद्भा. १०/३०/३८–४०)

एवमुक्तः प्रियामाह स्कन्धे आरुह्यतामिति।
ततश्चान्तर्दधे कृष्णः सा वधूरन्वतप्यत॥४२॥

श्रीकृष्ण श्रीमतीके मनके भावको जानकर प्रियासे कहने लगे—प्रिये! मेरे कन्धेपर आरोहण करो। यह कहते-कहते श्रीकृष्ण श्रीमतीका विप्रलम्भभाव देखनेकी इच्छासे अन्तर्धान हो गये। विप्रलम्भमें प्रथमतः सुखकी अधिकता होती है, तत्पश्चात् स्वाधीनभर्तृकाका जो अभिमानरूप दौरात्म्य है, वह दूर हो जाता है। अतएव श्रीमतीको सम्पूर्ण रूपसे राससुख देनेके लिए श्रीकृष्णकी ऐसी रसभङ्गिमा है। श्रीकृष्णके अन्तर्धान होनेसे उनके विरहमें श्रीमती विलाप करने लगीं॥४२॥

हा नाथ रमण प्रेष्ठ क्वासि क्वासि महाभुज।
दास्यास्ते कृपणाया मे सखे दर्शय सन्निधिम्॥४३॥

हे नाथ! हे महाभुज! हे रमण! हे प्रेष्ठ! इस समय तुम कहाँ हो? हे सखे! इस दीन-हीन दासीको पुनः दर्शन दो॥४३॥

अन्विच्छन्त्यो भगवतो मार्गं गोप्योऽविदूरितः।
ददृशुः प्रियविश्लेषान्मोहितां दुःखितां सखीम्॥४४॥

जो सब गोपियाँ श्रीकृष्णके गमनमार्गका अन्वेषण कर रही थी, उन्होंने दूरसे ही प्रियतमके वियोगसे मोहित होनेवाली दुःखी सखीको देखा॥४४॥

(श्रीमद्भा. १०/३०/४४)

पुनः पुलिनमागत्य कालिन्द्याः कृष्णभावनाः।
समवेता जगुः कृष्णं तदागमनकाङ्क्षिताः॥४५॥

उस समय सब मिलकर कालिन्दीके पुलिनमें पुनः आ गयीं और केवल श्रीकृष्णकी ही भावनामें डूबकर उनके आगमनकी आकांक्षासे एक स्वरमें (श्रीकृष्णके गुणोंका) गान करने लगीं॥४५॥

गोपियोंके द्वारा गाया गया वह गीत रासगीत अथवा गोपीगीतके नामसे प्रसिद्ध है। जिसका श्रीमद्भा. १०/३१/१-१९ में इस प्रकार वर्णन है—

जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि।
दयित दृश्यतां दिक्षु तावकास्त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते॥४६॥

गोपियाँ कहने लगीं—हे दयित! तुम्हारे जन्मके द्वारा यह व्रज जययुक्त हो गया है। तभी तो इन्दिरा अर्थात् लक्ष्मीने अपने धाम वैकुण्ठको छोड़कर इस व्रजका आश्रय कर रखा है। हमारे सामने प्रकट होकर तुम अपने दर्शन दो। हम तुममें ही अपने प्राणोंको समर्पित करके तुम्हें ढूँढ़ रही हैं॥४६॥

शरदुदाशये साधुजातसत्–सरसिजोदरश्रीमुषा दृशा।
सुरतनाथ तेऽशुल्कदासिका वरद निघ्नतो नेह किं वधः॥४७॥

हे सुरतनाथ! हे वरद! हम तुम्हारी बिना मूल्यकी दासी हैं। शरत्-कालीन सरोवरोंमें सुन्दर विकसित-कमलके मध्यवर्ती कर्णिकाकी शोभाको हरण करनेवाले तुम्हारे नयन हमारा भीतर-ही-भीतर वध कर रहे हैं। क्या यह वध नहीं है? एक बार दर्शन देकर दासियोंके प्राणोंकी रक्षा करो॥४७॥

विषजलाप्ययाद् व्यालराक्षसाद् वर्षमारुताद् वैद्युतानलात्।
वृषमयात्मजाद् विश्वतो भयाद् ऋषभ ते वयं रक्षिता मुहुः॥४८॥

तुमने कालियनाग द्वारा किये गये यमुनाके विषैले जलसे, सर्परूप अघासुरसे, इन्द्रकृत आँधी-वर्षा और वज्रसे, वृषासुरसे, मय दानवके पुत्र व्योमासुरसे तथा अन्य सारी विपत्तियोंसे हमारी बारम्बार रक्षा की है। हे पुरुष-श्रेष्ठ! अब तुम हमें दर्शन न देकर पीड़ित क्यों कर रहे हो?॥४८॥

न खलु गोपिकानन्दनो भवान्–अखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये सख उदेयिवान् सात्वतां कुले॥४९॥

तुम यशोदानन्दन कृष्ण हो। तुम्हीं हम लोगोंके अस्तित्व हो, प्राण हो। किन्तु हमलोग तुम्हारा जो भाव देख रही हैं, उसमें तुम अपने उस भावको छिपाकर अखिल देहियोंकी अन्तरात्माके द्रष्टारूप विष्णुके रूपमें प्रतीत हो रहे हो। हमने सुना है कि तुमने ब्रह्माके द्वारा प्रार्थित होकर विश्वकी रक्षाके लिए यादवोंके कुलमें जन्म लिया है—ऐसा परिचय प्राप्त करनेके कारण ही हमारे प्रति उदासीन हो रहे हो। जो भी हो, हमारे प्रति तुम्हारा यह भाव उचित नहीं दीखता॥४९॥

विरचिताभयं वृष्णिधूर्य ते चरणमीयुषां संसृतेर्भयात्।
करसरोरुहं कान्त कामदं शिरसि धेहि नः श्रीकरग्रहम्॥५०॥

हे यदुवंशशिरोमणे! यशोदानन्दन कहनेसे तुम्हारा भावान्तर होता है, यह देखकर हम तुम्हें अब वसुदेवनन्दनके नामसे ही पुकारेंगी। तुम्हारा करकमल तुम्हारे चरणाश्रितोंकी संसार–दशाका नाश करके अभय प्रदान करनेवाला है। हम तुम्हारे विरहभयको दूर करनेवाले तुम्हारे करकमलकी प्रतीक्षा कर रही हैं। हे कान्त! हमें संसार–दशासे भय नहीं है। कृपा करके सब प्रकारकी कामनाओंको पूर्ण करनेवाले अपने श्रीहस्तकमलोंको हमारे मस्तकपर रखकर हमारे विरहदुःखको दूर करो॥५०॥

व्रजजनार्तिहन् वीर योषितां निजजनस्मयध्वंसनस्मित।
भज सखे भवत्किङ्करीः स्म नो जलरुहाननं चारु दर्शय॥५१॥

हे व्रजवासियोंके दुःखको दूर करनेवाले! तुम स्त्रियोंके वीर हो! तुम्हारी मन्द–मुसकान ही तुम्हारे प्रेमीजनोंके सारे मान–मदको चूर्ण–विचूर्ण करनेवाली है। हे सखे! हम तो तुम्हारी नित्य किङ्करी हैं। हमें अपना सुन्दर मुखकमल दिखलाओ॥५१॥

प्रणतदेहिनां पापकर्षणं तृणचरानुगं श्रीनिकेतनम्।
फणिफणार्पितं ते पदाम्बुजं कृणु कुचेषु नः कृन्धि हृच्छयम्॥५२॥

शरणागत व्यक्तियोंके समस्त पापोंको नष्ट करनेवाले, गैयाओंका अनुगमन करनेवाले, सब प्रकारकी शोभा और सम्पत्तिकी अधिष्ठात्रीदेवी साक्षात् श्रीलक्ष्मीके निकेतन (आश्रय) तथा कालिय नागके फणोंपर रखे गये अपने उन श्रीचरणकमलोंको हमारे वक्षःस्थलपर रखकर कामको नाश अर्थात् शान्त कर दो॥५२॥

मधुरया गिरा वल्गुवाक्यया बुधमनोज्ञया पुष्करेक्षण।
विधिकरीरिमा वीर मुह्यतीरधरसीधुनाप्याययस्व नः॥५३॥

हे पुष्करलोचन (कमलनयन)! तुम्हारे वह मधुर वचन जो सुन्दर-सुन्दर पदावलियोंसे मिश्रित तथा पण्डितोंके चित्तको भी अत्यधिक आकर्षित करनेवाले हैं, उन्हीं वचनों द्वारा मोहको प्राप्त होनेवाली अपनी इन विधिकरी अर्थात् किङ्करियोंको हे वीर! अपना अधरामृत पान कराके स्निग्ध कर दीजिये॥५३॥

तव कथामृतं तप्तजीवनं कविभिरीडितं कल्मषापहम्।
श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः॥५४॥

तुम्हारा कथारूपी अमृत विरहसे सन्तप्त जनोंके लिए जीवन सर्वस्व है। कवियों (महाजनों) ने कहा है कि इसीसे सभी कल्मष अर्थात् पाप-ताप नष्ट होते हैं। यह श्रवणमङ्गल अर्थात् श्रवणमात्रसे परम कल्याणका दान करनेवाली तथा श्रीमद् अर्थात् अप्राकृत कवियों द्वारा बहुत विस्तृत भी की गयी हैं। जगत्में जिन्होंने बहुत अधिक दान किया है अर्थात् जो बहुत अधिक सुकृतिशाली हैं, वही तुम्हारे कथारूपी अमृतका पान करते हैं॥५४॥

प्रहसितं प्रिय प्रेमवीक्षणं विहरणं च ते ध्यानमङ्गलम्।
रहसि संविदो या हृदिस्पृशः कुहक नो मनः क्षोभयन्ति हि॥५५॥

हे प्रिय! तुम्हारा सुन्दर हास्य, प्रेमभरी चितवन, तुम्हारा ध्यान, मङ्गलमय विहार तथा निर्जनमें किया गया हृदयस्पर्शी आलाप, हे कपटी! ये सब हमारे मनको क्षुब्ध कर रहा है॥५५॥

चलसि यद् व्रजाच्चारयन् पशून् नलिनसुन्दरं नाथ ते पदम्।
शिलतृणाङ्कुरैः सीदतीति नः कलिलतां मनः कान्त गच्छति॥५६॥

हे कान्त! जब तुम व्रजसे गाय आदि पशुओंको चरानेके लिए वनमें जाते हो, उस समय तुम्हारे कमल जैसे सुन्दर चरणकमल शिला, तृणाङ्कुर (कंकड़, तिनको तथा कुश-काँटों) द्वारा कितना कष्ट पाते होंगे—इस चिन्तासे हमारा मन सर्वदा दुःखी रहता है॥५६॥

दिनपरिक्षये नीलकुन्तलैर्वनरुहाननं बिभ्रदावृतम्।
घनरजस्वलं दर्शयन् मुहुर्मनसि नः स्मरं वीर यच्छसि॥५७॥

हे वीर! दिनके अवसान होनेपर अर्थात् सन्ध्याके समय अपनी नीली अलकावलियोंसे आवृत, गोपदधूलिसे धूसरित कमलवदनको पुनः-पुनः दिखाकर हमारे मनमें काम (प्रेम) प्रदान किया करते हो॥५७॥

प्रणतकामदं पद्मजार्चितं धरणिमण्डनं ध्येयमापदि।
चरणपङ्कजं शन्तमं च ते रमण नः स्तनेष्वर्पयाधिहन्॥५८॥

हे मनके दुःखोंका नाश करनेवाले श्रीकृष्ण! अपने शरणागत भक्तोंकी सारी अभिलाषाओंको पूर्ण करनेवाले, स्वयं लक्ष्मी द्वारा सेवित, पृथ्वीके एकमात्र शोभासम्पद, आपत्तिके समयमें ध्यान करने योग्य, कामतापको शान्त करनेवाले श्रीचरणकमल हे रमण! हमारे वक्षःस्थलपर धारण कराओ॥५८॥

सुरतवर्धनं शोकनाशनं स्वरितवेणुना सुष्ठु चुम्बितम्।
इतररागविस्मारणं नृणां वितर वीर नस्तेऽधरामृतम्॥५९॥

हे वीर! कामको वर्धित करनेवाले, शोकका नाश करनेवाले, मधुर स्वरयुक्त वेणु द्वारा सुन्दर रूपसे चुम्बित, मनुष्योंके इतर (आपके अतिरिक्त अन्यान्य सभी प्रकारके) रागको विस्मृत करानेवाले अपने अधरामृतका हमें दान करो॥५९॥

अटति यद् भवानह्नि काननं त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम्।
कुटिलकुन्तलं श्रीमुखं च ते जड उदीक्षतां पक्ष्मकृद् दृशाम्॥६०॥

दिनके समय जब तुम वनमें विहार करनेके लिए चले जाते हो, उस समय तुम्हें न देखकर हमारा एक-एक त्रुटि-परिमाण-काल अर्थात् आधा क्षण भी युगके समान हो जाता है। और जब तुम सन्ध्याके समय वनसे लौटते हो, तब कुटिल-कुन्तल (घुँघराली अलकावलियों) से युक्त तुम्हारे श्रीमुखको विशेष आग्रहके साथ हम देखती हैं। किन्तु उस समय हमारे नेत्रोंकी पलकें हमें बाधा पहुँचाती हैं। विधाता नितान्त निर्बोध है, जिसने कृष्णमुखको देखनेवाली आँखोंमें पलकोंकी रचना की है॥६०॥

पतिसुतान्वयभ्रातृबान्धवान् अतिविलङ्घ्य तेऽन्त्यच्युतागताः।
गतिविदस्तवोद्गीतमोहिताः कितव योषितः कस्त्यजेन्निशि॥६१॥

हे अच्युत! पति, पुत्र, माता, पिता, भाई तथा बन्धु-बान्धवोंको सम्पूर्ण रूपसे छोड़कर हम तुम्हारे पास आयी हैं। तुम हमारे आनेका कारण जानते हो; हम तुम्हारे गीतके द्वारा मोहित होकर आयी हैं। हे कितव (शठ)! ऐसी अवस्थामें तुम्हारे अतिरिक्त और कौन पुरुष स्त्रियोंको रात्रिमें इस प्रकार त्याग कर सकता है॥६१॥

रहसि संविदं हृच्छयोदयं प्रहसिताननं प्रेमवीक्षणम्।
बृहदुरः श्रियो वीक्ष्य धाम ते मुहुरतिस्पृहा मुह्यते मनः॥६२॥

तुम्हारे साथ हुए कामोदयकारी निर्जन आलाप, तुम्हारे हास्यसे परिपूर्ण मुख, प्रेमभरी दृष्टि, विशाल वक्षःस्थलके सौन्दर्यसे युक्त

तुम्हारे अपूर्व स्वरूपके दर्शनसे बारम्बार हमारा मन मोहित हो रहा है तथा रतिकी स्पृहा भी उदित हो गयी है॥६२॥

व्रजवनौकसां व्यक्तिरङ्ग ते वृजिनहन्त्र्यलं विश्वमङ्गलम्।
त्यज मनाक् च नस्त्वत्स्पृहात्मनां स्वजनहृद्रुजां यन्निषूदनम्॥६३॥

हे कृष्ण! तुम्हारी यह प्रकट अभिव्यक्ति अर्थात् तुम्हारा प्राकट्य व्रजवासियोंके समस्त क्लेशोंका निवारण करनेवाला तथा विश्वका मङ्गल करनेवाला है। तुम्हें प्राप्त करनेकी स्पृहासे युक्त जो तुम्हारे स्वजन हम हैं, हमारे लिए हृद्रोग-नाशक जो तुम्हारी औषधि है, उसे किञ्चित्मात्र हमें प्रदान करो॥६३॥

यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु
भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु।
तेनाटवीमटसि तद् व्यथते न किंस्वित्
कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः॥६४॥

आहा! हम और क्या कहें, तुम हमारे प्राणोंके प्राण हो। तुम्हारे जो कोमल श्रीचरणकमल हैं, उन्हें अपने कर्कश स्तनोंके ऊपर हे प्रिय! हम कितने भयके साथ धारण करती हैं, और तुम उन्हीं सुकोमल श्रीचरणकमलोंसे वन-वनमें भ्रमण करते हो। इनमें नुकीले कंकड़, पत्थर आदि चुभनेसे व्यथा होती होगी—इस आशङ्कासे हम व्यथित होती रहती हैं॥६४॥

गोपियोंके समक्ष श्रीकृष्णके आविर्भूत होनेका वर्णन श्रीमद्भा. १०/३२/१-३ में इस प्रकार किया गया है—

इति गोप्यः प्रगायन्त्यः प्रलपन्त्यश्च चित्रधा।
रुरुदुः सुस्वरं राजन् कृष्णदर्शनलालसाः॥६५॥

गोपियाँ इस प्रकार श्रीकृष्ण-विरहके आवेशमें गान करते-करते विचित्र रूपसे प्रलाप कर रही थीं। वे कृष्ण-दर्शनकी लालसासे सुस्वर रोदन करने लगीं॥६५॥

तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः।
पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः॥६६॥

ठीक उसी समय उन गोपियोंके सम्मुख मन्द-मुस्कानसे युक्त मुखकमलवाले, पीताम्बरधारी, वनमालासे विभूषित, साक्षात् मन्मथ-मन्मथ स्वरूप श्रीकृष्ण सहसा आविर्भूत हुए। जड़देह अर्थात् स्थूलशरीर तथा लिङ्गशरीरमें जीवोंका जो काम रहता है, उसका नाम मन्मथ है। यही मन्मथ सारे अनर्थोंकी जड़ है। यह मनको मथकर जड़-विषयगामी कर देता है अर्थात् अणुचैतन्यरूप जीवको विभुचैतन्यरूप श्रीकृष्णसे बहिर्मुख कर देता है। बहिर्मुख विषयी इस मन्मथके वशीभूत होकर योषित्-सङ्ग आदिके द्वारा संसाररूपी गड्ढेमें गिरकर कष्ट पाता है, श्रीकृष्ण चित्-जगत्के मन्मथ हैं। समस्त शुद्ध चित्-वस्तुको आकर्षित करके श्रीकृष्ण नित्य चित्-धाममें परम लीला करते हैं। वही लीला ही इस व्रजकी रासलीला है। मायिक चक्षुओंसे बहिर्मुख जीव क्षुद्र-जड़ीय-मन्मथके साथ चित्-लोकके मन्मथकी तुलना करके अधोपतित हो जाता है अथवा उससे उदासीन होकर निवृत्त हो जाता है। चित्-मन्मथका हेय प्रतिफलन जड़ीय काम है, जिसे बद्धजीव स्त्री-पुरुषके संयोगसे भोग करते हैं। वृन्दावनमें वही अप्राकृत परम मदनरूप श्रीकृष्ण गोपियोंके सम्मुख प्रकट हुए॥६६॥

तं विलोक्यागतं प्रेष्ठं प्रीत्युत्फुल्लदृशोऽबलाः।
उत्तस्थुर्युगपत् सर्वास्तन्वः प्राणमिवागतम्॥६७॥

अहो! गोपियाँ चित्-प्रेमकी एकमात्र आदर्श हैं। जब उन्होंने श्रीकृष्णको अपने सम्मुख देखा, तो उन्हें ऐसा लगा मानो उनके निर्जीव शरीरमें प्राणोंका सञ्चार हो गया हो। आनन्दसे खिले नेत्रोंसे वे अबलाएँ एक साथ उठ खड़ी हुईं। आहा! वह कैसा अपूर्व दर्शन है॥६७॥

(श्रीमद्भा. १०/३२/१०)

ताभिर्विधूतशोकाभिर्भगवानच्युतो वृतः।
व्यरोचताधिकं तात पुरुषः शक्तिभिर्यथा॥६८॥

विरह–व्यथासे मुक्त हुई गोपियोंके द्वारा परिवेष्टित अच्युत भगवान् श्रीकृष्ण उसी प्रकार और भी अधिक सुशोभित हुए, जिस प्रकार सर्वशक्ति विशिष्ट श्रीकृष्णका पुरुषावतार विलासविग्रह विद्वत्–चक्षुओंको परिदृश्यमान होता है। वस्तुतः प्रेम–चक्षुओंसे परिदृश्यमान वे गोपी–परिवेष्टित श्रीकृष्ण ही उस तत्त्वके परम सार हैं॥६८॥

श्रीमद्भा. १०/३२/१५–२२ में गोपियों और भगवान्के बीचमें हुई परस्पर वार्त्तालापका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

सभाजयित्वा तमनङ्गदीपनं
सहासलीलेक्षणविभ्रमभ्रुवा ।
संस्पर्शनेनाङ्ककृताङ्घ्रिहस्तयोः
संस्तुत्य ईषत्कुपिता बभाषिरे॥६९॥

गोपियोंने अपनी मधुर मन्द–मुसकान, विलासपूर्ण चितवन तथा तिरछी भौंहोंसे चित्–अनङ्गके उद्दीपक श्रीकृष्णका विशेष रूपसे सम्मान किया। किसीने उनके चरणकमलोंको अपनी गोदमें रख लिया, तो किसीने उनके करकमलोंको। वे उनके संस्पर्शका आनन्द लेती हुईं कभी–कभी कह उठती थीं—कितना सुकुमार है! कितना मधुर है! तत्पश्चात् तनिक कोपाभास अर्थात् रुठनेका अभिनय करते हुए कहने लगीं—॥६९॥

भजतोऽनुभजन्त्येक एक एतद्विपर्ययम्।
नोभयांश्च भजन्त्येक एतन्नो ब्रूहि साधु भोः॥७०॥

हे कृष्ण! कुछ लोग प्रेम करनेवालोंसे ही प्रेम करते हैं, कुछ लोग प्रियतमके प्रेम न करनेपर भी उनसे प्रेम करते हैं और कुछ

लोग प्रेम करनेवाले या न करनेवाले, दोनोंसे ही प्रेम नहीं करते। इसमेंसे तुम्हारा कैसा व्यवहार है? तुम हमें समझाकर बतलाओ॥७०॥

मिथो भजन्ति ये सख्यः स्वार्थैकान्तोद्यमा हि ते।
न तत्र सौहृदं धर्मः स्वार्थार्थं तद्धि नान्यथा॥७१॥

श्रीकृष्ण कहने लगे—हे सखियो! जो प्रेम करनेपर प्रेम करते हैं, उनका सारा उद्यम ही स्वार्थ परायण है, उसमें न तो सौहार्द रहता है और न धर्म ही। उसमें अपने मनको सुख देनेके अतिरिक्त और कोई प्रयोजन नहीं है॥७१॥

भजन्त्यभजतो ये वै करुणाः पितरौ यथा।
धर्मो निरपवादोऽत्र सौहृदं च सुमध्यमाः॥७२॥

जो लोग प्रेम न करनेवालोंसे भी प्रेम करते हैं, उनका धर्म निर्दोष है तथा उनका व्यवहार यथेष्ट सौहार्दपूर्ण है। हे सुमध्यमाओ! ऐसी अवस्थाके दृष्टान्तस्थल पिता-माता और करुणापूर्ण व्यक्तिगण हैं॥७२॥

भजतोऽपि न वै केचिद् भजन्त्यभजतः कुतः।
आत्मारामा ह्याप्तकामा अकृतज्ञा गुरुद्रुहः॥७३॥

प्रेम करनेवालेसे ही जो प्रेम नहीं करते, तो फिर प्रेम न करनेवालेकी तो बात ही क्या? इस प्रकारके व्यक्ति चार प्रकारके विभागोंमें विभक्त हैं अर्थात् आत्माराम, आप्तकाम, अकृतज्ञ तथा गुरुद्रोही। आत्मारामता और आप्तकामता ईश्वरका लक्षण है। भक्त तथा ज्ञानीके लिए ये दोनों धर्म उपादेय हैं। किसीके द्वारा किये गये उपकारका प्रत्युपकार न करना ही अकृतज्ञता है। पिता-माता तथा गुरुजन निःस्वार्थ उपकार करते हैं, उनकी यदि सेवा न की जाये, तो गुरुद्रोहितारूपी महापाप लगता है।

मैं ईश्वर हूँ, (अर्थात् ईश्वर होनेके सम्बन्धसे सभी प्राणी मेरी सन्तान है और मैं उनके द्वारा प्रेम न किये जानेपर भी उनके

प्रति प्रेम रखता हूँ, क्योंकि) मेरा वह धर्म—स्वधर्म विशेष है। तब और भी एक बात है कि मैं प्रेम करनेवालोंसे प्रेम करता हूँ; जैसे कि मैंने "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्" कहकर प्रतिज्ञा की है। इसे मेरी निःस्वार्थ परार्थपरता समझना। मुझसे प्रेम करनेवाले अनेकानेक व्यक्तियोंकी भी मैं कभी-कभी उपेक्षा कर देता हूँ—यह भी मेरी भक्तके प्रति कृपा और भगवद्धर्म-विशेष है। मनुष्योंके लिए परस्पर एक-दूसरेका उपकार करना सांसारिक धर्म है। निःस्वार्थ उपकार सद्धर्म है। आत्मारामता तथा आत्मकामता परम धर्म है। अकृतज्ञता तथा गुरुद्रोह पाप है। भगवान्के पक्षमें इन तीनों ही प्रकारके व्यवहारमें किञ्चित्मात्र भी दोष नहीं है, क्योंकि वे नित्य मङ्गलमय हैं। अधिक मङ्गल किसमें है, उसे सर्वज्ञ पुरुष ही जानते हैं॥७३॥

नाहं तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून्
भजाम्यमीषामनुवृत्ति-वृत्तये ।
यथाधनो लब्धधने विनष्टे
तच्चिन्तयान्यन्निभृतो न वेद॥७४॥

तुम्हें मेरे सम्बन्धमें और एक बात समझनी होगी। हे सखियो! जो मेरा दृढ़ भजन करते हैं, मैं उनका विशेष उपकार करनेके अभिप्रायसे उनका भजन नहीं करता। अभिप्राय यह है कि मैं जितना उदासीन रहता हूँ, उतना ही प्राणियोंका मेरे प्रति अनुराग बढ़ता है। इसका उदाहरण यह है कि जैसे किसी निर्धन व्यक्तिको यदि पहले तो धन मिल जाये और फिर खो जाये, तो वह व्यक्ति खोये हुए धनकी चिन्तामें विक्षिप्तप्राय होकर एकान्तमें बैठकर उसके ही विषयमें सोचता रहता है। किञ्चित् मेरी अनुवृत्ति करनेसे अर्थात् मुझमें चित्तवृत्ति लगानेसे मुझसे कोई सामान्य उपकार न पानेपर वह व्यक्ति विशेष चिन्ताके साथ अर्थात् और भी अधिक अभिनिविष्ट होकर मेरी चिन्ता-भावना (ध्यान) करता है॥७४॥

एवं मदर्थोज्झितलोकवेद–स्वानां
हि वो मय्यनुवृत्तयेऽबलाः।
मया परोक्षं भजता तिरोहितं
मासूयितुं मार्हथ तत्प्रियं प्रियाः॥७५॥

हे अबलाओ! जब मैं साधारण भक्तोंके भी ध्यानको मुझमें अधिकाधिक रूपमें प्रगाढ़ करनेके लिए ऐसा करता हूँ, तब तुम गोपियाँ तो मेरी भक्त–चूड़ामणि हो, तुम्हारे लिए तो ऐसा अवश्य ही करूँगा। बात यह है कि तुम्हारा अपरोक्ष रूपमें भजन करनेके लिए ही मैं तिरोहित हो गया था (अर्थात् छिप गया था)। हे प्रियाओ! परम प्रिय मुझसे असूया मत करना। मैं जानता हूँ कि तुम ऐसा नहीं करोगी, क्योंकि तुमने तो मेरे लिए लोक तथा वेद दोनों प्रकारकी मर्यादाओंका ही परित्याग कर दिया है। तुम मेरी आत्मशक्ति हो। तुम्हारी बात ही क्या है?॥७५॥

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां
स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या माभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः
संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना॥७६॥

तुम गोपियोंके सम्बन्धमें और भी कुछ विशेष बातें हैं। अन्य सभी प्रकारके भजन करनेवालोंका ऋण तो मैं किसी–न–किसी प्रकारसे चुका सकता हूँ, किन्तु तुम्हारे ऋणको कभी भी चुका नहीं पाऊँगा। अवतार काल (मेरे वर्त्तमान अवतार) की तो बात ही क्या? तुमलोग मेरे साथ गोलोकधामसे अवतीर्ण हुई हो—इसीलिए कहता हूँ कि गोलोकनाथकी अनन्त आयु होनेपर भी तुम्हारा प्रतिशोध नहीं होगा। मेरे साथ इस भौमव्रजमें जो तुम्हारा संयोग हुआ है, वह निरवद्य (निर्मल तथा सर्वथा निर्दोष) है। यद्यपि योगमायाके द्वारा आवृत होनेसे तुमलोग अपने ऐश्वर्यको जान नहीं पा रही हो, तथापि तुम लोगोंने दुर्जय घर–गृहस्थीकी बेड़ियोंका छेदन करके मेरा एकान्तिक रूपसे भजन किया है।

इसीसे जो साधुकृत्य तुमने किया है, उस साधुकृत्यसे ही सन्तुष्ट होओ। तुमलोग ही मेरा ऐश्वर्य हो, तुमलोग ही मेरा बल हो। तुम्हें मैं और क्या दे सकता हूँ? इसलिए तुम्हारे ऋणका प्रतिशोध करना मेरे लिए भी दुःसाध्य है। तुम अपने सौम्य-स्वभावसे, प्रेमसे मुझे उऋण कर सकती हो, परन्तु मैं तो तुम्हारा ऋणी ही हूँ और रहूँगा॥७६॥

रासोत्सवका वर्णन। (श्रीमद्भा. १०/३३/२-३)

तत्रारभत गोविन्दो रासक्रीड़ामनुव्रतैः।
स्त्रीरत्नैरन्वितः प्रीतैरन्योन्याबद्धबाहुभिः॥७७॥

तब स्त्रीरत्न स्वरूपा अपनी प्रेयसी गोपियोंको साथ लेकर प्रीतिपूर्वक परस्पर बाँह-में-बाँह डालकर वहींपर भगवान् श्रीगोविन्दने रासलीला आरम्भ कर दी॥७७॥

रासोत्सवः सम्प्रवृत्तो गोपीमण्डलमण्डितः।
योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः।
प्रविष्टेन गृहीतानां कण्ठे स्वनिकटं स्त्रियः॥७८॥

रासोत्सवमें संप्रवृत्त (सम्पूर्ण रूपसे निमग्न) होनेपर श्रीकृष्ण गोपीमण्डलमें सुशोभित होने लगे। दो-दो गोपियोंके बीचमें एक-एक श्रीकृष्णका स्वरूप प्रकट हो गया। इस प्रकार गोपियोंके बीचमें प्रविष्ट होकर श्रीकृष्णने अपने निकटवर्ती स्त्रियोंके कण्ठोंको धारण कर लिया। यहाँपर स्वयंरूप श्रीकृष्णका मुख्य प्रकाश ही देखा गया॥७८॥

(श्रीमद्भा. १०/३३/१६)

एवं परिष्वङ्गकराभिमर्श-स्निग्धे क्षणोद्दामविलासहासैः।
रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभिर्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः॥७९॥

हे परीक्षित्! जैसे नन्हा-सा बालक निर्विकार भावसे अपनी परछाईंके साथ खेलता है, वैसे ही रमानाथ श्रीकृष्ण कभी तो

गोपियोंको आलिङ्गन करते, कभी अपने हाथ द्वारा गोपियोंके अङ्गस्पर्श करते, कभी प्रेमभरी चितवनसे उनकी ओर देखते, कभी उद्दामविलास (आलिङ्गन-चुम्बन आदि) तथा कभी हास्य करने लगते। इस प्रकार वे व्रजसुन्दरियोंके साथ विहार करने लगे।

तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्ण जगत्में एक परतत्त्ववस्तु हैं, उनकी शक्तियाँ अनन्त हैं। ये सभी शक्तियाँ रूपवती होकर श्रीकृष्णको क्रीड़ा कराती हैं। एक पराशक्तिकी सारी विभूतियाँ अनन्त शक्ति धारण कर लेती है। जितनी संख्यामें गोपीशक्तियाँ थीं, एक ही श्रीकृष्ण उतनी ही संख्यामें प्रकटित हो गये। यद्यपि सभी श्रीकृष्ण थे तथापि चित्-शक्ति-योगमायाने श्रीकृष्णकी इच्छासे श्रीकृष्णको तथा गोपियोंको पृथक्-पृथक् रूपमें प्रकट कराया। लीला-पोषणके लिए सभीको पृथक् भाव देकर सजाया। सब कुछ ही चित्-शक्तिका खेल था। और पुनः उसी चित्-शक्तिने उसे जगत्के मायिक चक्षुओंके सम्मुख गोचरीभूत कराया। रस-पोषणके लिए परस्पर पारकीय सम्बन्धका नाम दिया। सब कुछ श्रीकृष्णकी ही इच्छा थी। इस प्रकार जो लीला हुई—वह नन्हे-से शिशुकी अपनी परछाईंके साथ निर्विकार रूपसे खेलनेके समान ही है, किन्तु चित्-शक्तिने जो किया, वह सत्य, नित्य और स्वप्रकाश है। अनादि कालसे ही यह पारकीय रासलीला नित्यसिद्ध है। मायिक-जनोंके वर्णनमें, मायिक-जनोंके श्रवणमें तथा मायिक-जनोंके स्मरणमें ये सारी क्रियाएँ देश-काल द्वारा परिच्छिन्न प्रतीत होती हैं। वस्तुतः वैसा नहीं है। अचिन्त्यशक्तिके द्वारा अचिन्त्यभेदाभेद तत्त्वाश्रित इस कृष्णलीलाका आदि तथा अन्त नहीं है। इसका मध्यभाग ही नित्य-नूतन है। आत्माके अंश-अंशी तथा शक्तिके परिणाम-परिणामीके बीच जो भेदाभेद धर्म है, वह क्षुद्र जीवोंके लिए तो बात ही क्या, ब्रह्मा, शिवादिकी बुद्धिके भी अगोचर है। अचिन्त्यशक्तिसे ही इसका सामञ्जस्य सिद्ध हो सकता है॥७९॥

(श्रीमद्भा. १०/३३/१९)

कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्गोपयोषितः।
रेमे स भगवांस्ताभिरात्मारामोऽपि लीलया ॥८०॥

यद्यपि श्रीकृष्ण आत्माराम हैं, तो भी अचिन्त्यशक्तिके द्वारा उन्होंने अपनी असीम आत्माको गोपियोंकी संख्याके समान प्रकट करके उनके साथ लीला की। श्रीकृष्णकी इस लीलामें सब कुछ आत्ममय हैं, इसमें मायिक अथवा जड़का प्रवेशमात्र भी नहीं है। इसीसे समझ लेना चाहिये कि इस रासलीलामें श्रीकृष्णकी आत्मारामता अखण्ड भावसे विद्यमान है॥८०॥

(श्रीमद्भा. १०/३३/२५)

एवं शशाङ्कांशुविराजिता निशाः स सत्यकामोऽनुरताबलागणः।
सिषेव आत्मन्यवरुद्धसौरतः सर्वाः शरत्काव्यकथारसाश्रयाः ॥८१॥

शरत्-कालकी वह रात्रि, जिसमें अनेक रात्रियाँ पुञ्जीभूत हो गयी थीं, बहुत ही सुन्दर थीं। चारों ओर चन्द्रकी सुन्दर चाँदनी छिटक रही थी। काव्योंमें शरत्-ऋतुकी जिन रस-सामग्रियोंका वर्णन मिलता है, उन सभीसे वह रात्रियुक्त थी। उसमें सत्यकाम श्रीकृष्णने अपनी उन प्रेयसी गोपियोंके साथ आनन्दपूर्वक विहार किया, जो उनमें अनुरक्त थी। यह लीला सम्पूर्ण रूपसे चिन्मयी है। अतएव इस लीलामें अवरुद्धरति अर्थात् प्राकृत काम भावको, उसकी चेष्टाओंको तथा उसकी क्रियाओंको सर्वथा अवरोध कर रखा गया था। (इसे कामविजय-लीला भी कहते हैं।) वृन्दावन, वहाँके नद, नदी, पर्वत, वृक्ष, लता, चन्द्र, सङ्गिनी (गोपियाँ) सभी विशुद्ध आत्मतत्त्व हैं, उन्हीं सबमें श्रीकृष्णकी अवरुद्ध-रति है। प्रापञ्चिक दृष्टिसे दुर्भागे लोग अपने नेत्रोंके दोषके कारण यह सब देखकर भी मोहित हो जाते हैं। यह लीला विद्वत्-चक्षुओंके लिए प्रपञ्चातीत रूपमें प्रकाशित होती है॥८१॥

इतना सुनकर राजा परीक्षित्‌ने कुछ संशय प्रकट किया, उनके द्वारा पूछे गये प्रश्नका उत्तर देते हुए श्रीशुकदेव गोस्वामीने श्रीमद्भा. १०/३३/२९-३१ में कहा—

धर्मव्यतिक्रमो दृष्टां ईश्वराणां च साहसम्।
तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा॥८२॥

हे महाराज! तुमने जो संशय किया है कि श्रीकृष्णका कार्य धर्मका उल्लंघन करनेवाला है, वह व्यर्थ ही है। क्योंकि ब्रह्मा, शिवादि ईश्वर अनेक बार धर्मका उल्लंघन करनेका साहस करते दिखायी देते हैं, यद्यपि उनमें क्षुद्र जीवोंको दोषका बोध होता है, परन्तु वस्तुतः वह दोष नहीं है। सर्व भुक् (सब कुछ खा जानेवाली) अग्नि सब कुछ दग्ध करके भी जिस प्रकार उन पदार्थोंके दोषसे लिप्त नहीं होती, उसी प्रकार ईश्वरोंकी आधिकारिक क्रियाओंमें धर्मका उल्लंघन होनेपर भी वे दोषी नहीं होते॥८२॥

नैतत् समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः।
विनश्यत्याचरन् मौढ्याद् यथारुद्रोऽब्धिजं विषम्॥८३॥

जो सब जीव अनधिकारवशतः अनीश्वर हैं, उन्हें ऐसा आचरण कभी भी नहीं करना चाहिये। मूढ़तावश वैसा निन्दनीय आचरण करनेसे अवश्य ही विनष्ट होना पड़ेगा। अनधिकार-विषयको कभी मनमें लाना भी उचित नहीं है। देखो, रुद्र ईश्वर होनेके कारण समुद्रसे निकले विषका भक्षण करनेपर भी उसके प्रभावसे अप्रभावित रहे।

तात्पर्य यह है कि विधियाँ (नियम) बहुत प्रकारकी हैं अर्थात् जड़देहके सम्बन्धमें जड़विधि, लिङ्गदेहके सम्बन्धमें मानसविधि, जनसङ्गके सम्बन्धमें सामाजिक विधि तथा शुद्ध-चित्‌के सम्बन्धमें चित्-विधिकी व्यवस्थाएँ हैं। श्रीकृष्णकी इच्छासे साधारण जीवको समस्त साधारण विधियोंका ही पालन करना चाहिये। योगाश्रित व्यक्ति जिस सीमा तक योगका अधिकारी है, वह वहीं तक दैहिक प्राकृत विधि उल्लंघन करनेमें समर्थ होता है। अणिमा, लघिमा

आदि योग-विभूतिपर विचार करें। अद्वयज्ञान मार्गमें जो जितने उन्नत हैं, वे उतना ही सामाजिक-धर्म-विधिसे अतीत हैं, फिर भी वे जिन विधियोंका पालन करते हैं, वह ज्ञानयोगके अनधिकारियोंको अपने-अपने अधिकारकी निष्ठा दिलानेके लिए ही है। चित्-विलासमें जिन शुद्धभक्तोंका अधिकार उत्पन्न होता है, वे कृष्णकृपाके बलसे प्रकृत विधि, सामाजिक विधि, योग विधि तथा ज्ञान विधिसे अतीत हैं। फिर भी निम्न-अधिकारियोंके उपकारके लिए वे उन नियमोंका उल्लंघन नहीं करते। जीवको श्रीकृष्णने अपने असीम गुण तथा शक्तिमेंसे केवल कणमात्र ही दिया है। आधिकारिक देवताओंको उनके-उनके अधिकारके परिमाणके अनुसार गुण तथा शक्ति देकर उन्हें ईश्वर बनाया है। वे भी गुण और शक्तिके परिमाणके अनुसार साधारण विधिसे अतीत हैं। श्रीकृष्ण सर्वशक्तिमान हैं। समस्त विधियाँ उनकी इच्छासे ही उत्पन्न हुई हैं। सारी विधियोंके विधाता श्रीकृष्ण किसी भी विधिके लिए बाध्य नहीं हैं। निज-निज अधिकारगत विधियोंका पालन करनेके लिए ईश्वरके अधीन अन्यान्य सभी लोग ही बाध्य हैं॥८३॥

ईश्वराणां वचः सत्यं तथैवाचरितं क्वचित्।
तेषां यत् स्ववचो युक्तं बुद्धिमांस्तत् समाचरेत्॥८४॥

ईश्वरने हमारे अधिकारका विचार करके जो उपदेश दिया है, वही पालनीय है। उनके चरित्रका अनुकरण करना निम्नाधिकारीके लिए उचित नहीं है। जिसके लिए जो उचित है, बुद्धिमान व्यक्तिको वैसा आचरण करना चाहिये॥८४॥

(श्रीमद्भा. १०/३३/३३)

किमुताखिलसत्त्वानां तिर्यङ्मर्त्यदिवौकसाम्।
ईशितुश्चेशितव्यानां कुशलाकुशलान्वयः॥८५॥

देखो! पशु-पक्षी, मनुष्य, देवता आदि जितने भी ईश्वर तथा अनीश्वररूपी प्राणी हैं, वे सभी श्रीकृष्णके अधीन हैं। श्रीकृष्ण

सभीके ईश्वर हैं। अधीन व्यक्तिके विषयमें पालनीय विधिके सम्बन्धमें जो कर्त्तव्य–अकर्त्तव्य अथवा पाप–पुण्यका विचार है, वह परमेश्वर श्रीकृष्णपर लागू नहीं किया जा सकता अर्थात् श्रीकृष्ण अपनी इच्छासे कुछ भी कर सकते है। यह तत्त्व समझ जानेपर किसी प्रकारका कोई और संशय रह ही कहाँ जाता है? ॥८५॥

(श्रीमद्भा. १०/३३/३५)

गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामेव देहिनाम्।
योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक् ॥८६॥

गोलोकमें सभी कुछ चिन्मय है। उस स्थानपर सामान्य युक्तिवादी धार्मिकोंकी गति नहीं है। वहाँ विधि उल्लंघनके सन्दर्भमें कोई वितर्क सम्भव नहीं है। वहाँ श्रीकृष्ण ही एकमात्र नायक हैं। उनकी पराशक्तिकी विभूतियाँ मूर्त्तिमती होकर कोटि–कोटि लक्ष्मियोंके रूपमें उनकी सेवा करती हैं। पुनः श्रीकृष्ण अपने प्रकोष्ठ–विशेषमें उन्ही शक्तियोंको गोपीभाव, परकीय–उज्ज्वलरसमें स्थित करके अचिन्त्यशक्तिके प्रभावसे जो अपूर्व रमण करते हैं, वही प्रपञ्चमें प्रकटित यह वृन्दावनलीला है। दोनों (प्रकट और अप्रकट) लीलाएँ वस्तुतः एक ही हैं। वहाँ कृष्णलीलाके पोषणके लिए गोपियाँ पतिभावसे अन्य गोपोंको पतिके रूपमें वरणकर श्रीकृष्णको और अधिक सुख प्रदान करती हैं। सभी आत्मा रूपमें श्रीकृष्णके अंश हैं, आत्मशक्ति रूपमें स्वरूपशक्तिके अंश हैं। स्वयं श्रीकृष्ण तथा स्वयं स्वरूपशक्ति राधाकी जो चिन्मय शरीरगत क्रीड़ा है, वह नित्य, अनवद्य (निर्दोष) तथा पवित्र है। इस विषयमें जिसे जितने चित्–प्रभावकी प्राप्ति हुई है, उसकी उतनी ही निर्दोष–दृष्टि है। वहाँ श्रीकृष्ण समस्त देहधारी गोपियों और उनके पतियोंके अन्तःकरणमें साक्षी रूपमें तथा बाहरमें सर्वत्र श्रीकृष्णके रूपमें विराजमान हैं। ऐसी कृष्णलीलाके विषयमें जड़ीय धर्मके दृष्टिकोणसे तर्क करना वृथा है। वह तर्क तार्किकोंकी कुण्ठित बुद्धिका परिचायकमात्र है ॥८६॥

(श्रीमद्भा. १०/३३/३७)

नासूयन् खलु कृष्णाय मोहितास्तस्य मायया।
मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः॥८७॥

देखिये, भौमव्रजमें क्या आश्चर्यका विषय है। श्रीकृष्णकी योगमायासे मोहित गोपियोंमें श्रीकृष्णके प्रति कभी भी दोषबुद्धि नहीं होती। यदि कभी वैसा भाव दिखायी भी दे, तो उसे लीला-पोषणमयी योगमायाकी शुद्ध-अविद्या ही समझना चाहिये। वहाँ सब कुछ चिन्मय तथा पवित्र है। गोपियाँ जब कृष्ण-दर्शनके लिए जातीं, तब व्रजवासी गोप ऐसा विश्वास करते कि उनकी पत्नियाँ उनके पासमें ही हैं। वे श्रीकृष्णमें कभी कोई दोष नहीं देखते तथा श्रीकृष्णको प्राणोंका प्राण जानकर आदर करते हैं। अतः हे महाराज! सन्देह दूर करके कृष्णानन्दका आस्वादन कीजिये॥८७॥

(श्रीमद्भा. १०/३३/३९)

विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः
श्रद्धान्वितोऽनुश्रृणुयादथ वर्णयेद् यः।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः॥८८॥

इस भौमव्रजमें श्रीकृष्णकी व्रजवधुओंके साथ की गयी लीला सर्वदा ही चिदानन्दका विस्तार करनेवाली है। जो लोभमयी श्रद्धाके साथ इसका बारम्बार (श्रीगुरुदेव या उन्नत रसिक और तत्त्वज्ञ वैष्णवोंके मुखसे श्रवणकर) वर्णन करते हैं अथवा स्वयं ही निरन्तर श्रवण करते हैं, वे धीर पुरुष हैं। आत्माराम श्रीकृष्णके रमणका चिन्तन करते-करते वक्ता तथा श्रोताके हृदयमें वर्त्तमान हृद्-रोग (काम) दूर हो जाता है। साधक जितना ही अनुशीलन करता है, उसके हृदयमें उतनी ही कृष्णकी पराभक्ति उदित होती है। वक्ता तथा श्रोतामात्रको ही श्रीकृष्णको

अपना-अपना नायक जानकर गोपियोंके आनुगत्यमें गोपीभाव स्वीकार करना चाहिये। श्रीकृष्णका अनुकरण करनेसे सर्वनाश होता है। उपासकमात्रको इसमें सतर्कता रखनी चाहिये। स्त्री-पुरुषके जड़ीय-सङ्गकी भावना नहीं करनी चाहिये। उपासक पुरुष हो या स्त्री हो, सभीको स्वयं गोपी होना होगा। श्रीकृष्णकी अष्टकालीय परकीया मधुर-लीला ही मुख्य रूपसे स्मरणीय है। दास्य, सख्य, वात्सल्य-विषयक लीला इसके सञ्चारीभाव हैं—ऐसा समझना चाहिये॥८८॥

प्रलम्बासुर वधके पश्चात् श्रीकृष्णके प्रतिदिन गोचारणके लिए वन-गमनरूपी प्रवाससे उदित विरहसे व्यथित गोपियों द्वारा गाये जानेवाले विरहगीतका श्रीमद्भा. १०/३५/१-२५ में इस प्रकार वर्णन आता है—

गोप्यः कृष्णे वनं याते तमनुद्रुतचेतसः।
कृष्णलीलाः प्रगायन्त्यो निन्युर्दुःखेन वासरान्॥८९॥

श्रीकृष्णके वनमें चले जानेपर उनके चिन्तनमें निमग्न गोपियाँ श्रीकृष्णकी लीलाओंका गान करती हुईं, दिन भर बड़े दुःखके साथ बिताया करती थीं। ये सब गीत पृथक्-पृथक् (दिन तथा पृथक्-पृथक्) सभामें गाये गये थे॥८९॥

वामबाहुकृतवामकपोलो वल्गितभ्रूरधरार्पितवेणुम्।
कोमलाङ्गुलिभिराश्रितमार्गं गोप्य ईरयति यत्र मुकुन्दः॥९०क॥

व्योमयानवनिताः सह सिद्धैर्विस्मितास्तदुपधार्य सलज्जाः।
काममार्गणसमर्पितचित्ताः कश्मलं ययुरपस्मृतनीव्यः॥९०ख॥

कोई गोपी बोली—अरी सखियो! श्रीकृष्ण जब अपने बाएँ कपोलको बाईं बाँहकी ओर झुकाकर अपनी भौंहें नचाते हुए बाँसुरीको अधरोंसे लगाकर अपनी कोमल अँगुलियोंको उसके छिद्रोंपर फिराते हुए वंशीकी तान छेड़ देते हैं, तब उनके उस वेणुगीतको सुनकर सिद्ध पुरुषोंके साथ उनकी स्त्रियाँ विमानमें ही विस्मित और लज्जित हो जाती हैं। उनका चित्त कामबाणसे विद्ध

हो जाता है, और वे विवश और अचेत हो जाती हैं। उन्हें उस समय इस बातकी सुध भी नहीं रहती कि उनकी नीवी खुल गयी है॥९०॥

हन्त चित्रमबलाः शृणुतेदं हारहास उरसि स्थिरविद्युत्।
नन्दसूनुरयमार्तजनानां नर्मदो यर्हि कूजितवेणुः॥९१क॥

वृन्दशो व्रजवृषा मृगगावो वेणुवाद्यहृतचेतस आरात्।
दन्तदष्टकवला धृतकर्णा निद्रिता लिखितचित्रमिवासन्॥९१ख॥

हे अबलाओ! आश्चर्यकी बात सुनो! जिन मनोहर-हास्ययुक्त श्रीकृष्णके वक्षःस्थलपर स्थित श्रीवत्सकी सुनहली रेखा शोभा पा रही है, वे नन्दनन्दन आर्त्तजनोंके प्रति नर्म-सुखद होकर जब वेणुवादन करते हैं, तब झुण्ड-के-झुण्ड व्रजके बैल, गाएँ तथा हिरण-हिरणियाँ उनकी वेणुध्वनि द्वारा मन्त्रमुग्ध होकर जहाँ होते हैं, वहींपर ही दाँतोंसे चबाया घासका ग्रास ज्यों-का-त्यों मुँहमें रखकर कानोंको ऊँचा करके मुग्ध होकर इस प्रकार चित्रपटके समान स्थिर भावसे खड़े हो जाते हैं, मानो वे सो रहे हो॥९१॥

बर्हिणस्तबकधातुपलाशैर्बद्धमल्लपरिबर्हविडम्बः।
कर्हिचित् सबल आलि स गोपैर्गाः समाह्वयति यत्र मुकुन्दः॥९२क॥

तर्हि भग्नगतयः सरितो वै तत्पदाम्बुजरजोऽनिलनीतम्।
स्पृहयतीर्वयमिवाबहुपुण्याः प्रेमवेपितभुजाः स्तिमितापः॥९२ख॥

हे सखियो! मोरपंख, रङ्गीन धातु तथा नये-नये पल्लवों द्वारा किसी बड़े पहलवान जैसे भावको धारणकर श्रीकृष्ण जब श्रीबलराम और ग्वालबालोंके साथ वेणुकी ध्वनिसे गायोंको पुकारते हैं; उस समय यमुना आदि नदियोंकी गति भी भग्न हो जाती है अर्थात् उसमें भँवर पड़ जाते है, ऐसा लगता है मानो उस समय वे नदियाँ वायु द्वारा लायी गयी श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी रेणुको प्राप्त करनेकी स्पृहा करने लगती हैं तथा प्रेमके आवेगसे स्तम्भित अर्थात् निश्चल होनेपर वे तरङ्गरूप हाथ पसारनेपर भी

हमारे समान ही बहुत पुण्योंके अभावमें उसे प्राप्त नहीं कर पातीं ॥९२॥

अनुचरैः समनुवर्णितवीर्य आदिपूरुष इवाचलभूतिः।
वनचरो गिरितटेषु चरन्तीर्वेणुनाह्वयति गाः स यदा हि॥९३क॥

वनलतास्तरव आत्मनि विष्णुं व्यञ्जयन्त्य इव पुष्पफलाढ्याः।
प्रणतभारविटपा मधुधाराः प्रेमहृष्टतनवो ववृषः स्म॥९३ख॥

जब ग्वालबाल उनकी मधुर लीलाओंका गान करते हुए उनका अनुगमन करते हैं, उस समय वे अवर्णनीय ऐश्वर्यसम्पन्न-अचल-विभूति-आदिपुरुष श्रीकृष्ण जब बाँसुरीकी मधुर ध्वनिसे गिरिराजकी तराई और अन्यान्य अनेक वनोंमें चरती हुई गायोंका नाम ले-लेकर पुकारते हैं, उस समय लताएँ और वृक्ष प्रसन्नताके कारण फल-फूलोंसे भर जाते हैं तथा अत्यधिक भारके कारण अपनी-अपनी डालियोंको झुकाकर मधुधाराका वर्षण करते हुए प्रेमसे प्रफुल्लित होकर ऐसे खिल जाते हैं, मानो अपने भीतर भी सर्वव्यापी भगवान् विष्णुकी अभिव्यक्ति सूचित कर रहे हों॥९३॥

दर्शनीयतिलको वनमाला दिव्यगन्धतुलसीमधुमत्तैः ।
अलिकुलैरलघुगीतमभीष्टम् आद्रियन् यर्हि सन्धितवेणुः॥९४क॥

सरसि सारसहंसविहङ्गाश्चारुगीत हृतचेतस एत्य।
हरिमुपासत ते यतचित्ता हन्त मीलितदृशो धृतमौनाः॥९४ख॥

अपूर्व सुन्दर तिलककी शोभासे युक्त श्रीकृष्ण जब अपने घुटनों तक लटकी हुई वनमालामें पिरोयी गयी तुलसीकी दिव्य गन्ध और पुष्पोंके मधुके प्रति आकर्षित होकर आये हुए मतवाले भ्रमरके स्वरमें स्वर मिलाकर वेणु बजाने लगते हैं, तब उनके परम मनोहर वेणुगीतको सुनकर सरोवरमें रहनेवाले सारस, हंस आदि पक्षी विवश होकर श्रीकृष्णके पास आकर बैठ जाते हैं तथा आँखें बन्दकर, चुपचाप चित्तको एकाग्र करके श्रीहरिकी

उपासना करने लगते हैं॥९४॥

सहबलः स्रगवतंसविलासः सानुषु क्षितिभृतो व्रजदेव्यः।
हर्षयन् यर्हि वेणुरवेण जातहर्ष उपरम्भति विश्वम्॥९५क॥

महदतिक्रमणशङ्कितचेता मन्दमन्दमनुगर्ज्जति मेघः।
सुहृदमभ्यवर्षत् सुमनोभिश्छायया च विदधत् प्रतपत्रम्॥९५ख॥

हे व्रजदेवियो! पुष्प-निर्मित माला और कर्णभूषण-विलासी श्रीकृष्ण जब बलदेवके साथ पर्वतके शिखरोंपर विश्वको हर्षित करते हुए और स्वयं भी आनन्दित होते हुए वेणुध्वनि करते हैं, तब सारे मेघ महत्-अतिक्रम (गर्जना कहीं वेणुतानसे उच्च या विपरीत न हो जाये) की शङ्कासे वेणुनादका अनुकरण करते हुए धीरे-धीरे गर्जना करते हैं। श्रीकृष्णको जगत्-शीतल-कार्यमें अपना सुहृद जानकर बिन्दुवर्षण-रूप पुष्प-वृष्टिसे पूजा करते हैं तथा छाया करनेके लिए आतपत्र (छत्र) बन जाते हैं॥९५॥

विविधगोपचरणेषु विदग्धो वेणुवाद्य उरुधा निजशिक्षाः।
तव सुतः सति यदाधरबिम्बे दत्तवेणुरनयत् स्वरजातीः॥९६क॥

सवनशस्तदुपधार्य सुरेशाः शक्रशर्वपरमेष्ठिपुरोगाः।
कवय आनतकन्धरचित्ताः कश्मलं ययुरनिश्चिततत्त्वाः॥९६ख॥

एक दिन श्रीयशोदाकी सभामें कोई गोपी कहने लगी—हे यशोदे! विविध गोपलीलाओंमें विदग्ध और वेणुवाद्यमें स्वयं पण्डिताग्रगण्य तुम्हारा पुत्र कृष्ण जब अपने अधरोंपर वेणु धारण करके स्वरजातिका आलाप करता है, तब उसे श्रवणकर इन्द्र, शिव तथा ब्रह्मा आदि देवगण स्वयं पण्डित होनेपर भी—उसके तत्त्व (वेणुगीतके स्वर-तालकी व्यवस्था) को निश्चय नहीं कर पानेके कारण नतमस्तक और नम्रचित्त होकर मोहको प्राप्त हो जाते हैं॥९६॥

निजपदाब्जदलैर्ध्वजवज्र–नीरजाङ्कुशविचित्रललामैः ।
व्रजभुवः शमयन् खुरतोदं वर्ष्मधुर्यगतिरीडितवेणुः ॥९७क॥

व्रजति तेन वयं सविलास–वीक्ष्यणार्पितमनोभववेगाः।
कुजगतिं गमिता न विदामः कश्मलेन कवरं वसनं वा ॥९७ख॥

हे सखियो! जब व्रजभूमि गौओंके खुरसे खुद जाती है तब श्रीकृष्ण ध्वज, वज्र, कमल तथा अंकुशरूपी विचित्र चिह्नोंसे सुशोभित अपने सुकुमार चरणकमलों द्वारा उसकी पीड़ाको शान्त करते हैं और वेणुवादनपूर्वक गजेन्द्र गतिसे चलते हुए अपनी विलास भरी चितवनसे हमारे मनमें मदनके वेगको ऐसे अर्पण करते हैं कि हम वृक्षके समान जड़ हो जाती हैं तथा मोहवशतः अपनी कवरी (जूड़े) तथा वस्त्रोंकी अवस्थाको भी नहीं जान पाती हैं॥९७॥

मणिधरः क्वचिदागणयन् गा मालया दयितगन्धतुलस्याः।
प्रणयिनोऽनुचरस्य कदांसे प्रक्षिपन् भुजमगायत यत्र॥९८क॥

क्वणितवेणुरववञ्चितचित्ताः कृष्णमन्वसत कृष्णगृहिण्यः।
गुणगणार्णमनुगत्य हरिण्यो गोपिका इव विमुक्तागृहाशाः॥९८ख॥

तुलसीकी मालासे सुशोभित श्रीकृष्ण जब कभी अपने हाथमें पकड़ी हुई मणियोंकी माला द्वारा अपनी गैयाओंकी गणना करते–करते प्रणयी अनुचरोंके कन्धेपर बाँह रखकर वेणु बजाते हैं, तब कृष्णसार मृगोंकी पत्नियाँ हरिणियाँ गुणसागर श्रीकृष्णकी वेणुध्वनिसे अपहृत चित्त हो जाती हैं तथा गोपियोंकी भाँति गृहकी आशाका त्याग करके उन्हें ढूँढ़ने लगती हैं॥९८॥

कुन्ददामकृतकौतुकवेषो गोपगोधनवृतो यमुनायाम्।
नन्दसूनुरनघे तव वत्सो नर्मदः प्रणयिनां विजहार॥९९क॥

मन्दवायुरुपवात्यनुकूलं मानयन् मलयजस्पर्शेन।
वन्दिनस्तमुपदेवगणा ये वाद्यगीतबलिभिः परिवव्रुः॥९९ख॥

हे निष्पाप यशोदे! दोपहरके समय कुन्दके पुष्पोंसे बनी हुई मालाको धारण करके कौतुकपूर्ण वेश बनानेके उपरान्त गोप तथा गायोंसे परिवेष्टित होकर तुम्हारा नन्दलाल अपने प्रणयी सखाओंको प्रेम दान करते हुए जब यमुनाके तटपर विहार करता है, तब चन्दनके स्पर्शसे सुशीतल होकर मन्द वायु अनुकूल रूपमें बहते-बहते उनकी पूजा करती है तथा गन्धर्वगण गीत-वाद्य-पूर्वक पुष्प-वृष्टि आदि उपहारोंके द्वारा उन्हें चारों ओरसे घेरकर उपासना करते हैं॥९९॥

वत्सलो व्रजगवां यदगध्रो वन्द्यमानचरणः पथि वृद्धैः।
कृत्स्नगोधनमुपोह्य दिनान्ते गीतवेणुरनुगेडितकीर्तिः॥१००क॥

उत्सवं श्रमरुचापि दृशीनामुन्नयन् खुररजश्छुरितस्त्रक्।
दित्सयैति सुहृदाशिष एष देवकीजठरभूरुडुराजः॥१००ख॥

व्रजवासी और गैयाओंके कल्याण हेतु गोवर्धन-पर्वतको धारण करनेवाले, ब्रह्मा और शिव आदिके द्वारा वन्दनीय श्रीकृष्ण जब सन्ध्यासे पहले गैयाओंको एकत्र करके सखाओं द्वारा कीर्त्तित होते हुए वेणुवादन करते-करते व्रजमें प्रवेश करते हैं, उस समय यद्यपि उनके मुखपर श्रमके चिह्न स्पष्ट दिखायी देते हैं, तथापि वे व्रजवासियोंके नेत्रोंके उत्सवका विस्तार करते हैं। गैयाओंके खुरसे उड़ी हुई धूलिसे धूसरित वनमालाको धारण किये हुए वे ऐसे सुशोभित होते हैं, मानो सुहृदोंको सुख प्रदान करने हेतु ही यशोदाके जठरसे चन्द्रमा प्रकटित हुए हो॥१००॥

मदविघूर्णितलोचन ईषत्मानदः स्वसुहृदां वनमाली।
बदरपाण्डुवदनो मृदुगण्डं मण्डयन् कनककुण्डललक्ष्म्या॥१०१क॥

यदुपतिर्द्विरदराजविहारो यामिनीपतिरिवैष दिनान्ते।
मुदितवक्त्र उपयाति दुरन्तं मोचयन् व्रजगवां दिनतापम्॥१०१ख॥

श्रीकृष्णको निकट आते देखकर कोई गोपी कहने लगी—हे सखियो! देखो, ईषत् मदनघूर्णितलोचन, सुहृद व्यक्तियोंको यथायोग्य

सम्मान प्रदान करनेवाले, पके बेरके फलों जैसे पाण्डुवर्ण (पीले रङ्ग) के मुखमण्डलवाले, सुनहरे कुण्डलोंकी कान्तिसे अपने कपोलोंको अलंकृत करनेवाले यदुपति श्रीकृष्ण सन्ध्याकी बेलामें मतवाले गजराजकी भाँति चलकर उल्लसित भावसे हमारे निकट आते हुए ऐसे लग रहे हैं, मानो यामिनीपति चन्द्रमा व्रजवासियोंके दिनभरके असह्य विरह तापको दूर करनेके लिए उदित हो रहा हो॥१०१॥

श्रीमद्भा. १०/३५/२६ में श्रीशुकदेव कहते हैं—

एवं व्रजस्त्रियो राजन् कृष्णलीलानुगायतीः।
रेमिरेऽहःसु तच्चित्तास्तन्मनस्का महोदयाः॥१०२॥

हे राजन! व्रजकी गोपियाँ श्रीकृष्णकी लीलाओंका गान करते-करते उन्हींमें ही अपने चित्तको लगाकर, उन्हींमें ही रम जातीं तथा इस प्रकार आनन्द प्राप्त करते हुए अपने दिन व्यतीत करतीं॥१०२॥

पूर्वराग, मिलन, प्रेम-वैचित्त्य, मानादि रूप क्षणिक विप्रलम्भका उपरोक्त लीलाओंके माध्यमसे वर्णन हो चुका है। यहाँ दूर-प्रवासरूप दीर्घ विप्रलम्भयुक्त प्रेममयी लीलाका वर्णन किया जा रहा है। श्रीकृष्णने मथुरासे उद्धवको दूतके रूपमें व्रजमें भेजा था, उस समय उद्धवको देखकर विरह-कातरा गोपियोंमें जो भाव परिलक्षित हुए थे, श्रीमद्भा. १०/४७/१२-२१ में उनका वर्णन इस प्रकार मिलता है—

मधुप कितवबन्धो मा स्पृशाङ्घ्रिं सपत्न्याः
कुचविलुलितमालाकुङ्कुमश्मश्रुभिर्नः।
वहतु मधुपतिस्तन्मानिनीनां प्रसादं
यदुसदसि विडम्ब्यं यस्य दूतस्त्वमीदृक्॥१०३॥

श्रीकृष्णके विरहमें गोपियोंमें स्वपक्ष और प्रतिपक्ष नहीं रहता। इसलिए सारी गोपियोंने अर्थात् चन्द्रावली इत्यादिने अपने-अपने यूथ सहित श्रीमती राधिकाके यूथमें सम्मिलित होकर उद्धवका

दर्शन किया। उद्धवको लक्ष्य करके श्रीमती राधिका एक भ्रमरसे कहने लगी—हे मधुप! हे कितवबन्धो (धूर्त्त-कपटीके सखा)! श्रीकृष्णकी वनमाला जो हमारी सपत्नियोंके वक्षःस्थलके स्पर्शसे मसल गयी थी, तथा उसके फलस्वरूप उस पर जो कुङ्कुम लग गया था, वही कुङ्कुम तुम्हारी मूछोंपर भी लगा हुआ है। तुम हमारे चरणोंका स्पर्श क्यों कर रहे हो? तुम तो मधुपति श्रीकृष्णकी मथुराकी मानिनी-प्रियाओंका ही प्रसाद ग्रहण करो। इस अवस्थामें हमारे समीप अनुनय-विनय करनेके लिए तुम जो दौत्य (दूतका कार्य) कर रहे हो, इससे यादवोंकी सभामें श्रीकृष्ण उपहासास्पद ही होंगे॥१०३॥

सकृदधरसुधां स्वां मोहिनीं पाययित्वा
सुमनस इव सद्यस्तत्यजेऽस्मान् भवादृक्।
परिचरति कथं तत्पादपद्मं नु पद्मा
ह्यपि बत हृतचेता ह्युत्तमःश्लोकजल्पैः॥१०४॥

हमने उन्हें कपटी क्यों कहा है, इसका कारण सुनो। उन्होंने अपनी मोहिनी अधर-सुधाका एकबार पान कराके (जिस प्रकार तुम एक पुष्पके मधुका पान करके उसका त्याग कर देते हो, उसी प्रकार) हमें त्याग दिया है। यदि कहो कि तो फिर लक्ष्मीदेवी उनके श्रीचरणकमलोंकी सेवा सदैव क्यों करती हैं? तो मेरा कहना है कि श्रीकृष्णकी मीठी-मीठी—चिकनी-चुपड़ी बातोंमें फंसकर ही उसने कृष्णपर विश्वास कर लिया। लक्ष्मी बहुत सरल है, इसलिए भूल जाती हैं (कि किसीकी चिकनी-चुपड़ी बातोंमें नहीं फँसना चाहिये)॥१०४॥

किमिह बहु षडङ्घ्रे गायसि त्वम् यदूना-
मधिपतिमगृहाणामग्रतो नः पुराणम्।
विजयसखसखीनां गीयतां तत्प्रसङ्गः
क्षपितकुचरुजस्ते कल्पयन्तीष्टमिष्टाः॥१०५॥

हे षट्पद (छह पैरोंवाले)! हम वनवासिनी हैं, उन्हींके लिए घर–गृहस्थी सब कुछ त्यागकर वनमें वास कर रही हैं। तुम हमलोगोंके सामने परिज्ञात (भली–भाँति जाने–पहचाने) यदुवंशशिरोमणि श्रीकृष्णका उत्तम रूपसे बारम्बार जो गुणगान कर रहे हो, उससे तुम्हें क्या प्राप्त होगा? कृष्णकी मधुपुर निवासिनी नवीन सखियोंके समीप जाकर उनका गुण गान करो। आजकल (श्रीकृष्णके आलिङ्गनसे) उनके स्तनरोगकी पीड़ा शान्त हो गयी है। अतः वे ही तुम्हारी प्रार्थना सुनकर तुम्हें मुँह–माँगी वस्तुएँ प्रदान कर सकती हैं॥१०५॥

दिवि भुवि च रसायां काः स्त्रियस्तद् दुरापाः
कपटरुचिरहासभ्रूविजृम्भस्य याः स्युः।
चरणरज उपास्ते यस्य भूतिर्वयं का
अपि च कृपणपक्षे ह्युत्तमःश्लोकशब्दः॥१०६॥

जरा बताओ तो, उनकी कपटभरी मनोहर मुसकान और भौंहोंके इशारेसे युक्त नेत्रों द्वारा त्रिभुवनमें ऐसी कौन–सी स्त्री है, जो उनके वशीभूत न हो जाये? स्वयं लक्ष्मी भी जब उनके चरणकमलोंकी सेवा किया करती हैं, फिर हम वनमें वास करनेवाली क्या उनके योग्य हैं? परन्तु एक बात है, उनका नाम तो उत्तमश्लोक है, अतएव वे दीन–हीन स्त्रियोंके प्रति अवश्य ही अधिक कृपा किया करते हैं॥१०६॥

विसृज शिरसि पादं वेद्म्यहं चाटुकारै–
रनुनयविदुषस्तेऽभ्येत्य दौत्यैर्मुकुन्दात्।
स्वकृत इह विसृष्टापत्यपत्यन्यलोका
व्यसृजदकृतचेताः किं नु संधेयमस्मिन्॥१०७॥

अरे भौंरे! तू मेरे पैरोंपर मस्तक क्यों टेक रहा है? मैं यह भलीभाँति जान गयी हूँ कि तुम मुकुन्दके दूत बनकर आये हो। तुम प्रिय लगनेवाले अनुनय–विनय पूर्ण वचनोंका प्रयोग करनेमें

बड़े ही निपुण हो। कृष्णके लिए ही हमने अपने पति, पुत्र और सब प्रकारके धर्मोंका परित्याग कर दिया है। किन्तु वे ऐसे अकृतज्ञ हैं कि हमें ही छोड़कर चले गये। इस विषयमें और क्या अनुसन्धेय है अर्थात् ऐसे दोषारोपणके अतिरिक्त क्या उनके गुणोंका गान किया जा सकता है? क्या तुम अब भी अपनी चातुरीके द्वारा उन्हें निरपराध सिद्ध कर पाओगे?॥१०७॥

मृगयुरिव कपीन्द्रं विव्यधे लुब्धधर्मा
स्त्रियमकृत विरूपां स्त्रीजितः कामयानाम्।
बलिमपि बलिमत्त्वावेष्टयद् ध्वाङ्क्षवद्य–
स्तदलमसितसख्यैर्दुस्त्यजस्तत्कथार्थः ॥१०८॥

ओ भ्रमर! माँस लोभी व्याधके समान जिसने किसी समय छिपकर राजा बालीका बाण द्वारा वध किया था। शूर्पणखा कामके वशीभूत होकर उनके शरणागत हुई थी, परन्तु स्त्रीवशीभूत उस निष्ठुरने उसका नाक काटकर उसे कुरूप कर दिया। (वामनदेव महाराज बलिकी यज्ञशालामें उन्हें छलनेके लिए गये। बलिने तो उनकी पूजाकी, मुँह–माँगी वस्तु दी और) उन्होंने बलि राजाके यज्ञको भोग करके कौवेके समान उसे घेर लिया। ऐसे निर्दय स्वभावके कृष्णवर्ण वाले पुरुषके साथ मित्रता करनेका कोई प्रयोजन नहीं है। (यदि कहो, जब श्रीकृष्ण इतने ही निर्दयी और कपटी हैं, तो तुमलोग उन्हींकी ही सर्वदा चर्चा क्यों करती हो? तो भौंरे!) बात यह है कि उनकी कथाको त्याग करनेका साध्य हममें नहीं है, इसलिए हम निरन्तर उन्हींकी चर्चा करती हैं॥१०८॥

यदनुचरितलीलाकर्णपीयूषविप्रुट्–
सकृददनविधूतद्वन्द्वधर्मा विनष्टाः।
सपदि गृहकुटुम्बं दीनमुत्सृज्य दीना
बहव इह विहङ्गा भिक्षुचर्यां चरन्ति॥१०९॥

हे भ्रमर! और सुनो, हम तुम्हें उनकी दयाके विषयमें क्या बतलावें? उनकी अमृतमयी लीला कथाओंका एक बार कानोंके द्वारा आस्वादन करके महात्मा लोग भी दुःख-सुख आदि द्वन्दोंसे छूट जाते हैं, अहं-मम बुद्धि तथा दीन गृह-कुटुम्ब आदिका परित्याग करके अकिञ्चन बन जाते हैं तथा परमहंस वृत्तिका अवलम्बनकर भिक्षा वृत्ति द्वारा अपना जीवन व्यतीत करते हैं, (स्वयं भी रोते हैं और दूसरोंको भी रुलाते हैं, तथापि श्रीकृष्णकी लीलाकथाको छोड़ नहीं पाते।) तो फिर हम कैसे उनकी लीलाकथाओंकी चर्चाको छोड़ सकती हैं?॥१०९॥

वयमृतमिव जिह्म व्याहृतं श्रद्दधानाः
कुलिकरुतमिवाज्ञाः कृष्णवध्वो हरिण्यः।
ददृशुरसकृदेतत्तन्नखस्पर्शतीव्र-
स्मररुज उपमन्त्रिन् भण्यतामन्यवार्ता॥११०॥

हे भ्रमर! हे कृष्ण दूत! जैसे कृष्णसार हिरणोंकी पत्नियाँ व्याधके मधुर गानके श्रवणसे आकर्षित होकर उसके जालमें आबद्ध होकर कष्ट पाती हैं, वैसे ही हम गोपियाँ भी श्रीकृष्णकी कपटतापूर्ण बातोंपर विश्वास करके उनके नखस्पर्श जनित तीव्र कामव्याधिको प्राप्त करके कष्ट पा रही हैं। अतएव अब उनकी और बात करनेकी आवश्यकता नहीं है। कोई दूसरी बात करो॥११०॥

प्रियसख पुनरागाः प्रेयसा प्रेषितः किं
वरय किमनुरुन्धे माननीयोऽसि मेऽङ्ग।
नयसि कथमिहास्मान् दुस्त्यजद्वन्द्वपार्श्वं
सततमुरसि सौम्य श्रीर्वधूः साकमास्ते॥१११॥

हे प्रिय कृष्णबन्धो भ्रमर! तुम पुनः लौट आये हो? क्या हमारे प्रियतम श्रीकृष्णने तुम्हें पुनः यहाँ भेजा है? तुम हमारे आदरणीय हो। तुम हमसे अपने अभीष्ट वरको माँग लो। (कहीं

ऐसा सुनकर भ्रमर हमें मथुरा चलनेके लिए न कह दे, इसलिए कहने लगीं कि) कृष्ण कभी भी स्त्रियोंका सङ्ग परित्याग नहीं कर सकते। तब तुम हमें किस प्रकार उनके समीप ले जाना चाहते हो? आजकल तो वे अपने वक्षःस्थलपर विराजमान लक्ष्मीके साथ विहार कर रहे हैं। हे सौम्य! क्या तुम इतना भी नहीं समझते? ॥१११॥

अपि बत मधुपुर्यामार्यपुत्रोऽधुनास्ते
स्मरति स पितृगेहान् सौम्य बन्धूंश्च गोपान्।
क्वचिदपि स कथा नः किंकरीणां गृणीते
भुजमगुरुसुगन्धं मूर्ध्न्यधास्यत् कदा नु॥११२॥

उद्घूर्णाका भाव कुछ शान्त होनेपर बड़े आदरके साथ श्रीमती कहने लगीं—हे भ्रमर! हे कृष्ण दूत! अच्छा, यह तो बतलाओ कि आर्यपुत्र गुरुकुलसे लौटकर मधुपुरीमें ही तो आये हैं न? क्या वे कभी अपने पितृगृह और ग्वालबाल सखाओंका स्मरण करते हैं? और क्या, हम दासियोंकी भी कभी चर्चा करते हैं? यह भी बतलाओ कि क्या वे कभी यहाँ लौटेंगे और अपनी अगरुके समान दिव्य सुगन्धसे युक्त भुजाएँ हमारे मस्तकपर अर्पण करेंगे? ॥११२॥

श्रीमद्भा. १०/८२/३९-४० में बहुत दिनोंके उपरान्त कुरुक्षेत्रके स्यमन्त पञ्चक नामक तीर्थमें गोपियोंके साथ श्रीकृष्णके मिलनका इस प्रकार वर्णन हैं—

गोप्यश्च कृष्णमुपलभ्य चिरादभीष्टं
यत्प्रेक्षणे दृशिषु पक्ष्मकृतं शपन्ति।
दृग्भिर्हृदीकृतमलं परिरभ्य सर्वा-
स्तद्भावमापुरपि नित्ययुजां दुरापम्॥११३॥

उद्धवके व्रजसे मथुरा आगमनके बाद श्रीकृष्ण समय-समयपर व्रजमें जाया करते थे। बहुत दिनोंके बाद कुरुक्षेत्रमें स्यमन्तपञ्चक

तीर्थमें ग्रहणके उपलक्षमें सारे यदुवंशी और व्रजवासी वहाँ एकत्रित हुए थे। गोपियोंने बहुत दिनोंके बाद अपने अभीष्ट–प्रियतम श्रीकृष्णको प्राप्त किया। वे पलकोंको श्रीकृष्णदर्शनमें बाधा समझकर पलकोंकी सृष्टि करनेवाले विधाताको अभिशाप देने लगीं। गोपियाँ नेत्रोंके मार्गसे उन प्रियतम श्रीकृष्णको हृदयमें लाकर गाढ़ आलिङ्गन करती हुई परम भावको प्राप्त हुईं। यह भाव नित्य संयोग–प्राप्त द्वारकाकी पटरानियों अथवा श्रीलक्ष्मीके लिए भी अत्यन्त दुर्लभ है॥११३॥

भगवांस्तास्तथाभूता विविक्त उपसङ्गतः।
आश्लिष्यानामयं पृष्ट्वा प्रहसन्निदमब्रवीत्॥११४॥

श्रीकृष्ण गोपियोंको इस प्रकार प्राप्त करके एकान्तमें उनके समीप गये, प्रेमपूर्वक उनका आलिङ्गन किया, कुशल–समाचार पूछा और हँसते हुए इस प्रकार कहने लगे—॥११४॥

(श्रीमद्भा. १०/८२/४४)

मयि भक्तिर्हि भूतानाममृतत्वाय कल्पते।
दिष्ट्या यदासीन्मत्स्नेहो भवतीनां मदापनः॥११५क॥

"मेरे प्रतिकी हुई प्रेमभक्ति प्राणियोंको अमृतत्व प्रदान करती है। आश्चर्यकी बात है कि तुम मुझसे जो स्नेह करती हो, उसके द्वारा मेरी प्राप्ति ही तुम्हारे लिए सुखदायी है।" यह सुनकर श्रीमती गूढ़ भावसे कहने लगीं—॥११५क॥

श्रीमद्भा. १०/८२/४८ में गोपी (श्रीमती राधाजी) ने कहा—

आहुश्च ते नलिननाभ पदारविन्दं
योगेश्वरैर्हृदि विचिन्त्यमगाधबोधैः।
संसारकूपपतितोत्तरणावलम्बं
गेहं जुषामपि मनस्युदियात् सदा नः॥११५ख॥

"हे नलिननाभ! अगाध–बोधसम्पन्न योगेश्वरोंके हृदयमें आपके जो पादपद्म सर्वदा चिन्तनीय हैं तथा संसारकूपमें पतित व्यक्तियोंके

लिए जो एकमात्र अवलम्बन हैं, वे ही तुम्हारे पादपद्म—तुम्हारे साथ गार्हस्थ्य क्रीड़ामें नियुक्त हमारे वृन्दावन स्वरूप लीलागत मनमें अर्थात् वृन्दावनमें सर्वदा आविर्भूत कराओं। कुरुक्षेत्रमें यह जो ऐश्वर्यगत मिलन है, हमें इससे सुख नहीं होता।"

इस श्लोकके भावके अनुरूप ही श्रीरूप गोस्वामीने लिखा है—

प्रियः सोऽयं कृष्णः सहचरि कुरुक्षेत्रमिलित-
स्तथाहं सा राधा तदिदमुभयोः सङ्गमसुखम्।
तथाप्यन्तयःखेलन्-मधुर-मुरली-पञ्चमजुषे
मनो मे कालिन्दी पुलिनविपिनाय स्पृहयति॥

इसका अनुवाद यह है—यह सत्य है कि ये हमारे वही श्रीकृष्ण हैं तथा मैं भी वही राधा हूँ। हम दोनोंका वही सङ्गमसुख भी उपस्थित हुआ है, तथापि मेरा चित्त यही चाहता है कि कृष्णको इस ऐश्वर्य-स्थान (कुरुक्षेत्र) से माधुर्य (लीलाकी) भूमि (वृन्दावन) में ले जाऊँ और यमुना तटवर्ती कुञ्जोंमें उनसे मिलूँ।

श्रीकृष्णने इसका "भवतीनां मदापनः"—इन शब्दोंके माध्यमसे उत्तर दिया—हे प्रेष्ठ सखि! तुम्हारी इच्छानुसार उसी रूपमें मैं सदैव तुम्हारा सङ्गी हूँ। इस बातको तुम जानती हो और मैं जानता हूँ, अन्य कोई नहीं जानता॥११५॥

इस विषयमें महिषियाँ श्रीमद्भा. १०/८३/४१-४३ में इस प्रकार कहने लगीं—

न वयं साध्वि साम्राज्यं स्वाराज्यं भौज्यमप्युत।
वैराज्यं पारमेष्ठ्यं च आनन्त्यं वा हरेः पदम्॥११६॥

आहा! गोपियोंके साथ श्रीकृष्णके मिलनमें हमलोग जो सुख देख रही हैं, हे साध्वियो! उससे ऐसा अनुभव होता है कि साम्राज्य, चित्-राज्य, भोगसमूह, विराट-पद, ब्रह्माका पद, आनन्त्य (मोक्ष) अथवा सायुज्य आदि उसके सम्मुख कुछ भी नहीं है। अतएव हमलोग इन सबकी कामना नहीं करतीं अर्थात् राधा-कृष्णकी

जो व्रजवनमें गोपीभावसे सेवा है, वह हमलोगों और लक्ष्मियोंके लिए परम प्रार्थनीय है। जड़ानन्दी लोगोंका जो ऐश्वर्यमय कृष्ण-चिन्तन है, वह उनके लिए जड़मायाका विक्रम है तथा वैधभक्तोंकी जो स्वकीय-ऐश्वर्य-सेवा है, वह केवल योगमायाका प्रभावमात्र है। वस्तुतः श्रीकृष्णकी व्रजलीला ही परम आदरणीय तत्त्व है॥११६॥

कामयामह एतस्य श्रीमत्पादरजः श्रियः।
कुचकुङ्कुमगन्धाढ्यं मूर्ध्ना वोढुं गदाभृतः॥११७॥

श्रीकृष्णके चरणकमल गोपियोंके वक्षःस्थलपर लगी हुई कुङ्कुमकी सुगन्धसे युक्त हैं। अब हम समझ गयीं कि श्रीकृष्णके उसी पदरजकी शोभा धारण करना ही हमारे लिए परम श्रेयस्कर है॥११७॥

व्रजस्त्रियो यद् वाञ्छन्ति पुलिन्द्यस्तृणवीरुधः।
गावश्चारयतो गोपाः पादस्पर्शं महात्मनः॥११८॥

देखो! श्रीराधा-कृष्णकी श्रीचरणरजकी कामना केवल हम ही किया करती हैं—ऐसी बात नहीं। व्रजकी सारी गोपियाँ भी इसकी वाञ्छा करती हैं। पुलिन्द रमणियाँ, तृण, वीरुध (लताएँ), गोसमूह तथा समस्त ग्वालबाल भी इसी पदरजकी नित्य कामना करते हैं॥११८॥

(श्रीमद्भा. १०/८४/५९)

नन्दस्तु सह गोपालैर्बृहत्या पूजयार्चितः।
कृष्णरामोग्रसेनाद्यैर्न्यवात्सीत् बन्धुवत्सलः॥११९॥

इसी सूर्यग्रहणके उपलक्ष्यमें स्यमन्तपञ्चक (कुरुक्षेत्र) में समागत समस्त गोपालोंके साथ महाराज नन्दने श्रीकृष्ण-बलराम, उग्रसेन आदिके द्वारा आदर प्राप्त करके बन्धु-वत्सलतावश वहाँ और भी कुछ दिनों तक वास किया था॥११९॥

(श्रीमद्भा. १०/८४/६६)

नन्दस्तु सख्युः प्रियकृत् प्रेम्णा गोविन्दरामयोः।
अद्य श्व इति मासांस्त्रीन् यदुभिर्मानितोऽवसत्॥१२०॥

अपने मित्रोंको प्रिय लगनेवाले कार्य करनेमें निपुण श्रीनन्दने अपने सखा वसुदेवको प्रसन्न करनेके लिए और श्रीकृष्ण तथा बलरामके प्रेमपाशमें बँधकर आज-कल करते हुए स्यमन्तपञ्चकमें यादवोंके साथ तीन महीने तक वास किया॥१२०॥

(श्रीमद्भा. १०/८४/६९)

नन्दो गोपाश्च गोप्यश्च गोविन्दचरणाम्बुजे।
मनः क्षिप्तं पुनर्हर्तुमनीशा मथुरां ययुः॥१२१॥

उसके बाद नन्द बाबा, गोपों और गोपियोंका चित्त श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें इस प्रकार लग गया कि वे फिर प्रयत्न करनेपर भी उसे वहाँसे लौटा नहीं सके। अतः मनको वहीं रखकर बेमनसे ही मथुरा मण्डलमें लौट आये॥१२१॥

श्रीमद्भा. १०/४४/१३ में मथुराकी रमणियोंने कहा—

पुण्या बत व्रजभुवो यदयं नृलिङ्ग-
गूढः पुराणपुरुषो वनचित्रमाल्यः।
गाः पालयन् सहबलः क्वणयंश्च वेणुं
विक्रीडयाञ्चति गिरित्ररमार्चिताङ्घ्रिः॥१२२॥

यह व्रजमण्डल सर्वोत्तम पुण्यभूमि है। भौमव्रजका माहात्म्य यह है कि यह भूमण्डलगत जड़भूमि नहीं है, जो यह जानते हैं, वे व्रजतत्त्वको समझ सकते हैं। चित्-जगत्के वैकुण्ठलोकका ऊपरी भाग गोलोक कहलाता है। इस गोलोकका सर्वोपरि प्रकोष्ठ व्रज है। श्रीकृष्णकी इच्छासे उनकी अचिन्त्यशक्तिने उसी व्रजको इस प्रपञ्च जगत्में प्रकट किया है। व्रजलीला नित्य तथा सर्वोत्तम है। अन्यान्य अवतारलीलाओंके समान प्रपञ्चमण्डलमें इसकी अवस्थिति

नहीं है। शिव और लक्ष्मी जिन श्रीकृष्णके चरणकमलोंका अर्चन पूजन करते हैं, वे श्रीकृष्ण स्वयं नराकार परब्रह्म हैं। सारे पुरुषावतारोंकी अपेक्षा पुरातन और परम गूढ़ तत्त्व हैं! अपनी विलासमूर्त्ति बलदेवके साथ विचित्र-वनमालासे सुशोभित होते हुए गोचारण इत्यादि नित्यलीलाएँ करते हैं तथा वेणुवादनपूर्वक नित्य व्रजधाममें गोपियोंके साथ क्रीड़ा करते हैं॥१२२॥

निम्नलिखित तीन श्लोक इस ग्रन्थको मालारूपमें गूँथनेवाले श्रील भक्तिविनोद ठाकुर द्वारा रचित हैं, जिसमें वे प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि—

श्रीमद्गौरगदाधरप्रेमोद्दीपनतत्परा ।
श्रीमद्भागवती माला भक्तिविनोद गुम्फिता॥१॥

नित्यमास्वादयन्नेतामानन्दोत्फुल्लचेतसा ।
भक्तेन लभ्यते सद्यः राधामाधवयोः कृपा॥२॥

उन श्रीगौर-गदाधरके प्रेम-उद्दीपनमें तत्पर, भक्तिविनोद द्वारा गुम्फित श्रीमद्भागवती माला उपस्थित हुई है। जो भक्त आनन्दोत्फुल्ल चित्तसे नित्य इसका आस्वादन करेंगे, वे शीघ्र ही श्रीराधा-माधवकी कृपा प्राप्त करेंगे। श्रीराधा-माधव अपने व्रजके साथ इस गौड़भूमि श्रीनवद्वीपधाममें श्रीगदाधर-गौराङ्गके रूपमें आविर्भूत होकर प्रकारान्तर रूपमें नित्यलीला करते हैं। यही सूचित हुआ॥१-२॥

दिनानि तव स्वल्पानि बहुविघ्नानि तान्यपि।
अतश्चेतः सयत्नेन रसं भागवतं पिब॥३॥

इति श्रीमद्भागवतार्कमरीचिमालायां प्रेमरसमधुरिमा-वर्णने विंश-किरणः समाप्तः॥

समाप्तश्चायं ग्रन्थः॥

भक्तोंकी चरण-रेणुके प्रयासी (प्रार्थी) अति दीन अकिञ्चन दास भक्तिविनोद अपने चित्तसे कह रहे हैं—अरे मन! तुम्हारी परमायु अधिक दिनों तक नहीं है। जितने भी दिन हैं, वह भी अनेक प्रकारके विघ्नोंसे परिपूर्ण हैं। अतएव भाई! विशेष यत्न आग्रहके साथ इस भागवतीय-रसका पान करते रहो॥३॥

विंश किरणकी 'मरीचिप्रभा' नामक गौड़ीय-व्याख्याका भावानुवाद समाप्त॥

इस ग्रन्थकी गौड़ीय-व्याख्याका भावानुवाद भी समाप्त॥

ग्रन्थ-प्रेरणा

सच्चिदानन्द श्रीलभक्तिविनोद ठाकुर द्वारा श्रीभागवतार्कमरीचिमाला गुम्फनके इतिहासका वर्णन

बलिब एखन याहा ताहे ऐई भय।
प्रतिष्ठाशा पाछे दुष्ट करे ए हृदय॥१॥

अब मैं अपने हृदयकी कुछ बातें कहना चाहता हूँ, पर डर भी रहा हूँ; क्योंकि इससे मेरा हृदय नाम और यशकी लालसासे कलुषित हो सकता है॥१॥

एकथा प्रकाश नाहि करिब बलिया।
दृढ़ता करिनु मने भाविया चिन्तिया॥२॥

पुनराय मने हैइल श्रीगुरुचरणे।
अकृतज्ञ हैले भक्ति साधिब केमने॥३॥

यद्यपि मैंने ऐसा विचार करके निश्चय किया था कि इस बातको किसीके सामने प्रकट नहीं करूँगा, परन्तु पुनः मेरे मनमें आया कि यदि मैं अपने पारमार्थिक गुरुके प्रति अकृतज्ञ हो गया, तो भक्तिमयी सेवामें किस प्रकार उन्नत हो पाऊँगा?॥२-३॥

लज्जा तेजि' लिखि एबे तदीय आज्ञाय।
अपराध यदि हय, क्षम महाशय॥४॥

इसलिए उनके ही आदेशसे निर्लज्ज होकर मैं यह सब कुछ लिख रहा हूँ। यदि फिर भी ऐसा करनेमें कोई अपराध हो, तो मैं उसके लिए सभी महानुभावोंसे क्षमा याचना करता हूँ॥४॥

विपिनबिहारी प्रभु मम प्रभुवर।
श्रीवंशीवदनानन्दवंश-शशधर ॥५॥

श्रीवंशीवदनानन्द ठाकुरके वंशमें चन्द्रमाके समान उदित होनेवाले श्रीविपिन विहारी गोस्वामी ही मेरे प्रभु हैं॥५॥

सेइ प्रभुपादेर अनुज्ञा शिरे धरि'।
भागवत श्लोकास्वाद निरन्तर करि॥६॥

उन्हींके आदेशको शिरोधार्य करके मैं अनवरत रूपसे श्रीमद्भागवतका आस्वादन करने लगा॥६॥

श्लोक विचारिते श्रीस्वरूपदामोदर।
अनुभवे आसि' आज्ञा दिल अतःपर॥७॥

महाप्रभु–आज्ञामत श्लोक साजाइया।
सम्बन्धाभिधेयक्रमे देह देखाइया॥८॥

एक दिन जब मैं श्रीमद्भागवतरूपी अमृतके आस्वादनमें संलग्न था, श्रीस्वरूप दामोदर मेरी अनुभूतिमें स्फूर्त हुए और मुझे निर्देश दिया कि महाप्रभुकी आज्ञासे श्रीमद्भागवतके श्लोकोंको सम्बन्ध, अभिधेय तथा प्रयोजन क्रमसे सजाओ॥७–८॥

ग्रन्थ नित्य पाठ्य हबे वैष्णव–सभाय।
भागवतपद्यमाला प्रभुर कृपाय॥९॥

श्रीमन् महाप्रभुकी कृपासे भागवतीय श्लोकोंके द्वारा बनी हुई यह माला (श्रीभागवतार्कमरीचिमाला) रूपी ग्रन्थ वैष्णवोंकी सभामें “नित्य पाठ्य” के रूपमें स्वीकृत होगा॥९॥

जन्माद्यस्य श्लोकेर तात्पर्य कहिला।
गौड़ीय–व्याख्यार क्रम तबे देखाइला॥१०॥

उसी समय श्रीस्वरूपदामोदर गोस्वामीने श्रीमद्भागवतके प्रथम श्लोक “जन्माद्यस्य यतः” के तात्पर्यकी व्याख्या सुनायी और साथ ही गौड़ीय सिद्धान्तके अनुरूप व्याख्याका क्रम भी दिखलाया॥१०॥

सेइ त' प्रेरणा—क्रमे ए अधम दास।
भक्तिविनोद ग्रन्थ करिल प्रकाश ॥११ ॥

उन्हींकी प्रेरणासे इस अधम दास भक्तिविनोदने इस ग्रन्थको प्रकाशित किया है॥११ ॥

वक्ता श्रोता महोदयगणेर चरणे।
पड़ि' कृपा मागे दास निष्कपट मने ॥१२ ॥

सभी वक्ताओं और श्रोताओंके श्रीचरणोंमें नतमस्तक होकर यह अकिञ्चन भक्तिविनोद निष्पकट रूपसे उनकी कृपाकी याचना करता है॥१२ ॥

श्रीश्रीकृष्णचैतन्यचरणार्पितमस्तु ॥

उद्धृत श्लोकोंकी वर्णानुक्रम-सूची

पूर्वार्द्ध (श्लोकका प्रथम चरण)

अ

आ

द

ध

न

य

र

श

ह

उत्तरार्द्ध (श्लोकका द्वितीय चरण)

एक दिन जब मैं श्रीमद्भागवतरूपी अमृतके आस्वादनमें संलग्न था, श्रीस्वरूप दामोदर मेरी अनुभूतिमें स्फूर्त हुए और मुझे निर्देश दिया कि महाप्रभुकी आज्ञासे श्रीमद्भागवतके श्लोकोंको सम्बन्ध, अभिधेय तथा प्रयोजन क्रमसे सजाओ। श्रीमन् महाप्रभुकी कृपासे भागवतीय श्लोकोंके द्वारा बनी हुई यह माला (श्रीभागवतार्कमरीचिमाला) रूपी ग्रन्थ वैष्णवोंकी सभामें 'नित्य पाठ्य' के रूपमें स्वीकृत होगा।

उसी समय श्रीस्वरूपदामोदर गोस्वामीने श्रीमद्भागवतके प्रथम श्लोक "जन्माद्यस्य यतः" के तात्पर्यकी व्याख्या सुनायी और साथ ही गौड़ीय सिद्धान्तके अनुरूप व्याख्याका क्रम भी दिखलाया। उन्हींकी प्रेरणासे इस अधम दास भक्तिविनोदने इस ग्रन्थको प्रकाशित किया है।

जो भक्त आनन्दोत्फुल्ल चित्तसे नित्य इसका आस्वादन करेंगे, वे शीघ्र ही श्रीराधा-माधवकी कृपा प्राप्त करेंगे।

श्रील भक्तिविनोद ठाकुर